285

माध्यमिक

नाट्यकला

राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्

285

माध्यमिक स्तर

नाट्यकला

विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्

राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

(शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार के अंतर्गत एक स्वायत्त संस्थान)

ए-24-25, संस्थागत क्षेत्र, सेक्टर- 62

नोएडा - 201 309 (उत्तर प्रदेश)

वेबसाइट : www.nios.ac.in निर्मूल्य दूरभाष- 18001809393

आईएसओ **9001: 2008** प्रमाणित

© राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान National Institute of Open Schooling

प्रथम संस्करण 2023 First Edition 2023 (Copies)

ISBN (Book 1)

ISBN (Book 2)

सचिव, राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान, ए-24-25, संस्थागत क्षेत्र, सेक्टर- 62 नोएडा - 201309
(उत्तर प्रदेश) द्वारा प्रकाशित। .... द्वारा मुद्रित।

सलाहकार समिति

प्रो. सरोज शर्मा
अध्यक्ष
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

डॉ. राजीव कुमार सिंह
निदेशक (शैक्षिक)
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

पाठ्यचर्या निर्माण समिति

प्रो. गिरीश्वर मिश्र (समिति अध्यक्ष)
पूर्व-कुलपति
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, वर्धा
महाराष्ट्र-442005

प्रो. राम नाथ झा
आचार्य, संस्कृत तथा प्राच्य विद्या संस्थान,
जे.एन.यू. नई दिल्ली

प्रो. बलराम शुक्ल
आचार्य, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

श्री अमिताभ श्रीवास्तव
नाट्यकला विशेषज्ञ, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली

डॉ. राम नारायण मीणा
सहायक निदेशक (शैक्षिक)
एवं समन्वयक- भारतीय ज्ञान परंपरा पाठ्यक्रम
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान, नोएडा, (उत्तर प्रदेश)

श्री अर्जुन देव चारण
उपाध्यक्ष, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली
एवं संस्थापक रम्मत थियेटर ग्रुप, जोधपुर (राजस्थान)

प्रो. रजनीश मिश्रा
आचार्य, संस्कृत तथा प्राच्य विद्या संस्थान,
जे.एन.यू. नई दिल्ली

प्रो. पवन कुमार शर्मा
आचार्य,
चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय,
मेरठ, उत्तर प्रदेश

डॉ. प्रवीण तिवारी
सह-आचार्य,
महात्मा ज्योतिबा फुले रोहिलखण्ड
विश्वविद्यालय, बरेली, उत्तर प्रदेश

श्री आसिफ अली हैदर खान
नाट्यकला विशेषज्ञ, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली

पाठ लेखक

प्रो. मीरा द्विवेदी
आचार्य, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

डॉ. दानिश इकबाल
सहायक आचार्य (थियेटर), एजेकेएमसीआरसी
जामिया मिलिया इस्लामिया केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली

डॉ. राम नारायण मीणा
सहायक निदेशक (शैक्षि)
एवं समन्वयक- भारतीय ज्ञान परंपरा पाठ्यक्रम
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान, नोएडा, (उत्तर प्रदेश)

डॉ. योगेश शर्मा
सह-आचार्य,
कलाकोश विभाग, इन्दिरा गांधी कलाकेन्द्र, नई दिल्ली

डॉ. मुकेश कुमार मिश्रा
सहायक आचार्य, देशबंधु कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

डॉ. त्रिलोक चंद अवस्थी
सहायक आचार्य, संस्कृत,
दर्शन तथा वैदिक विभाग
बनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

सुश्री आकृति ठाकुर
अनुसंधात्री, संस्कृत, दर्शन एवं वैदिक अध्ययन विभाग
वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

सम्पादक मण्डल

प्रो. राम नाथ झा
आचार्य, संस्कृत तथा प्राच्य विद्या संस्थान,
जे.एन.यू. नई दिल्ली

डॉ. राम नारायण मीणा
सहायक निदेशक (शैक्षिक)
एवं समन्वयक- भारतीय ज्ञान परंपरा पाठ्यक्रम
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान, नोएडा, (उत्तर प्रदेश)

प्रो. रजनीश मिश्रा
आचार्य, संस्कृत तथा प्राच्य विद्या संस्थान,
जे.एन.यू. नई दिल्ली

डॉ. राम चंद्र
सहायक आचार्य, श्यामा प्रसाद मुखर्जी कॉलेज ऑफ वीमेन
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ. राम नारायण मीणा
सहायक निदेशक (शैक्षिक)
एवं समन्वयक- भारतीय ज्ञान परंपरा पाठ्यक्रम
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान, नोएडा, (उत्तर प्रदेश)

ग्राफिक डिजाइनर एवं टीटीपी कार्य

मल्टी ग्राफिक्स
करोल बाग, नई दिल्ली

आप से दो बातें...

समन्वयक वचन

प्रिय जिज्ञासु,

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

परम्परा को आधार मानकर यह प्रार्थना है कि हमारा अध्ययन विघ्नों से रहित हो। अज्ञान का नाश करने वाला तेजस्वी हो। द्वेष भावना का नाश करने वाला हो। विद्या लाभ के द्वारा सभी कष्टों का निवारण करने वाला हो।
'भारतीय ज्ञान परम्परा' पाठ्यक्रम के अङ्गभूत नाट्यकला का यह पाठ्यक्रम माध्यमिक कक्षा के लिए निर्धारित किया गया है। इस पाठ्यक्रम की अध्ययन सामग्री आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मैं परम हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ।
विद्वानों का अभिप्राय और अनुभवों के आधार पर नाट्य का फल रस का आस्वादन है। आनंद रस स्वरूप ही है। सभी प्राणियों का सभी कार्य आनंद और सुखपूर्वक सम्पन्न हो, यही प्रबल इच्छा है।

इस नए पाठ्यक्रम का उद्देश्य आपके मन में देश और संस्कृति के प्रति गौरव की भावना का विकास करना, संस्कृति की रक्षा के लिए उचित प्रयत्न करने वाले श्रद्धावान शिक्षार्थियों को प्रेरित करना तथा प्राचीन भारतीय ज्ञान, संपदा, वैज्ञानिकता, सभी मनुष्यों के प्रति उपकारिकता की भावना का गर्व से जगत में प्रचार-प्रसार कर पाने में सक्षम बनाना, हमारे देश की नाट्य परंपरा को सामान्य जन मानस के लिए सर्व-सुलभ बनाना, भारतीय नाटककारों तथा उनकी कृतियों के प्रति सम्मान की भावना का विकास करना, नाट्य के विविध तत्त्वों (कथावस्तु, पात्र, रस, अभिनय, रंगमंच) से शिक्षार्थियों को परिचित कराना, नाट्य निर्माण से संबंधित यथा- नाट्य चयन, नाट्य निर्माण, नाट्य क्रियान्वयन हेतु मंच सज्जा, प्रकाश-ध्वनि-प्रभाव आदि से अवगत कराना है। यह पाठ्यक्रम शिक्षार्थी को एक उत्तम 'सहृदय' के रूप में परिवर्तित करने में भी सक्षम होगा।

शिक्षार्थी पाठों को अच्छी तरह से पढ़कर पाठ में आये प्रश्नों के उत्तरों पर स्वयं विचार कर अन्त में दिए हुए प्रश्नों के उत्तरों को देखें, और उन उत्तरों को अपने उत्तरों से मिलाएं। प्रत्येक पत्र में दिए हुए रिक्त स्थान पर टिप्पणी करनी चाहिए। पाठ के अन्त में दिये प्रश्नों के उत्तरों का निर्माण करके परीक्षा के लिए तैयार हो जाएँ।
शिक्षार्थी अध्ययन काल में किसी भी कठिनता का अनुभव करते हैं, तो अध्ययन केन्द्र में किसी भी समय जाकर के समस्या के समाधान के लिए आचार्य के समीप जाएँ या राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान के साथ ई-पत्र द्वारा सम्पर्क करें। वेबसाइट पर भी संपर्क व्यवस्था है। वेबसाइट www.nios.ac.in इस प्रकार से है।
यह पाठ्य विषय आपके ज्ञान को बढ़ाए, परीक्षा में सफलता को प्राप्त करवाए, आपकी विषय में रुचि बढ़ाए, आपका मनोरथ पूर्ण करे, ऐसी कामना करता हूँ।

अज्ञानान्धकारस्य नाशाय ज्ञानज्योतिषः दर्शनाय च इयं में हार्दिकी प्रार्थना
ॐ असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भवत्कल्याणकामी,
पाठ्यक्रम समन्वयक
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

अपने पाठ कैसे पढ़ें!

नाट्यकला विषय, माध्यमिक स्तर की इस पाठ्य सामग्री को विशेष रूप से आपकी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए निर्मित किया गया है। आप स्वतंत्र रूप से स्वयं पढ़ सकें इसलिए इसे एक प्रारूप में ढाला गया है। निम्नलिखित संकेत आपको सामग्री का सर्वोत्तम उपयोग करने का तरीका बताएंगे। दिए गए पाठों को कैसे पढ़ना है आइए, जानें।

पाठ का शीर्षक : इसे पढ़ते ही आप अनुमान लगा सकते हैं कि पाठ में क्या दिया जा रहा है। इसे पढ़िए।

भूमिका : यह भाग आपको पूर्व जानकारी से जोड़ेगा और दिए गए पाठ की सामग्री से परिचित कराएगा। इसे ध्यानपूर्वक पढ़िए।

उद्देश्य : प्रस्तुत पाठ को पढ़ने के बाद आप इस पाठ के उद्देश्यों को प्राप्त करने में समर्थ हो जाएंगे। इन्हें याद कर लीजिए।

पाठगत प्रश्न : इसमें एक शब्द अथवा एक वाक्य में पूछे गए प्रश्न हैं तथा वस्तुनिष्ठ प्रश्न हैं। ये प्रश्न पढ़ी हुई इकाई पर आधारित है इनका उत्तर आपको देते रहना है। इसी से आपकी प्रगति की जाँच होगी। ये सवाल हल करते समय आप हाथ में पेंसिल रखिए और जल्दी-जल्दी सवालों के समाधान ढूँढ़ते रहिए और अपने उत्तरों की जाँच पाठ के अंत में दी गई उत्तरमाला से मिलाइए। उत्तर ठीक न होने पर इकाई को पुनः पढ़िए।

आपने क्या सीखा : यह पूरे पाठ का संक्षिप्त रूप है- कहीं यह बिंदुओं के रूप में है, कहीं आरेख के रूप में तो कहीं प्रवाह चार्ट के रूप में। इन मुख्य बिंदुओं का स्मरण कीजिए। यदि आप कुछ अपने मतलब की मिलती-जुलती नई बातें जोड़ना चाहते हैं तो उन्हें भी वहीं बढ़ा सकते हैं।

पाठांत प्रश्न : पाठ के अंत में दिए गए लघु उत्तरीय तथा दीर्घ उत्तरीय प्रश्न हैं। इन्हें आप अलग पृष्ठों पर लिखकर अभ्यास कीजिए। यदि चाहें तो अध्ययन केन्द्र पर अपने शिक्षक या किसी उचित व्यक्ति को दिखा भी सकते हैं और उन पर नए विचार ले सकते हैं। इन्हीं में कुछ प्रायोगिक प्रश्न पूछे गए हैं। पाठ का अध्ययन कर आप उस प्रकार का प्रयोग कर सकते हैं।

उत्तरमाला : आपको पहले ही बताया जा चुका है इसमें पाठगत प्रश्नों और क्रियाकलापों के उत्तर दिए जाते हैं। अपने उत्तरों की जाँच इस सूची से कीजिए।

पाठ्यक्रम

नाट्यकला

मॉड्यूल-1 नाट्यकला का परिचय

1. भारत की नाट्य परंपरा : परिचय एवं इतिहास
2. नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय
3. नाट्यकला तथा अन्य कलाएँ

मॉड्यूल-2 नाट्य के प्रमुख अंग

4. कथावस्तु परिचय
5. पात्र-योजना
6. अभिनय परिचय

मॉड्यूल-3 रस विमर्श

7. रस की अवधारणा तथा रससूत्र विमर्श
8. सहृदय की अवधारणा

मॉड्यूल-4 भारतीय नाटकों का परिचय

9. प्रतिमानाटक
10. नागानंद
11. कुंदमाला
12. भारत दुर्दशा

मॉड्यूल-5 रंगमंच : तकनीक और अभिकल्पना

13. रंगमंच : परिचय तथा प्रकार
14. रंग संगीत

प्रायोगिक पक्ष

मॉड्यूल-6 अभिनय के प्रकार : प्रायोगिक पक्ष

1. आंगिक अभिनय : भेदोपभेद
2. वाचिक अभिनय
3. आहार्य अभिनय
4. सात्विक अभिनय

मॉड्यूल-7 नाट्य का प्रायोगिक पक्ष

5. रंगमंच तकनीक : एक परिचय
6. प्रबोधचंद्रोदय

पाठ्यक्रम

क्र. सं.	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
मॉडयूल-1 नाट्यकला का परिचय		
1.	भारत की नाट्य परम्परा : परिचय एवं इतिहास	01-28
2.	नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय	29-48
3.	नाट्यकला तथा अन्य कलाएँ	49-66
मॉडयूल-2 नाट्य के प्रमुख अंग		
4.	कथावस्तु परिचय	67-78
5.	पात्र-योजना	79-86
6.	अभिनय परिचय	87-96
मॉडयूल-3 रस विमर्श		
7.	रस की अवधारणा तथा रससूत्र विमर्श	97-118
8.	सहृदय की अवधारणा	119-134
मॉडयूल-4 भारतीय नाटकों का परिचय		
9.	प्रतिमानाटक	135-146
10.	नागानंद	147-156
11.	कुंदमाला	157-168
12.	भारत दुर्दशा	169-180
मॉडयूल-5 रंगमंच : तकनीक और अभिकल्पना		
13.	रंगमंच : परिचय तथा प्रकार	181-200
14.	रंग संगीत	201-214

- पाठ्यचर्या
- अंक योजना तथा आदर्श प्रश्नपत्र
- फीडबैक फॉर्म

टिप्पणी: पाठ्यक्रम को दो भागों में विभाजित किया गया है-

i अनुशिक्षक अंकित मूल्यांकन पत्र (टीएमए) के लिए पाठ

ii सार्वजनिक परीक्षा के प्रश्नपत्र हेतु पाठ

भाग (ii) के पाठों को पुन: दो भागों में इस प्रकार विभाजित किया गया है-

i वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के लिए पाठ

ii विषयनिष्ठ प्रश्नों के लिए पाठ

राट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संथान

विषय–नाट्यकला (285)

पाठ्यक्रम विभाजन–नाट्यकला (285) माध्यमिक स्तर		
कुल पाठ – 14		
मॉडयूल कुल अंक–60	शिक्षक अंकित मूल्यांकन पत्र (TMA)	सार्वजिनक परीक्षा (Public Examination)
	(कुल पाठ–5)	(कुल पाठ–9)
1. नाट्यकला का परिचय (अंक–12)	1. भारत की नाट्य परंपरा : परिचय एवं इतिहास	2. नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय 3. नाट्यकला तथा अन्य कलाएँ
2. नाट्य के प्रमुख अंग (अंक–12)	4. कथावस्तु परिचय	5. पात्र–योजना 6. अभिनय परिचय
3. रस–विमर्श (अंक–8)	–	7. रस की अवधारणा तथा रससूत्र विमर्श 8. सहृदय की अवधारणा
4. भारतीय नाटकों का परिचय (अंक–20)	9. प्रतिमानाटक 10. नागानंद	11. कुंदमाला 12. भारत दुर्दशा
5. रंगमंच : तकनीक और अभिकल्पना (अंक–8)	13. रंगमंच : परिचय तथा प्रकार	14. रंग संगीत

*इस पाठों से वस्तुनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ दोनों प्रकार के प्रश्न दिए जाएंगे

मॉडयूल	**सार्वजिनक परीक्षा (प्रायोगिक पक्ष)**	**कुल अंक–40**
6. अभिनय के प्रकार: प्रायोगिक पक्ष	1. आंगिक अभिनय : भेदोपभेद 2. वाचिक अभिनय 3. आहार्य अभिनय 4. सात्विक अभिनय	25
7. नाट्य का प्रायोगिक पक्ष	5. रंगमंच तकनीक : एक परिचय 6. प्रबोधचंद्रोदय	15

मॉडयूल-1

नाट्यकला का परिचय

इस मॉड्यूल में भारत की नाट्य परंपरा का परिचय तथा इतिहास के विषय में शिक्षार्थियों को अवगत कराते हुए नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय भी प्रस्तुत किया जाएगा। साथ ही नाट्य का अन्य कलाओं से किस प्रकार से संबंध है, इस विषय को भी रेखांकित किया गया है।

1. भारत की नाट्य परम्परा : परिचय एवं इतिहास
2. नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय
3. नाट्यकला तथा अन्य कलाएँ

टिप्पणी

1

भारत की नाट्य परंपरा : परिचय एवं इतिहास

आधुनिक युग में हम नाट्यकला के विभिन्न स्वरूपों को देखते हैं। जैसे- सिनेमा, थिएटर, नुक्कड़ नाटक, लोकनृत्य-अभिनय इत्यादि। विचारणीय विषय है कि क्या वर्तमानकालिक नाटक अथवा नाट्यकला सदैव इसी स्वरूप एवं अवस्था में उपलब्ध रही होगी? इसका उत्तर है- नहीं। भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता इसकी विश्व प्राचीनता एवं धारा प्रवाह विकासशीलता रही है। अर्थात् समस्त शास्त्र, साहित्य, कलाएँ, भाषाएँ, वस्त्राभूषणादि निरन्तर परिवर्तित एवं परिवर्धित होते रहे। सम्भवत: इसका लचीलापन एवं नवीनता को स्वीकार करने का सामर्थ्य ही इसके शाश्वत उन्नति का प्रमाणरूप है। यदि भारतीय नाट्यकला पर विचार किया जाए तो इसके स्वरूप को समझने हेतु नाट्यकला के उद्‌भव, क्रमिक विकास, नाटकीय तत्त्वों आदि का विस्तृत अध्ययन अनिवार्य होगा। अत: इस पाठ द्वारा वैदिक, उत्तरवैदिक, पौराणिक और महाकाव्य कालीन युगों में नाट्य की स्थिति को समझते हुए उसके विविध पक्षों पर प्रकाश डाला जाएगा। इसके अतिरिक्त संस्कृत वाङ्मय एवं प्राचीन भारतीय साहित्य के प्रमुख नाटकों एवं नाटककारों के विषय में भी विस्तृत अध्ययन सामग्री प्रस्तुत की जा रही है जिसके फलस्वरूप शिक्षार्थियों द्वारा भारतीय नाट्यविज्ञान के समस्त पक्षों पर विश्लेषण किया जा सके।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- भारतीय नाट्यकला का परिचय जानते हैं;
- नाट्यकला की उत्पत्ति सम्बन्धी जानकारी समझते हैं;
- नाट्यकला के विकास को जानते हैं;

टिप्पणी

- भारतीय नाट्यकला के विभिन्न स्वरूपों के विषय में जानते हुए उसके क्रमिक विकास को समझते हैं;
- भारतीय शास्त्र परम्परा के अन्तर्गत नाट्य के प्रमुख तत्त्वों को जानते हैं; और
- संस्कृत के प्रमुख नाटककारों एवं उनकी रचनाओं के विषय में जानते हैं।

1.1 नाट्यकला का परिचय

संस्कृत वाङ्मय जीवन के सभी पक्षों को समुचित रूप से प्रस्तुत करता है। मानव जीवन का लक्ष्य-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरूषार्थ - चतुष्टय की प्राप्ति को माना गया है। अत: इनके नियमन हेतु शास्त्रों का समुदय हुआ। इसी पुरूषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति को जनसामान्य के लिए सहज और सुलभ बनाने के लिए कलाओं का अभ्युदय हुआ। समस्त ललित क्रियाओं का समाविष्ट रूप नाट्य को कलाओं का चरमोत्कर्ष माना जाता है। नाट्यकला काव्य की सर्वोत्कृष्ट विधा है जो दृश्यकाव्य के अन्तर्गत आती है। वस्तुत: काव्य दो प्रकार का माना गया है-श्रव्य काव्य और दृश्यकाव्य। श्रव्य काव्य के अन्तर्गत शब्दों द्वारा पाठकों के हृदय में रस संचार किया जाता है किन्तु दृश्यकाव्य में श्रवण के साथ-साथ दर्शन की भी प्रधानता है। इसमें शब्दों के अतिरिक्त, पात्रों का अभिनय, वेश-भूषा, भाव-भंगिमाएँ तथा अन्य काव्यात्मक तत्त्वों की भी प्रधानता होती है। इसमें कोई संशय नहीं सुनने कि अथवा पढ़ने की अपेक्षा नेत्रों द्वारा ग्राह्य वस्तु अधिक रोचक एवं रसपूर्ण प्रतीत होती है। अत: नाट्यकला, जो दृश्यकाव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप है, अत्यन्त रूचिपूर्ण, मनोहारी तथा आकर्षक विधा के रूप में आदिकाल से प्रतिष्ठित है।

संस्कृत वाङ्मय के अन्तर्गत काव्य दो प्रकार का माना गया है जैसा उपरोक्त निरूपित है। दृश्यकाव्य के दो प्रमुख भेद हैं रूपक एवं उपरूपक। रूपक दस और उपरूपक अठारह प्रकार के होते हैं। रूपकों का सर्वप्रथम तथा प्रमुख भेद 'नाटक' है जो आधुनिक साहित्य में सम्पूर्ण दृश्यकाव्य या नाट्य का द्योतक है। यद्यपि संस्कृत साहित्य में इसकी सीमा निर्धारित है, किन्तु सामान्य रूप से सभी प्रकार के दृश्यकाव्य नाटक ही कहे जाते हैं। दृश्यकाव्य अथवा नाट्य के अन्य नाम भी प्रचलित हैं। अभिनेता या नट द्वारा पात्रों की अवस्थाओं का स्वयं पर आरोप कर लेने के कारण इसे 'रूपक' कहा जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में रूपक अथवा नाट्य के दस भेदों का नाममात्र बताया जा रहा है, जो हैं - नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक ईहमृग।

1.2 नाट्यकला का उद्भव (उत्पत्ति)

नाट्यकला की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इस विषय में किसी निश्चित प्रमाण का अभाव ही रहा है। भारतीय परम्परा में नाट्योत्पत्ति के इतिहास के सम्बन्ध में चारों वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों,

आरण्यक एवं उपनिषदों, प्राचीन शिलालेखों, साहित्यशास्त्रों, जातक कथाओं, लोक-परम्पराओं आदि में कपितय संकेत प्राप्त होते हैं। इसके फलस्वरूप कालान्तर में विद्वानों द्वारा अनेक सिद्धान्तों एवं मान्यताओं का प्रवर्तन हुआ जिनके द्वारा नाट्य के उद्भव की सम्भावना प्रस्तुत की गयी। ये संभावनाएँ अंतरंग एवं बाह्य स्रोतों पर आश्रित हैं जिनमें से कतिपय सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रस्तुत अध्याय में किया जा रहा है।

(i) आचार्य भरत द्वारा नाट्यशास्त्र में प्रस्तुत मत

नाट्यकला से सम्बन्धित सर्वप्रथम ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' ही है जिसके रचयिता भरतमुनि थे। इस ग्रन्थ को 100 ई.पू. से 300 ई. के मध्य माना जाता है। सम्भवत: नाट्यशास्त्र का उपजीव्य कोई प्राचीन सूत्रग्रन्थ रहा हो परन्तु वर्तमान काल में भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र ही नाट्यविज्ञान की आप्तकृति मानी जाती है। भरत के अनुसार वैवस्वत मन्वन्तर के त्रेतायुग में इन्द्र आदि देवताओं द्वारा ब्रह्मा जी के पास जाकर मनोरंजन का ऐसा साधन प्रदान करने की विनती की गई जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो तथा समाज के सभी वर्गों के द्वारा ग्राह्य हो। फलस्वरूप ब्रह्मा ने योग का आश्रय लेकर चारो वेदों से अंश लेकर पंचम वेद के रूप में 'नाट्यवेद' की रचना की। उनके द्वारा ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से संगीत तथा अथर्ववेद से रस ग्रहण किया गया। साथ ही शिव से ताण्डव और पार्वती से लास्य लेकर नृत्य-तत्त्व प्रदान किया गया। महेन्द्रध्वज के महान अवसर पर ब्रह्मा के आदेश पर आचार्य भरत के द्वारा 'सुरविजय' नाट्य का अभिनय किया गया। ब्रह्मा द्वारा रचित 'अमृतमंथन' तथा 'त्रिपुरदाह' नामक रूपकों का अभिनय सर्वप्रथम किया गया। इस प्रकार आचार्य भरत ब्रह्मा के आदेश पर पंचमवेद रूपी नाट्यशास्त्र को पृथिवीलोक पर लाए।

(ii) ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों से संस्कृत नाट्यों का उद्भव

नाट्य के उद्भव के विषय में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किए गये हैं। प्रो. मैक्समूलर, सिल्वाँ लेवी, फॉन श्रोएदर, हर्टल आदि पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार संस्कृत नाट्यों का उद्भव ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों से माना जा सकता हैं क्योंकि ऋग्वेद के संवाद-सूक्त ही नाटक के प्राचीनतम रूप के सदृश प्रतीत होते हैं। इन संवाद-सूक्तों में इन्द्र-मरूत्-संवाद (ऋग्वेद 1/165, 170), अगस्त्य - लोपामुद्रा - संवाद (ऋग्वेद 1/179), विश्वामित्र-मित्र-संवाद (ऋग्वेद 3/39), वसिष्ठ-सुदास-संवाद (ऋग्वेद 7/83), यम-यमी-संवाद (ऋग्वेद 10/10), इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद (ऋग्वेद 10/86), पुरुरवा-उर्वशी-संवाद (10/95) तथा सरमा-पणि-संवाद (10/108) इत्यादि में नाटकीय तत्त्व मिलते हैं।

टिप्पणी

(iii) यूनानी रूपकों से नाट्योत्पत्ति

पाश्चात्य विद्वान वेबर तथा विन्दिश के मतानुसार संस्कृत नाट्य की उत्पत्ति यूनानी (ळतममा) रूपकों से हुई है। इन विद्वानों ने अपने मत की पुष्टि के कतिपय आधार प्रस्तुत किये हैं, यथा – संस्कृत और ग्रीक नाट्यों में सादृश्यता, भारत में सिकन्दर के आक्रमण (326 ई.पू.) से पूर्व भारत और यूनान के सांस्कृतिक सम्बन्ध आदि। इसके अतिरिक्त प्रो. विन्दिश के अनुसार संस्कृत नाट्यों में अंक विभाजन, प्रस्तावना एवं उपसंहार, पात्रों के प्रवेश एवं प्रस्थान की विधि, विदूषक एवं प्रतिनायक (खलनायक) आदि पात्रों की विशेषता, 'यवनिका' जैसे शब्द-प्रयोग यूनानी रूपकों के भारतीय नाट्यकला पर स्पष्ट प्रभाव को परिलक्षित करते हैं। भारत के मध्यप्रदेश राज्य के सुरगुजा मण्डल में प्राप्त सीताबेंगा गुफा (200 ई.पू.) में जो पाषाण निर्मित नाट्यशाला प्राप्त हुई है, उसकी यूनानी रंगमंच से समानता को भी इस मत के समर्थक विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु जर्मनी के ही विद्वान पिशेल और डॉ. कीथ द्वारा इस मत का प्रबल खण्डन करते हुए संस्कृत नाटकों की यूनानी रूपकों से उत्पत्ति को अग्राह्य तथा अप्रासंगिक माना गया है।

(iv) पुतलिका नृत्य द्वारा भारतीय नाट्योत्पत्ति

पाश्चात्य विद्वान पिशेल द्वारा भारत की प्राचीन कठपुतलियों की नृत्य परम्परा को भारतीय नाट्य की उत्पत्ति का कारण रूप माना गया है। पिशेल ने संस्कृत नाटकों में 'सूत्रधार' एवं 'स्थापक' शब्दों के प्रयोग को पुत्तलिका नृत्य को आश्रित माना क्योंकि नाटक का प्रबन्धक सूत्रधार तथा प्रस्तावना करने वाला स्थापक कहलाता है। किन्तु पिशेल का यह मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि एक साधारण कठपुतलियों के नृत्य प्रस्तुति से रस-भाव-अभिनयात्मक नाटक के उद्भव की कल्पना भी असम्भव प्रतीत होती है।

(v) मृतात्म - श्राद्ध अथवा वीर पूजा से नाट्योत्पत्ति

पाश्चात्य विद्वान रिजवे के मतानुसार जिस प्रकार यूनान में मृत पूर्वजों के प्रति सम्मान प्रस्तुत करने हेतु यूनानी दु:खान्त रूपकों का उद्भव हुआ, उसी प्रकार भारत में भी वीर पूर्वजों के प्रति श्रद्धा प्रकट करने हेतु भारतीय नाटक का उद्भव एवं अभिनय किया गया होगा। उनके द्वारा रामकथा तथा कृष्णलीला आदि दृष्टान्त स्वमत-पुष्टि हेतु प्रतिपादित किये गए किन्तु श्रीराम तथा श्रीकृष्ण की कथाएँ वीर पूर्वजों के प्रति श्रद्धा से अधिक उपदेशात्मक रसाभिव्यक्ति तथा मनोरंजन प्रदान करती हैं। इसके अतिरिक्त दु:खान्त यूनानी रूपकों तथा संस्कृत सुखान्त एवं रसात्मक रूपकों की तुलना में असंगत ही प्रतीत होती है।

(vi) छाया नाटकों से भारतीय नाट्यकला की उत्पत्ति

जर्मन विद्वान लूडर्स एवं कोनो भारतीय नाट्य का मूल छाया नाटकों को मानते हैं। किन्तु यह मत भी प्रामाणिक नहीं है क्योंकि छायाचित्रों के माध्यम से प्रदर्शित छाया नाटकों की प्राचीनता एवं संख्या भारत में नाममात्र देखी जाती है। सन् 1243 ईस्वी में प्राप्त 'दूतांगद' संस्कृत भाषा में उपलब्ध होने वाला पहला छायारूपक है।

(vi) उत्सव सिद्धान्त (मेपोल नृत्य) से नाट्योद्भव

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने यूरोप में होने वाले में पोल नृत्य को संस्कृत नाट्यों को प्रथम रूप माना है। इस नृत्य में एक स्थान पर खम्भा गाड़कर लोग नृत्य, अभिनय आदि के द्वारा उल्लासपूर्वक उत्सव मनाते हैं। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा इन्द्रध्वज पर्व को इसी मेपोल नृत्य के समकक्ष मानते हुए संस्कृत नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मत प्रतिपादित किया गया है किन्तु यह भी असंगत एवं अस्वीकार्य अवधारणा है क्योंकि एक सामान्य नृत्य से नाट्य जैसे काव्य की उत्पत्ति तर्कसंगत नहीं लगती। इसके अतिरिक्त इन्द्रध्वज पर्व वर्षा ऋतु की समाप्ति पर मनाया जाता है जो मेपोल नृत्य से सर्वथा भिन्न है।

निष्कर्ष: उपर्युक्त विवेचन के आधार पर संस्कृत नाट्यों की उत्पत्ति एक विशेष तत्त्व से मानना युक्तिसंगत नहीं लगता। इसके प्रारम्भिक तत्त्व वैदिक साहित्य से प्राप्त होते हैं तथा कालान्त में इसका विधिपूर्वक विकास होने के पश्चात् इसका वर्तमानकालिका विस्तृत स्वरूप प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि द्वारा नाट्य के सभी उपादानों पर प्रकाश डालते हुए सर्वांगपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की गई है जो भारतीय रूपकों के वैदिक युग में उत्पत्ति के मत का समर्थन करती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल में भारतीय नाट्य के प्रथम चरण का शुभारम्भ हुआ। नाट्य के विभिन्न तत्त्व यथा ऋग्वेद के संवाद, यजुर्वेद के कर्मकाण्ड आदि का अभिनय, साम से गीत तथा अथर्ववेद से प्राणरूप रस का संग्रह करके भारतीय नाट्य अपने आदि रूप में पल्लवित हुआ।

पाठगत प्रश्न 1.1

1. संस्कृत-वाङ्मय में काव्य कितने प्रकार के माने जाते हैं?

2. नाट्य काव्य का कौन-सा भेद हैं?

3. नाट्य का अन्य नाम क्या हैं?

4. नाट्यकला का सर्वप्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ कौन-सा है?

टिप्पणी

5. नाट्यशास्त्र का रचनाकाल क्या माना गया है?

6. भरतमुनि के मतानुसार चारों वेदों से कौन से नाट्य तत्त्व ग्रहण किये गए?

7. नाट्यशास्त्र के अनुसार किन रूपकों की रचना ब्रह्मा द्वारा की गयी?

8. पाश्चात्य विद्वान पिशेल के अनुसार नाटक का प्रबंधक क्या कहलाता है?

9. वेबर और विन्दिश के मतानुसार भारतीय नाट्यों की उत्पत्ति का आधार क्या हैं?

10. पाश्चात्य विद्वान रिजवे भारतीय नाट्योत्पत्ति के विषय में क्या मत प्रस्तुत करते हैं?

11. छाया नाटकों से भारतीय नाट्यकला की उत्पत्ति का सिद्धान्त किसके द्वारा दिया गया?

12. पाश्चात्य विद्वानों द्वारा यूरोपीय मेपोल नृत्य-उत्सव की तुलना किस भारतीय पर्व से की हैं?

1.3 नाट्यकला का विभिन्न स्वरूपों में विकास

साहित्य के सभी प्रकारों में नाट्य को सर्वश्रेष्ठ बताकर इसे कवित्व की अन्तिम सीमा कहा जाता है - नाटकान्तं कवित्वम्। भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र जो नाट्यपरम्परा का प्रथम उपलब्ध एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है नाट्यकला का सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत करता है। नाट्यशास्त्र में नाट्य को रूपक भी कहा गया है जिसका अनुवर्तन परवर्ती आचार्यों द्वारा अपनी रचनाओं में किया गया। इस प्रसंग में आचार्य धनंजय द्वारा अपने दशरूपक में नाट्य, रूप और रूपक का निरूपण किया गया है, जो वस्तुत: एकार्थक हैं। एक ओर जहाँ पात्रों की विविध अवस्थाओं का नट द्वारा अभिनय के माध्य से अनुकरण 'नाट्य' कहा जाता है, वहीं दूसरी ओर अभिनेता पर पात्रों की अवस्थाओं का आरोप होने पर उसे शास्त्रीय परिभाषा में 'रूपक' कहते हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार रूपकों के विविध रूपों में नाट्यकला का विकास देखा जाता है। नाट्यशास्त्र में दस प्रकार के रूपकों का विधान किया गया है जिसका सामान्य परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा हैं-

1. **नाटक** - यह सभी रूपकों में सर्वप्रमुख होने के कारण रूपकमात्र का अभिप्राय बन गया। नाटक ही वह रूपक-भेद है जिसमें कथावस्तु, नेता (नायक), रस के सभी लक्षण प्राप्त होते हैं। यह पाँच से दस अंगों में निबद्ध होता है। इसकी कथावस्तु प्रसिद्ध अर्थात् ऐतिहासिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट होती है। इसका नायक विख्यात वंशोत्पन्न राजा अथवा राजर्षि होता है। इसके अतिरिक्त वीर श्रृंगार आदि रसों से युक्त नाटक को काव्यमात्र में श्रेष्ठ कहा गया है - 'काव्येषु नाटकं रम्यम्'।

2. **प्रकरण** - रूपक का दूसरा भेद प्रकरण कविकल्पित कथानक, ब्राह्मण, मन्त्री-वणिक् आदि रूप में नायक, कुलीन या वेश्या रूपी नायिका तथा श्रृंगार रस-प्रधान आदि विशेषताओं से युक्त होता है। इसमे कुल दस अंक होते हैं।

3. **भाण** - यह एक अंक तथा एक ही पात्र का रूपक होता है। इसका पात्र मुख्यत: अत्यन्त चतुर विट रहता है जो आकाश भाषित के रूप में उक्ति-प्रत्युक्ति द्वारा धूर्त के चारित्र का वर्णन करता है।

4. **प्रहसन**- यह हास्य रस प्रधान कवि कल्पित रूपक भेद है जिसमें एक या दो अंक होते हैं। इसमें पाखण्डी, धूर्त एवं सेवक-सेविकाओं का चरित्र-चित्रण होता है।

5. **डिम**- प्रसिद्ध कथानक से युक्त इस रूपक भेद में हास्य और श्रृंगार रस का अभाव होता है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उल्लिखित 'त्रिपुरादाह' डिम का प्राचीनतम दृष्टान्त माना जाता है।

6. **व्यायोग**- इस रूपक-भेद का कथानक इतिहास प्रसिद्ध होता है जो किसी प्रसिद्ध उद्धत व्यक्ति यथा भीम, दुर्योधन आदि पर आधारित होता है। इसमें भी हास्य और श्रृंगार का प्रयोग नहीं होता तथा एक अंक में कथा वर्णित होती है। यहाँ स्त्री पात्रों का अभाव होताहै।

7. **समवकार** - इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक या पौराणिक होती है जिसमें देवों और दैत्यों की कथा वर्णित होती है। इसमें वीर रस की प्रधानता होती है।

8. **वीथी** - यह श्रृंगार रस युक्त एकांकी रूपक भेद हैं जिसके लक्षण भाण के सदृश होते हैं।

9. **अंक** - यह रूपक भेद इतिहास-प्रसिद्ध कथावस्तु, साधारण नायक, करूण रस तथा एक से तीन अंकों से युक्त होता है।

10. **ईहामृग** - इसका कथानक प्रख्यात तथा कविकल्पित दोनों का मिश्रित रूप होता है। इसमें चार अंक होते हैं जिसमें मनुष्य का देवता रूपी नायक एवं प्रतिनायक का वर्णन होता है। यहाँ प्रतिनायक की स्थिति में श्रृंगाराभास का भी चित्रण किया जाता है।

इन भेदों में नाटक तथा प्रकरण ही मुख्य माने जाते हैं। पहले लघु एवं एकांकी नाटक अभिनीत किये जाते थे। बाद में दस रूपों में उनका विकास हुआ।

इनके अतिरिक्त उपरूपकों के रूप में भी नाट्यकला का विकास हुआ। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में उपरूपकों का प्रतिपादन नहीं किया किन्तु एक स्थल पर रूपक के प्रकार 'नाटी' का उल्लेख है जो परवर्ती काल में 'नाटिका' के रूप में प्रसिद्ध हुई। आचार्य विश्वनाथ द्वारा कुल

टिप्पणी

अट्ठारह उपरूपकों का उल्लेख किया गया है – 1. नाटिका, 2. त्रोटक, 3. गोष्ठी, 4. सट्टक, 5. नाट्यरासक, 6. प्रस्थानक, 7. उल्लास्य, 8. काव्य, 9. प्रेंखण, 10. रासक, 11. संलापक, 12. श्रीगदित, 13. शिल्पक, 14. विलासिका, 15. दुर्मल्लिका, 16. प्रकरणिका, 17. हल्लीश, 18. भाणिका।

इस प्रकार नाट्य का विकास नृत्त, नृत्य एवं संवाद आदि के संयोग से हुआ। यह विकासक्रम प्रागैतिहासिक काल से प्रारम्भ होकर भरतमुनि के काल तक समुन्नत रूप को प्राप्त करता है। सिन्धुघाटी सभ्यता के प्रागैतिहासिक अवशेषों में नृत्य एवं ललित अभिनय की मुद्रा में प्रतिमाएँ प्राप्त होती है जो तत्कालिक युग में नृत्य एवं अभिनय के स्वरूप का संकेत करती प्रतीत होती हैं। सम्भवत: भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के रचनाकाल तक नृत्य, संगीत एवं नाट्यकला का विकास एक व्यवस्थित रूप में हो चुका था। नाट्यशास्त्र में निरूपित दस रूपकों का मंचन समाज में प्रचलित रहा होगा जिसका विकास कालान्तर में विस्तृत स्वरूप को प्राप्त कर आचार्य विश्वनाथ के काल तक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आचार्य विश्वनाथ द्वारा साहित्यदर्पण में नाट्यकला को दस रूपकों एवं अट्ठारह उपरूपकों के रूप में विशद प्रतिपादित करना नाट्य के विभिन्न स्वरूपों के विकास का परिचायक है। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि पहले नाट्यकला नृत्य के रूप में देखी गयी, तदनन्तर भाव प्रदर्शन, संवाद, रसात्मक क्रिया आदि के समावेश से अपने विस्तृत एवं उत्कृष्ट अवस्था तक पहुँची। इस प्रकार नाट्य रूपक एवं उपरूपक तथा नृत्यरूपक के रूप में रंगमंच पर प्रदर्शित होता रहा होगा।

1.4 नाट्यकला का क्रमिक विकास

नाट्यकला के विकास को समझने हेतु मानव सभ्यता के इतिहास को जानना अनिवार्य है। अन्त: एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि नाट्यकला का विकास मानव सभ्यता के आरम्भ में ही हुआ था। मानव जीवन के विकास क्रम के अनुसार ही नाट्यकला अपनी क्रमिक विकास यात्रा की ओर प्रस्थान करती रही होगी। नाट्यकला के क्रमिक विकास को निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा समझा जा सकता है –

1. **प्रागैतिहासिक काल:** भारत के प्राचीनतम शास्त्र परम्परा के अन्तर्गत नाट्यकला सम्बन्धी प्रमाण सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इसके अतिरिक्त भी बाह्य साक्ष्य उपलब्ध हैं जो भारत में नाट्यकला के उद्‌भव एवं स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। विश्व की सर्वाधिक प्राचीन सभ्यता अर्थात् सिन्धु घाटी सभ्यता के केन्द्र स्थल हड़प्पा एवं मोहनजोदरो के उत्खनन में प्राप्त अवशेषों द्वारा तत्कालिक सभ्यता में नाट्य एवं नृत्यकला का स्वरूप उद्‌घाटित होता है। इन उत्खनन क्षेत्रों में प्राप्त मूर्तियों से उस समय की अभिनययुक्त नाट्यकला एवं नृत्यकला आदि के विकास का ज्ञान होता है। ये प्रमाण उस समय के नर्तक-नर्तकियों के परिधान, वेश-भूषा, शारीरिक भाव-भंगिमाएँ, भावों की अभिव्यक्ति आदि को प्रतिपादित करते हुए तत्कालीन अभिनयकला की समृद्धि का परिचय देते हैं। इसके अतिरिक्त भीमबेटका मध्यप्रदेश की गुफाओं, अजन्ता की गुफाओं

टिप्पणी

में, अमरावती आदि स्थलों पर नृत्य-संगीत सम्बन्धी यक्ष-यक्षिणी, किन्नर, गन्धर्व, अप्सराओं, मनुष्यों आदि के चित्र एवं आदिम नृत्य के विविध रूपों का चित्रण दृष्टव्य है।

2. **वैदिक कालः** वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत ऐसे कतिपय शास्त्रीय प्रमाण हैं जो वैदिक काल में नाट्यकला के विकसित स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। वैदिक युग का महत्वपूर्ण अनुष्ठान यज्ञ था। यज्ञ के विधि-विधानों में नाटकीय तत्वों का संकेत प्राप्त होता है। ब्रह्मचारी-पुंश्चली संवाद, महाव्रत अनुष्ठान इत्यादि कर्मकाण्ड सम्बन्धी रूपक के ही प्रतिरूप माने जाते हैं। ऋग्वेद में 'समन' नामक सामाजिक उत्सव का वर्णन है जिसमें अनेक कलाकार, गणिकाएँ, कवि, धनुर्धर, नर, नारी इत्यादि अपनी कला-प्रस्तुति हेतु उपस्थित होते थे। यह 'समन' महाभारत कालीन 'समंजा' उत्सव का प्रारम्भिक रूप है। इस प्रकार यजुर्वेद में एक रंगशाला का वर्णन मिलता है जिसे 'सभा' कहते हैं। उसमें नृत्य के लिए सूत को गीत के लिए शैलूष को, हँसाने के लिए विदूषक को, प्रसाध न हेतु कलाकारों को वीणावादक, वंशीवादक, तालधारी आदि की नियुक्ति का विवेचन किया गया है। इससे यजुर्वेदकालीन युग में नाट्यकला के समस्त पक्षों का विकास का प्रमाण प्राप्त होता है।

अथर्ववेद में भी गन्धर्व, गायक, नर्तक आदि सहित विविध वाद-यन्त्रों का भी प्रतिपादन किया गया है। ऐतरेय आरण्यक में सोमयाग में छः स्त्रियों द्वारा सामूहिक नृत्य का विवरण उपलब्ध है। ये सभी दृष्टान्त नाट्यकला की अत्यन्त समुन्नत अवस्था की ओर संकेत करते हैं। वैदिककालीन समाज में नट, नर्तक, गायक, वादक, विदूषक आदि कलाकारों की महत्वपूर्ण भूमिका रही जिससे सभी वर्ग के लोगों द्वारा स्वीकार किया गया।

3. **ऐतिहासिक - पौराणिक काल**

(क) रामायणकालीन युग - वैदिक काल के अनन्तर ऐतिहासिक दृष्टि से रामायणकालीन समाज में नाट्यकला का विशिष्ट प्रभाव एवं उसका विकसित रूप द्रष्टव्य हैं। इस काल के आते-आते समाज में वैदिक कर्मकाण्ड के अतिरिक्त उत्सवों, यात्राओं तथा सामान्य सामाजिक सभाओं में नाट्य का प्रयोग होने लगा। रामायण में शैलूष, नट, नर्तक, गायक, सूत, मागध आदि शब्दों का कतिपय स्थलों का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त 'व्यामिश्र' शब्द रामायणकालीन समाज में मिश्रित भाषाओं में होने वाले नाट्य-प्रयोग का प्रतिपादन करते हैं।

(ख) महाभारतकालीन युग - रामायण की ही भाँति महाभारत में नाटक एवं उसके विविध स्वरूपों का उल्लेख किया गया है जिससे यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में नाट्यमंचन की परम्परा अत्यन्त प्रचलित थी। ऋग्वेद में

टिप्पणी

प्रयुक्त 'समन' उत्सव महाभारतकालीन समय में समज्जा (समाज) के नाम से परिवर्धित हुआ जिसमें शुभ अवसरों पर नाट्य, नृत्य, गीत आदि का आयोजन किया जाता था।

मन्दिरों में कई दिनों तक चलने वाले नाट्य महोत्सव प्रचलित थे। महाभारत के आदिपर्व अनुसार वारणावत में पशुपति समाज का आयोजन हुआ जिसमें नाट्य-मण्डलियों द्वारा नाट्य, नृत्य, संगीत आदि का प्रदर्शन किया गया।

(ग) **वात्स्यायन** ने अपने रचना कामसूत्र में भी समाज के आयोजन का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार प्रत्येक मास या पक्ष में किसी विशेष दिन पर मन्दिर में समाज का आयोजन किया जाता था। जिसमें नट, नर्तक आदि विभिन्न कलाकार अपने कला का प्रदर्शन करते थे। इसमें कुशीलव द्वारा नाट्य के कार्यक्रम की प्रस्तुति का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि उस समय 'समाज' होते थे तथा नाट्यकला अत्यन्त प्रचलित थी।

कालान्तर में नाट्यकला की ओर अग्रसर होता रहा जिसके फलस्वरूप सूत 'सूत्रधार' तथा कुशीलव 'पारिपार्श्विक' में परिणत हो गए।

(घ) **पाणिनीकालीन युग** - महर्षि पाणिनी द्वारा अष्टाध्यायी में 'शिलालिन' और 'कृशाश्व' द्वारा रचित नटसूत्रों का उल्लेख किया गया है। शिलालि द्वारा प्रोक्त नटसूत्र के अध्येता 'शैलालिन-' तथा कृशाश्व की परम्परा के शिक्षार्थी 'कृशाश्विन्' नाम से प्रचलित थे। सम्भवत: पाणिनि ने काल में इन दो सम्प्रदाय के नटों की दो परम्पराएँ थीं जिनमें नटों को नाट्यकला में दीक्षा दी जाती रही होगी। इसके द्वारा नाट्य के विकसित परम्पराओं और विविध नाट्य-सूत्रों की रचना की सम्भावना की जा सकती है।

(ङ) **पतञ्जलिकालीन युग** - महाभाष्य में पतंजलि द्वारा शौभिक और ग्रन्थिक का उल्लेख किया गया। उनके अनुसार शौभिक नट के शिक्षक तथा ग्रन्थिक कथक के रूप में कार्य करता है। ग्रन्थिक ग्रन्थपटल के द्वारा कथानायक के जन्म से मृत्युपर्यन्त श्रोतागण को उनकी वास्तविक स्थिति का बोध कराता था। वह कथा पाठ के साथ गायन तथा अभिनय करके ही कथानक का वर्णन भी करता था। इस प्रकार शौभिक चित्रपट पर चित्रित घटनाओं को दिखाकर उसके इतिहास का वर्णन करता तथा और ग्रन्थिक किसी ग्रन्थ से कथा-पाठ करता था तथा उसके सहायक उन दृश्यों का प्रदर्शन करते थे। इनके उदाहरण हमें भास और विशाखदत्त जैसे नाटककारों की रचनाओं में प्राप्त होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि पातंजल कालीन समाज में नाट्यकला अपनी विकसित अवस्था को प्राप्त कर चुकी थी।

इस प्रकार इतिहास-पुराण का काल नाट्यकला के विकास की दृष्टि में अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। महाभारत के परिशिष्ट हरिवंशपुराण में 'रामायण' तथा 'कौबेररम्भाभिसार' नामक नाटकों के अभिनय का उल्लेख प्राप्त होता है। हरिवंशपुराण में ही 'मुग्धभिनय' नामक एक प्रहसन के अभिनय का भी वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त भागवतपुराण में वर्णित रासलीला नाट्यकला की दृष्टि से सर्वोत्तम है। रासपंचाध्यायी पर आश्रित यह रासलीला नाट्यकला के प्राचीन रूप का प्रतिपादन करती है। निष्कर्षतः इतिहास-पुराणकाल में नट, नर्तक आदि को शिक्षित किया जाने लगा था तथा फलस्वरूप अग्निपुराण तथा विष्णुध र्मोत्तरपुराण में नाट्यकला का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया।

4. **बौद्ध युग:** बौद्धयुगीन समाज में नाट्यकला अपने चरमोत्कर्ष के समीप पहुँच चुकी थी। इस समय रंगमंच पर नाट्य, नृत्य, अभिनय, गीत, वाद्य, युद्ध आदि का मंचन किया जाता था।

बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर में राजकुल के कुमारों द्वारा नाट्यकला के सभी पक्षों की शिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है। उस काल में नाट्यमण्डलियाँ होती थी जिसमें नट, नर्तकों के साथ विदूषक एवं स्त्रियाँ भी मंच पर नाट्य किया करती थी। बौद्ध के अतिरिक्त 'राजप्रश्नीय' नामक जैन ग्रन्थ में भी बत्तीस प्रकार के नाट्यों का वर्णन है।

भरतमुनि ने नाट्य को ऐसी कला के रूप में प्रतिपादित किया जिसमें नृत्य, गीत, वाद्यों के साथ अन्य कलाओं का भी समावेश था। नाट्यशास्त्र के प्रणयन काल में नाट्यकला अपने पूर्ण विकसित रूप को प्राप्त कर चुकी थी। भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्य के सभी स्थूल एवं सूक्ष्म पक्षों का उल्लेख किया गया जिसके आधार पर परवर्ती आचार्यो द्वारा नाट्य सम्बन्धी शास्त्रीय ग्रन्थों एवं रूपकों की रचना की गयी। इस प्रकार नाट्यकला आदिकाल से क्रमशः अपने विकासपथ पर अग्रसर होती रही।

पाठगत प्रश्न 1.2

1 संस्कृत नाट्यों का उद्देश्य क्या माना गया हैं?

2 वाजनेयी संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लिखित 'शैलूष' शब्द का क्या अर्थ हैं?

3 पतंजलि के महाभाष्य में किन दो नाटकों के अभिनय का वर्णन हैं?

4 मध्यप्रदेश के किस गुफा में नाट्यशाला का चित्रण प्राप्त होता हैं?

5 नाट्यशास्त्र में कितने प्रकार के रूपक माने गए हैं?

टिप्पणी

6 रूपकों में सर्वश्रेष्ठ भेद कौन-सा है?

7 दस रूपकों के नाम बताइए?

8 उपरूपकों की संख्या कितनी मानी जाती हैं?

9 नाट्यकला के प्राचीनतम अवशेष क्या हैं और ये कहाँ प्राप्त हुए हैं?

10 ऋग्वेद में प्रयुक्त 'समन' उत्सव का परिवर्धित रूप कहाँ प्राप्त होता है?

11 समाज के प्रेक्षण का निषेध किन बौद्ध साक्ष्यों में प्राप्त होता हैं?

12 पाणिनि के अष्टाध्यायी में किनके द्वारा द्वारा रचित नटसूत्रों का वर्णन है?

13 हरिवंशपुराण में उल्लिखित प्रहसन का नाम बताइए।

14 ललितविस्तार में राजकुमारों के लिए क्या निर्दिष्ट हैं?

15 बौद्धयुगीन समाज में नाट्यमण्डली में कौन-कौन अभिनय कर सकते थे?

1.5 प्राचीन ग्रन्थों में नाट्य के प्रमुख तत्व

भारत में नाट्यकला के उद्‌भव एवं विकास के विषय में पाठ के पूर्वी भाग में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करते हुए चारों वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यक एवं औपनिषदिक साहित्य, सूत्र-साहित्य, जातक कथाओं, प्राचीन शिलालेखों, विश्व का पौराणिक परम्पराओं, रंगमण्डपों आदि पर दृष्टिपात कर विचार करना अनिवार्य है।

जैसा कि पूर्व में वर्णित हैं कि भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र, जो नाट्यकला का सर्वप्रथम एवं वर्तमानकाल में उपलब्ध ग्रन्थ माना गया है, के अन्तर्गत नाट्योत्पत्ति के इतिहास का प्राचीनतम प्रामाणिक विवरण प्राप्त होता है। भरत के मतानुसार ब्रह्मा द्वारा चार वेदों से नाटकीय तत्त्वों को ग्रहण कर पंचमवेद 'नाट्यवेद' की सृष्टि की गयी। ब्रह्मा द्वारा यह नाट्य भरत को सौंपकर नाट्यवेद के प्रयोग का आदेश दिया गया जिसके फलस्वरूप नाट्य की मातृरूपा भारती, आरभटी एवं सात्वती आदि वृत्तियों के प्रयोग से नाट्य का प्रणयन किया गया। स्त्री-प्रधान कैशिकी वृत्ति के प्रयोग हेतु ब्रह्मा द्वारा पुन: अप्सराओं का सृजन किया गया जो नाट्यालंकार में निपुण थी। इस प्रक्रिया में शिव से ताण्डव, पार्वती से लास्य नृत्यों तथा नारदादि द्वारा गायन-वादन के सहयोगपूर्वक नाट्यकला का उद्‌भव एवं उसका अनुप्रयोगात्मक निर्देश प्राप्त हुआ। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के प्रस्तुत विवरण में नाट्य के प्रमुख तत्वों का ज्ञान होता है जो कि निम्नलिखित हैं -

(i) ऋग्वेद में संवाद-सूक्त रूपी नाट्य-तत्त्व: नाट्य में संवाद या पाठ्य की महत्वपूर्ण भूमिका है। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में लगभग पन्द्रह ऐसे सूक्त हैं जिसमें नाट्यशैली का संवाद उपलब्ध है। इस दृष्टि में इन्द्र-मरूत संवाद, यम-यमी संवाद, पुरुरवा-उर्वशी संवाद, अगस्त्य-लोपामुद्रा संवाद, विश्वामित्र-नदी संवाद, इन्द्र-अदिति-वामदेव संवाद, इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि संवाद, वसिष्ठ-सुदास संवाद, सरमा-पणि संवाद इत्यादि प्रमुख हैं। इन संवाद-सूक्तों का सम्बन्ध वैदिक कर्मकाण्ड से न होने के कारण यह कल्पना की जाती है कि यज्ञ-अनुष्ठानों के मध्य मनोरंजनार्थ इनका अभिनय किया जाता होगा। ये संवाद-सूक्तं अभिनय और रूपकों के प्रथम अवशेष के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

(ii) यजुर्वेद में अभिनय रूपी नाट्य-तत्त्व: यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में नाट्य के पात्र, नेपथ्य की विविध सामग्रियों तथा वाद्ययन्त्रों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्य के अभिनय तत्त्व को यजुर्वेद से ही ग्रहण किया गया है। नाट्यशास्त्र में अभिनय चतुर्विध माना गया है –

क) आंगिक अभिनय –

ख) वाचिक अभिनय –

ग) सात्त्विक अभिनय –

घ) आहार्य अभिनय –

यजुर्वेद और नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तरपुराण, धनंजय कृत दशरूपक आदि ग्रन्थों में नाट्य के अभिनय तत्त्व का निरूपण किया गया है।

(iii) सामवेद से गान रूपी नाट्य तत्त्व: नाट्योत्पत्ति में ब्रह्मा द्वारा संवाद (पाठ्य) तथा अभिनय के अतिरिक्त गायन (गान) तत्त्व को सामवेद से ग्रहीत किया जाना नाट्य के गीत-वाद्य-नृत्य आदि की महत्ता को उद्घाटित करता है। नाट्य प्रयोग में नृत्यकला तथा गीत एवं वाद्य का प्रयोग एवं उसका समुचित ज्ञान अत्यावश्यक है। नाट्य-प्रयोग में किसी प्रकार से उत्पन्न हुई नीरसता के निराकरण के लिए गीत-वाद्य आदि की योजना आवश्यक है, अत: भरतमुनि द्वारा गायन को नाट्य का प्राण तत्त्व तथा वादन एवं नृत्य को उसका अनुगामी बताया गया। भारतीय नाट्य परम्परा में गीत-वाद्य आदि का सर्वत्र दृष्टान्त प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य में गायन-वादन के अनेक प्रसंग भरे पड़े हैं। लौकिक साहित्य में कालिदास कृत अभिज्ञानशाकुन्लत की प्रस्तावना में, विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में तथा मालविकाग्निमित्र नाटकों में नटी, नायिका आदि द्वारा गेय पदों के प्रयोग की प्रचुरता दिखाई गई है। रत्नावली और मृच्छकटिक जैसे रूपकों में ताल-लय आश्रित गायन सम्बद्ध कतिपय प्रतिपाद्य उपलब्ध हैं। नाट्य-प्रयोग को पूर्ण

व्यवस्थित रूप देने हेतु गान की शास्त्रीय विवेचना के अतिरिक्त वाद्ययन्त्रों द्वारा गीत-वादन की भी परिगणना की गई है। भरतमुनि द्वारा चार प्रमुख वाद्य-भेद प्रस्तुत किये गये जिनका सन्दर्भ वैदिक वाङ्मय में भी प्राप्त होता है –

तत (वीणा आदि), अवनद्ध (मृदंग, पटह आदि), सुशीर (वंशी, वेणु आदि) और घन (झाल आदि)। वस्तुतः गीत और वाद्य का समुचित रूप नाट्य के महत्वपूर्ण तत्त्व के रूप में माना गया है।

टिप्पणी

(iv) **अथर्ववेद से ग्रहीत रस-तत्त्वः** इस भारतीय साहित्य का महत्वपूर्ण विषय रहा है। भरत मुनि रस के आदि प्रतिष्ठाता आचार्य माने जाते हैं किन्तु नाट्यशास्त्र में भरत से पूर्व भी विस्तृत रस-परम्परा का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र के नाट्योत्पत्ति के सिद्धान्तानुसार ब्रह्मा द्वारा अथर्ववेद से रस-तत्त्व का ग्रहण किया गया। रस तत्त्व को नाट्यशास्त्र का मुख्य विवेच्य विषय माना गया है। यद्यपि भरत द्वारा अभिनय, नृत्य, संगीत आदि विषयों का भी बृहद, विश्लेषण प्रस्तुत किया गया किन्तु रस ही इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि अन्य सभी तत्त्व रसाभिव्यक्ति के प्रधान अथवा गौण सहकारी साधन माने जाते हैं। भरत के मतानुसार रस नाट्य रचना के लिए इतना महत्वपूर्ण है कि उसके बिना कोई काव्यार्थ ही प्रवृत्त नहीं होता –

''न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रर्वत्तते।'' (नाट्यशास्त्र): इस प्रकार भारतीय शास्त्र परम्परा में नाट्य के प्रमुख तत्त्वों का उद्‌बोधन कतिपय स्थलों पर किया गया। संवाद, अभिनय, गायन तथा रस के अतिरिक्त नाट्यमंडप, पात्र-विधान, इतिवृत्त या कथावस्तु-विधान, नाट्य-वृत्तियाँ, भाव-विवेचन, नृत्यकला आदि नाट्य के प्रमुख तत्त्व हैं। जिनकी व्याख्या शास्त्रीय ग्रन्थों में तथा जिनका अनुप्रयोगात्मक रूप भारतीय साहित्य में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

पाठगत प्रश्न 1.3

1. पंचमवेद किसे कहा जाता है?
2. कौन-सी वृत्ति के प्रयोग हेतु ब्रह्मा द्वारा अप्सराओं के सृजन का वृतान्त प्राप्त होता हैं?
3. अभिनय कितने प्रकार का है? नाम बताइए?
4. अभिनय का विधान किन प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में किया गया है?
5. भरतमुनि द्वारा वाद्य के किन भेदों का वर्णन किया गया हैं?
6. रस तत्त्व की दार्शनिक व्याख्या किस पुराण में मिलती है?

टिप्पणी

7. नाट्य के कतिपय तत्त्वों का नाम बताइए।

1.6 संस्कृत के प्रमुख नाटककार

संस्कृत वाङ्मय में जिन नाट्यकारों की रचनाओं को प्रारम्भिक या विकासकाल से सम्बद्ध मानते हैं, वे संख्या में अल्प ही हैं। पाश्चात्य इतिहासकारों ने सामूहिक रूप में प्राचीनतम उपलब्ध नाट्यकृति के रूप में अश्वघोष के 'शारिपुत्रप्रकरण' (प्रथम शताब्दी उत्तरार्ध) को माना जो H. Luders को 1911 ईस्वी में तुर्फान अभियान में तालपत्र पर अंकित मिला था। किन्तु वर्तमान समय में प्राप्त नाट्य साहित्य में सबसे प्राचीन नाटककार महाकवि भास ही माने जाते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में संस्कृत साहित्य के प्रमुख नाटककारों का निरूपण किया जा रहा है।

1. भास - यद्यपि भास की चर्चा अनेक प्राचीन कवियों और ग्रन्थकारों ने की थी किन्तु कोई भी उपलब्ध रचना न होने के कारण भास संस्कृत साहित्य के लिए अपरिचित ही थे। सन् 1909 ईस्वी में ही गणपति शास्त्री द्वारा केरल राज्य के पद्मनाभपुरम् के निकट मणलिक्करमठ से मलयालम् लिपि में 105 पृष्ठों की पाण्डुलिपि प्राप्त की गई जिसमें भास के दस संपूर्ण रूपक और एक रूपक खण्डित रूप से प्राप्त हुए। अन्य दो नाटक कालान्तर यात्राओं में प्राप्त हुए।

गणपति शास्त्री के अनुसार इन नाटकों के रचयिता वही महाकवि भास थे जिनका उल्लेख कालिदास ने अपने नाटक मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में किया है।

कालिदास के अतिरिक्त बाण (हर्षचरित, प्रस्तावना), दण्डी (अवन्ति-सुन्दरीकथा, श्लोक 11), वाक्पतिराज (गउडवहो, गाथा-800), राजशेखर (सूक्तिमुक्तवली में उद्धृत पद्य- 'भासनाटकचक्रेऽपि.), रामचन्द्र-गुणचन्द्र (नाट्यदर्पण, गायकवाड सं., पृ. 84) भोजदेव (श्रृंगारप्रकाश, द्वादश प्रकाश), अभिनवगुप्त (लोचन टीका) इत्यादि प्राचीन रचनाकारों द्वारा भास की चर्चा की गई। इस प्रकार पर्याप्त प्रमाणों के आधार पर भास को संस्कृत साहित्य के प्रथम नाटककार के रूप में देखा जाने लगा।

त्रावणकोर में प्राप्त भास की कुल तेरह उपलब्ध रचनाओं को निम्नलिखित चार वर्गों में रखा जाता है -

1. उदयनसूकथमूलक - प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्ता।
2. रामायणमूलक - प्रतिमानाटक, अभिषेकनाटक।
3. महाभारतमूलक - अरूभंग, दूतवाक्य, पंचरात्र, दूतघटोटकच, कर्णभार, मध्यमव्यायोग तथा बालचरित
4. लोककथामूलक - अविमारक तथा चारूदत्त।

टिप्पणी

इनमें उदयनकथामूलक नाटक परस्पर मिलकर एक संयुक्त नाटक का रूप धारण करते हैं। ये छठी शताब्दी ई.पू. की ऐतिहासिक घटनाओं पर आश्रित हैं।

भास का काल: यद्यपि भास ने अपने विषय में अपनी रचनाओं में लेशमात्र भी निर्देश नहीं किया है तथापि अनेक अंतरंग तथा बहिरंग प्रमाणों के आधार पर भास को चतुर्थ शताब्दी पूर्व का माना जा सकता है।

भास की नाट्यकला: भास के रूपकों को संस्कृत भाषा के प्राचीनतम उपलब्ध रूपक की श्रेणी दी गयी है। इनमें नाट्यकला-विकास के प्रारम्भिक रूप प्राप्त होते है। इसीलिए भरत के नाट्यशास्त्र के नियमों का अतिक्रमण इनमें स्वाभाविक रूप से हुआ है। फिर भी ये अत्यधि क रोचक तथा रंगमंच की दृष्टि से सफल रूपक हैं।

भास के नाटक घटना प्रधान हैं। प्रत्येक नाटक की कथावस्तु कुछ सार्थक घटनाओं द्वारा इस प्रकार दिखाई गई है कि उसमें क्रियाशीलता के साथ-साथ रस की पुष्टि भी उचित मात्रा में होती हैं। भास को विशेष रूप से स्वप्नवासवदत्ता के कारण ही ख्याति मिली। राजशेखर ने अपने सुभाषित में कहा है- **स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः।** भास के रूपकों की अग्नि परीक्षा हुई तो स्वप्नवासवदत्त ही इस पर खरा उतरा। अन्य रूपक भी सामर्थ्यवान् हैं किन्तु यह श्रेष्ठ है।

भास की भाषा अत्यन्त सरल और सुबोध होते हुए भी प्रभावशाली है। इसमें पदों की क्लिष्टता, समासों की अधिकता व अलंकारों की प्रचुरता नहीं हैं। इन्होंने वैदर्भी रीति को अपनाया है। प्रसाद, माधुर्य व ओज-ये तीनों गुण इनकी शैली में समाहित है। भास ने अपने नाटकों में प्रायः श्रृंघ्गार और वीर रस का परिपाक ही किया है। करूण और हास्य का दृष्टान्त भी कई स्थानों पर प्राप्त होता है। महाकवि द्वारा प्रायः सरल अलंकारों का ही चयन किया गया है। अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, स्वाभावोक्ति व अर्थान्तरन्यास के सर्वाधिक दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। भास के नाटकों में लगभग 24 छन्दों का प्रयोग किया गया है। अनुष्टुप् उनका प्रिय छन्द है। इसके अतिरिक्त वंशस्थ, वसन्ततिलका, शिखरिणी, उपजाति, आदि छन्द का प्रयोग भी द्रष्टव्य है।

भास ने जितने प्रकार के रूपकों का प्रयोग किया है उनसे रूपक-भेदों के उद्‌भव पर समुचित प्रकाश पड़ता है। स्वप्नवासवदन्त, प्रतिज्ञयोगन्धरायण, प्रतिमा, अभिषेक - ये नाटक हैं तो अविमारक एवं चारूदत्त प्रकरण हैं। कृष्णकथा पर आश्रित बालचरित भी सफल नाटक है जबकि पंचरात्र समवकार श्रेणी का रूपक है। अरूभंग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच' कर्णभार तथा मध्यमव्यायोग एकांकी हैं। वे अंक तथा अत्यन्त सरल, सुबोध और सरस भाषा शैली के कारण ही भास की रचनाएँ वर्तमानकाल में भी अत्यन्त लोकप्रिय एवं प्रासंगिक हैं।

2. शूद्रक : शूद्रक का संस्कृत साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है परन्तु अभी तक उनके व्यक्तित्व के बारे में प्रामाणिक रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं हो पाया। संस्कृत साहित्य में इनके विषय में कई दन्त कथाएँ प्रचलित हैं। मृच्छकटिक की प्रस्तावना में शूद्रक का परिचय तीन पद्यों में दिया

गया है कि वे शारीरिक सौन्दर्य से विभूषित (परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च), ब्राह्मणों में प्रमुख, अगाध शक्तिसम्पन्न एवं कवि थे। ऋग्वेद, सामवेद, गणित, संगीत-नृत्यादि कला और गजशास्त्र में निपुण शूद्रक ने शिव के प्रसाद से अज्ञानान्धकार से रहित दिव्य दृष्टि पाकर, पुत्र को राज्य देकर अश्वमेघ-यज्ञ करके, एक सौ वर्ष और दस दिन की लम्बी आयु पाकर अग्नि में प्रवेश किया था। ये पद्य सम्भवतः प्रक्षिप्त अंश हैं किन्तु मृच्छकटिक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसके रचनाकार अनेक भाषाओं के ज्ञाता, नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, राजशास्त्र आदि के विद्वान, सम्भवतः दाक्षिणात्य एवं ब्राह्मणों को सम्मान देने वाले प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। अनेक विद्वानों ने इसीलिए शूद्रक को सातवाहनवंशी आन्ध्रभृत्य राजाओं में अन्यतम सिद्ध किया है।

शूद्रक का कालः शूद्रक की ऐतिहासिकता के समान उनका काल भी विवादास्पद विषय रहा है। 200 ई.पू. से लेकर छठी शताब्दी ई. तक मृच्छकटिक तथा शूद्रक का काल माना जाता है।

शूद्रक की नाट्यकलाः शूद्रक की एकमात्र उपलब्ध कृति मृच्छकटिक संस्कृत वाङ्मय का एक अद्‌भुत रूपक है जिसे कवि कल्पित कथानक के आधार पर 'प्रकरण' की श्रेणी में रखा जाता है। दस अंकों के इस प्रकरण के अन्तर्गत परम्परागत राजा-रानी के प्रेम-प्रसंग का वर्णन न करके चारूदत्त नामक दरिद्र ब्राह्मण तथा वसन्तसेना नामक गणिका के प्रणय का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसका कथानक दो प्रेम कथाओं तथा राजविप्लव से निर्मित है जो इसे अन्य नाट्यों से विशिष्ट बनाता है। इसमें सम्भोग श्रृंगार की प्रधानता तथा हास्य, करूण, भय, अद्‌भुत आदि रसों की यथावकाश उद्‌भावना ने रस-दृष्टि से इसे उत्कृष्ट रूपक की श्रेणी में सम्मिलित किया है। यह नाट्यकृति सामाजिक के साधारणीकरण एवं रसाभिव्यक्ति का अनुपम दृष्टान्त रूप है। शूद्रक ने वस्तु-विन्यास-कौशल का प्रमाण देते हुए नायक-नायिका के शारीरिक प्रणय की पूर्णता को कथानक के मध्य में दिखाकर अन्तिम अंक में वैवाहिक तथा आधिकारिक प्रणय का सर्वांगपूर्ण पर्यवसान प्रकट किया हैं जो रूपक को भारतीय संस्कृति की विकसित विचारधारा के प्रतिबिम्ब रूप में प्रस्तुत करता है। महाकवि शूद्रक द्वारा यथार्थवादी एवं सार्वभौमिक पात्रों का निर्धारण करने से मृच्छकटिक को प्राचीन होने पर भी वर्तमान समाज के दर्पण के रूप में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त महाकवि द्वारा वर्ण तथा जाति, विवाह, स्त्रियों का समाज में स्थान, नगर-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, कला-कौशल, धार्मिक-स्थिति, राजनैतिक व्यवस्था आदि के आधार पर तात्कालिक समाज का स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

कवि ने मुख्यतः वैदर्भी रीति का प्रयोग करते हुए कतिपय स्थानों पर गौडी रीति को भी अपनाया है। प्रसाद, माधुर्य और ओज-तीनों गुणों का समन्वय है। शूद्रक की भाषा शैली सरल, सरस और स्पष्ट होते हुए प्रभावपूर्ण है। नाट्य के अन्तर्गत बड़े-बड़े छन्दों तथा समासों की न्यूनता है तथा संवाद लघु एवं स्वाभाविक हैं। इन्हीं सब विशेषताओं के कारण मृच्छकटिककार शूद्रक ने भारतीय विद्वानों के समक्ष ही नहीं अपितु पाश्चात्य आलोचकों की दृष्टि में भी गौरवशाली स्थान प्राप्त किया है।

3. कालिदासः कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटककार एवं महाकवि हैं। इनकी ख्याति केवल भारत में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो गई। प्रो. लैसन महोदय द्वारा कालिदास को - 'The brightest star in the firmament of Sanskrit Literature' इस उपाधि से अलंकृत किया गया है। दुर्भाग्यवश कालिदास के व्यक्तित्व के विषय में ठोस प्रमाण का अभाव रहा है। इनके जन्म स्थान एवं जन्मतिथि के विषय में पर्याप्त मतभेद है। विद्वान इन्हें अवन्ति, मालवप्रदेश, बंगाल, काश्मीर, विदर्भ अथवा उज्जैन से सम्बद्ध मानते हैं। इसी प्रकार इनका स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई.पू. से लेकर 11वीं शताब्दी ई. तक के मध्य का निर्धारित किया गया है।

जीवन-वृत्तः कालिदास के सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। उन्हें परम्परा से विक्रमादित्य नामक राजा की सभा के नवरत्नों में अन्यतम माना गया है किन्तु जिन रत्नस्वरूप कवियों एवं विद्वानों की गणना उनके साथ की गई जैसे - धन्वन्तरि, अमरसिंह, वराहमिहिर, वररूचि इत्यादि, वे भिन्न-भिन्न कालों के हैं इसके अतिरिक्त भोज-प्रबन्ध नामक नितान्त कवि कल्पित कथा-ग्रन्थ (ले. वल्लालसेन, 16वीं शताब्दी) में धारानरेश भोज की राज्यसभा में संस्कृत के समस्त कवियों में कालिदास का मुख्य रूप से उल्लेख प्राप्त होता है। एक सुप्रसिद्ध किवदन्ती के अनुसार कालिदास बाल्यावस्था में मूढ़मति थे। पण्डितों ने षडयन्त्र करके उनका विवाह विदुषी अपितु ज्ञानगर्विता विद्योत्तमा के साथ करवा दिया। विवाह के अनन्तर भेद का उद्घाटन होने पर पत्नी द्वारा अपमानित कालिदास ने देवी काली की उपासना की तथा ज्ञानमण्डित होकर अपने पत्नी के पास पहुँचे। पत्नी द्वारा प्रश्न किया गया - अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः (अर्थात् वाणी में कुछ विशिष्टता आ गयी)।

इस प्रकार कालिदास द्वारा प्रश्न के प्रमुख तीन शब्दों से आरम्भ करके क्रमशः कुमारसम्भव (अस्त्युन्तरस्यां दिशि देवात्मा), मेघदूत (कश्चित्कान्ताः विरहगुरूणा) और रघुवंश (वागर्थाविव सम्पृक्तौ) नामक काव्यों की रचना की। इस प्रकार की किंवदन्तियों में ऐतिहासिक प्रमाण न होने पर भी मनोरंजन की क्षमता तथा कालिदास के जीवन-वृन्त की सम्भावनाएँ परिलक्षित होती हैं।

कालिदास की रचनाएँः जिस प्रकार कालिदास का जन्म स्थान, तिथि एवं जीवन-वृन्त का निश्चय करना एक कठिन कार्य है उसी प्रकार उनके कर्तृत्व का निर्णय करना भी दुष्कर ही प्रतीत होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अनेक परवर्ती कवियों द्वारा कालिदास उपनाम रख ग्रन्थ-रचना की गई जो कालिदास की रचनाओं के रूप में जाने गए। राजशेखर द्वारा तीन कालिदासों का उल्लेख किया गया है। वर्तमान काल में लगभग 40 ग्रन्थ कालिदास के नाम से प्रसिद्ध हैं किन्तु इनमें मूल एवं प्राचीन कालिदास की सात रचनाएँ ही प्रमाण-सिद्ध हैं। इनमें दो महाकाव्य कुमारसम्भव तथा रघुवंश। दो गीतिकाव्य (खण्डकाव्य) हैं - ऋतुसंहार तथा मेघदूत। इनके अतिरिक्त तीन नाटक हैं - मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम्।

नाटककार के रूप में कालिदास की प्रसिद्धि अधिक है। इनकी रचना अभिज्ञानशाकुन्तल

विश्व-नाटकों में परिगणित है। सम्प्रति प्रथम दो रचनाएँ पाँच अंकों तथा अन्तिम सात अंकों में विभक्त है।

कालिदास की नाट्यकला

नाट्य के जो प्रमुख तत्त्व वस्तु, नेता और रस के रूप में माने गये हैं। उन सब में कालिदास की अद्भुत प्रतिभा प्रतिफलित हुई है। कालिदास के तीनों ही नाटक यद्यपि संस्कृत एवं विश्व साहित्य में महत्वपूर्ण हैं। तथापि अभिज्ञानशाकुन्तल भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही नाट्य सिद्धान्तों की कसौटी पर खरी उतरती है। तभी भारतीय समीक्षकों में एक प्रशस्ति प्रचलित है- **'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्।'**

कालिदास द्वारा प्रत्येक वस्तु-वर्णन इतनी सूक्ष्मता एवं सजीवता पूर्ण शैली में किया गया है कि नाटक के दृश्य पाठक के समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। कालिदास के संवाद-प्रयोग भी ध्वन्यात्मक हैं अर्थात - वे प्रतिपाद्य की भावी घटनाओं का संकेत करते हैं। नाटककार की भाषा-शैली सरल, प्रवाहपूर्ण, परिष्कृत तथा परिमार्जित है। यह मधुर, दीर्घ-समासरहित, अलंकृत, औचित्यपूर्ण तथा पात्रानुरूप प्रस्तुत की गई है। महाकवि द्वारा वैदर्भी रीति का प्रयोग कर प्रसाद, माधुर्य एवं ओज गुणों को समन्वित किया गया है।

कालिदास के तीनों नाट्य श्रृंगार प्रधान हैं जिसमें संयोग तथा विप्रलम्भ दोनों रूप मिलते हैं। कालिदास द्वारा अपने नाटकों में भिन्न-भिन्न भावों की मार्मिक प्रस्तुति की हैं किन्तु अभिज्ञानशाकुन्तल का चतुर्थ अंक अत्यन्त हृदयावर्जक एवं मर्मस्पर्शी माना गया है जिसमें शकुन्तला के पति-गृह-गमन की वेला का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इस चतुर्थ अंक में भी विद्वानों द्वारा चार पद्य सर्वश्रेष्ठ माने गए जो कण्ठ ऋषि द्वारा पालिता पुत्री शकुन्तला को विदाई के अवसर पर कहे गए हैं। अत: कहा गया है -

''काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोंकस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्॥''

महाकवि कालिदास ने अपने सभी नाटकों में प्रकृति के द्वारा अपना आकर्षण प्रकट किया है। इनमें शाकुन्तल तो विशुद्ध प्रकृति के परिवेश में ही विकसित है। यथा-नायिका शकुन्तला के लिए उसके आश्रम के जीव-जन्तु अपनी ही शकुन्तला के लिए उसके आश्रम के जीव-जन्तु अपनी ही सन्तति सदृश थे। **'अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु'।**

यहाँ नाटककार द्वारा अन्त: प्रकृति तथा बाह्य प्रकृति का सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया गया है।

अवसर के अनुरूप अलंकारों के प्रयोग में कालिदास के नाटकों की अन्य विशिष्टता है। कालिदास उपमा के लिए तो प्रसिद्ध हैं ही- 'उपमा कालिदासस्य'। इसके अतिरिक्त अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, स्वाभावोक्ति, उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुप्रास, यमक आदि अलंकारों के प्रयोग में भी अपना काव्य कौशल प्रदर्शित किया है।

मंचन की दृष्टि से भी कालिदास के नाटक सर्वोत्कृष्ट हैं। भारतीय संस्कृति का यथार्थ एवं समुज्ज्वल चित्रण करने में कालिदास अद्वितीय हैं। निष्कर्षत: कविकुलगुरू कालिदास को भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य साहित्य का शिरोमणि कहा जाना अतिशयोक्ति नहीं है।

4. विशाखदत्त

संस्कृत नाट्य-जगत में एकमात्र उपलब्ध राजनीतिक नाटक 'मुद्राराक्षस' के लेखक के रूप में विशाखदत्त की कीर्ति जीवन्त है। ग्रन्थ की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि विशाखदत्त राज-परिवार से सम्बद्ध थे। प्रस्तावना में इन्हें सामन्त बटेश्वरदत्त का पौत्र एवं महाराज पृथुदत्त का पुत्र बताया गया है। कुछ संस्करणों में इनके पिता का नाम भास्करदत्त भी दिया गया है। अपने ग्रन्थ में शोणनद, पाटलिपुत्र तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्र की प्रकृति का यथार्थ चित्रण करने के कारण अनेक विद्वान इन्हें मगध का निवासी मानते हैं। नाटककार द्वारा मुद्राराक्षस में शिव, विष्णु तथा सूर्य आदि देवताओं की वन्दना करने से इन्हें धर्मसहिष्णु वैदिक या ब्राह्मण धर्मानुयायी माना जा सकता है। धार्मिक समत्व का परिचय देते हुए इन्होनें अपने ग्रन्थ में बौद्ध और जैन धर्म के प्रति भी आदरभाव प्रदर्शित किया है।

विशाखदत्त की रचनाएँ

मुद्राराक्षस के अतिरिक्त विशाखदत्त को देवीचन्द्रगुप्त तथा अभिसारिकावंचितक नामक ग्रन्थों का रचयिता भी बतलाया गया है। अभिसारिकावंचितक तो अप्राप्य है तथा देवीचन्द्रगुप्त आंशिक रूप से ही प्राप्त होता है। यद्यपि देवीचन्द्रगुप्त का उल्लेख नाट्यदर्पण में बहुधा हुआ है तथा शृंगार प्रकाश में भी इसकी चर्चा हुई है किन्तु इन ग्रन्थों का कर्तृत्व सिद्ध न होने से 'मुद्राराक्षस' को ही विशाखदत्त का सम्पूर्ण एवं प्रामाणिक नाट्य माना जाता है।

विशाखदत्त का काल

विशाखदत्त के कालनिर्णय में बहि: साक्ष्य अत्यल्प हैं। इनके आधार पर यही कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम मुद्राराक्षस की चर्चा धनिक द्वारा दशरूपावलोक में की गई। धनिक का काल 1000 ई. का माना गया है। भोज, जिनका काल 11वीं शताब्दी ई. का है, द्वारा सरस्वतीकण्ठा-स्मरण में मुद्राराक्षस का नामोल्लेख किये बिना दो पंथ उद्धृत किये गए है। अन्त: साक्ष्य की दृष्टि से चार महत्वपूर्ण विषय विचारणीय हैं –

(i) भरतवाक्य में 'चन्द्रगुप्त' आदि पाठ

(ii) भरतवाक्य में म्लेच्छों के आक्रमण की चर्चा

(iii) प्रस्तावना में चर्चित चन्द्रग्रहण, तथा

(iv) जैन-बौद्ध धर्मों के प्रति विचार

टिप्पणी

विभिन्न विद्वानों के मतों के आधार पर नाटककार विशाखदत्त को 300 ई.के मध्यकालीन माना गया है।

विशाखदत्त की नाट्यकला

मुद्राराक्षस अपने ढंग का एक अनुपम नाटक है जिसमें लेखक ने परम्परागत नाट्य-रूढ़ियों का परित्याग करके नवीन मार्ग का प्रवर्तन किया है। इसमें नाट्य-सुलभ प्रेम कथा का परित्याग करके कूटनीति-विषयक वस्तु-विन्यास किया गया है जो विशाखदत्त की राजनीतिक अभिरूचि का परिणाम है। इसमें राजा को नायक न बनाकर निरीह विप्र चाणक्य का नायक तथा चाणक्य की बुद्धि का प्रतीकात्मक नायिका के रूप मे प्रयोग किया गया है। नायिका, विदूषक आदि पात्रों के बहिष्कार के फलस्वरूप शृंगार या हास्य रस का अल्प प्रयोग भी नहीं है। इसके अतिरिक्त बिना रक्तपात के केवल बुद्धि के बल पर नायक चाणक्य का विजय वर्णित है जो वीर रस का अभिनव प्रयोग दर्शाता है। विशाखदत्त ने अपने नाटक को चरित्रमूलक नहीं अपितु घटना-प्रधान बनाया है। सभी पात्र अपनी-अपनी विशिष्टताओं के साथ घटनाक्रम को अग्रसर करने में योगदान देते परिलक्षित होते हैं। मुद्राराक्षस में यद्यपि 29 पात्र हैं किन्तु सभी पात्र यथा महत्व रखते हुए भी चाणक्य अथवा राक्षस के अधीन ही प्रतीत होते हैं जो कथानक में रहस्य एवं रोमांच की वृद्धि हेतु सहायक हैं।

महाकवि विशाखदत्त की काव्य शैली प्रसाद एवं माधुर्य गुणों से विभूषित हैं, अलंकारों का प्रयोग केवल विषयवस्तु को सुगम बनाने के लिए किया गया है। श्लेष, रूपक, समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास आदि के प्रयोग द्वारा भाषा को सरल किन्तु लालित्यपूर्ण रूप प्रदान करने में सफल हुए हैं।

इसके अतिरिक्त छोटे-बड़े सभी प्रकार के छन्द इसका शोभावर्धन करते हैं। कुल मिलाकर महाकवि विशाखदत्त की शैली में सहजता, लालित्य, अभिव्यक्ति की प्रभावकता एवं लेखनशैली में अनुपम नवीनता दर्शनीय है।

यद्यपि मुद्राराक्षस नाट्यशास्त्र के नियमों का पूर्णरूप से पालन नहीं करता तथापि इसकी भाषा तथा भाव, शैली तथा कवित्व, कथावस्तु तथा चरित्र-चित्रण के समीक्षण के आधार पर कहा जा सकता है कि विशाखदत्त का मुद्राराक्षस नामक नाटक विकासकाल का अनुपम नाट्यरत्न है।

5. भवभूति

परिचय

संस्कृत नाटककारों मे कालिदास के अनन्तर श्रेष्ठता की दृष्टि से भवभूति का ही उत्कृष्ठ स्थान है। दोनों महाकवियों के द्वारा तीन नाट्य लिखे गए जो वर्तमान समय में उपलब्ध हैं। एक और जहाँ कालिदास ने अपने नाट्यों की प्रस्तावनाओं में आत्म-गोपन किया है वहीं भवभूति द्वारा अपने तीनों नाटकों की प्रस्तावनाओं में अपना परिचय दिया गया है। इनके रूपकों में

मालतीमाधव की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि ये विदर्प-गोत्रीय तथा उदुम्बरवंशी ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। इनका कुल कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा को मानने तथा उसके अध्ययन में रत था। इसके अतिरिक्त इनके पूर्वज वेदपाठ, शास्त्रानुशील, यज्ञ तप आदि के आचरण हेतु सर्वत्र प्रसिद्ध थे। महाकवि द्वारा पितामह का नाम भट्टगोपाल, पिता का नाम नीलकण्ठ तथा माता का नाम जतुकर्णी बताया गया है। इनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि इनका स्वयं का नाम श्रीकण्ठ था तथापि कवि के रूप मे 'भवभूति' की उपाधि प्राप्त थी।

भवभूति शास्त्रीय ज्ञान में उत्कृष्ट थे। वे केवल कवि ही नहीं अपितु वेदों, दर्शनों और कर्मकाण्ड में भी पारंगत थे। इनके रूपकों में राजशास्त्र, आयुर्वेद, व्याकरण शास्त्र, काव्यशास्त्र, धर्मशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि के संकेत स्पष्ट रूप से देखे जाते हैं। महाकवि द्वारा अपनी रचनाओं में स्वयं को 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' अर्थात् व्याकरण-शास्त्र, मीमांसाशास्त्र तथा न्यायशास्त्र का विद्वान कहा गया है। इसके अतिरिक्त विद्वानों और समीक्षकों द्वारा भवभूति को युगों से प्रशस्तियों में स्मरण किया गया है।

भवभूति का काल

यद्यपि भवभूति ने अपने स्थितिकाल के विषय में कोई संकेत नहीं किया किन्तु बाणभट्ट के समान ही भवभूति के काल-निर्धारण में विशेष कठिनाई नहीं हैं क्योंकि इनके समय की पूर्व सीमा तथा अपर सीमा सिद्ध प्रमाणों के आधार पर निर्धारित की जा सकती है।

i) बाणभट्ट (606-648ई.) द्वारा अपने हर्षचरित में प्रारम्भ में अपने पूर्ववर्ती सभी कवियों का उल्लेख किया है किन्तु भवभूति का निर्देश प्राप्त नहीं होता है। अत: भवभूति 650 ई. के पश्चात् ही हुए होंगे।

ii) वामन (800 ई.) द्वारा काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में दो स्थानों पर भवभूति के ग्रन्थों से दो पद्यों को उद्घृत किया गया है। अत: भवभूति उनसे पूर्ववर्ती माने जा सकते हैं।

iii) कल्हण द्वारा राजतरंगिणी में कान्यकुब्ज नरेश यशोवर्मा को भवभूति तथा गउडवहो के रचयिता वाक्पतिराज (730-750ई.) का आश्रयदाता बताया गया है तथा कश्मीर नरेश ललितादित्य द्वारा यशोवर्मा को 736 ई. में पराजित करने का भी उल्लेख कल्हण द्वारा किया गया है।

iv) इसके अतिरिक्त वाक्पतिराज ने अपने प्राकृत-काव्य के एक पद्य में भवभूति की प्रशंसा की है। इससे ज्ञात होता है कि गउडवहो की रचना के काल (740ई.) तक भवभूति की पर्याप्त ख्याति प्राप्त हो चुकी थी।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि भवभूति का काल 680 ई. से 750 ई. के बीच का माना जा सकता है।

टिप्पणी

भवभूति की नाट्य-कृतियाँ

महाकवि भवभूति के तीन नाटक प्राप्त होते हैं। मालती-माधव, महावीरचरित तथा उत्तराचरित। कतिपय विद्वानों द्वारा मालती माधव को उनकी प्रथम नाट्यकृति माना गया है। इसके अतिरिक्त महावीरचरित और उत्तरामचरित की कथा परस्पर सम्बद्ध है। महावीरचरित पूर्वभाग है तथा उत्तररामचरित उत्तरभाग। रस की दृष्टि से भी मालतीमाधव को ही प्रथम रचना मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है क्योंकि यह श्रृंगार रस-प्रधान है। महावीर-चरित वीर रस-प्रधान तथा उत्तररामचरित करूण रस-प्रधान है। भवभूति ने मालती माधव रूप प्रकरण तथा अन्य दो नाटकों की रचना कर रूपक के तीन उत्कृष्ट उदाहरणों को विश्ववाङ्मय में शाश्वत कर दिया है।

भवभूति की नाट्यकला

महाकवि भवभूति का नाट्यकौशल सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में अद्वितीय है। महाकवि द्वारा रामायण जैसे आर्षकाव्य से कथावस्तु का आश्रय लेने पर भी अपने नाटकों की कथावस्तु की घटनाओं के सार्थक संयोजन एवं स्वाभाविक वर्णन के कारण अत्यन्त नाटकीय रूप प्रदान किया गया है। यही नहीं संस्कृत भाषा पर भी महाकवि का पूर्ण अधिकार था। उनकी रचनाओं में प्रत्येक दृश्य के भावानुरूप पदों का प्रयोग किया गया हैं। नाटकों में श्रृंगार अथवा करूण रस के भावाभिव्यक्ति समासरहित, सरल एवं मधुर पदावली द्वारा तथा वीर तथा भयानक रसों की भावाभिव्यक्ति समासयुक्त, ओजपूर्ण तथा क्लिष्ट पदावली द्वारा की गयी है। इसी प्रकार महाकवि द्वारा अपनी नाट्यकृतियों में भावानुरूप ही गौड़ी तथा वैदर्भी दोनों रीतियों का प्रयोग किया गया है। मालती माधव तथा महावीरचरित में गौड़ी रीति का प्रयोग कर भवभूति ने गौड़ी रीति के श्रेष्ठ नाटककार का सम्मान प्राप्त कर लिया हैं। वहीं उत्तररामचरित नाटक के अन्तर्गत वैदर्भी रीति का आश्रय लेकर करूण रस को उत्कृष्ट रूप में पहुँचाकर महाकवि द्वारा अपनी अप्रतिम प्रतिभा सिद्ध कर दी गई है। भवभूति की भाषा-शैली की एक प्रमुख विशेषता उसकी ध्वनिमूलकता है। उनके द्वारा ध्वनि-वर्णन के माध्यम से अर्थ की प्रतीति करवाना निर्जीव को भी सजीव रूप में निरूपित कर देना जैसा है।

कवि ने अपने तीनों नाट्यकृतियों को तीन प्रधान रस के द्वारा चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया है। मालती माधव में श्रृंगार रस, महावीरचरित में वीर रस तथा उत्तररामचरित में करूण रस का उद्भुत चित्रण है। यद्यपि महाकवि कतिपय रसों का सुन्दर परिपाक किया है किन्तु करूण रस के क्षेत्र में भवभूति अद्वितीय हैं - **'कारूण्यं भवभूतिरेव तनुते'।** इसके अतिरिक्त भवभूति की रचनाओं में बाह्य प्रकृति तथा मानवीय प्रकृति दोनों का सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है। नाटकों में अलंकारों, छन्दों आदि का भी सहज, स्वाभाविक तथा भावनुकूल प्रयोग किया गया है। इस प्रकार नाटकों के सभी महत्वपूर्ण तत्वों का समागम महाकवि भवभूति के नाटकों में सफलतापूर्वक किया गया है जो उन्हें संस्कृत साहित्य के श्रेष्ठ नाटककारों में परिगणित करता है।

उपरोक्त वर्णित नाटककारों के अतिरिक्त अश्वघोष (शारिपुत्रप्रकरण), हर्ष (प्रियदर्शिका, रत्नावली, नागानन्द), भट्टनारायण (वेणीसंहार), मुरारि (अनर्घराघव), राजशेखर (बालरामायण, बालभारत, कर्पूरमंजरी आदि कुल छः रचनाएँ), दिङ्नाग (कुन्दमाला), जयदेव (प्रसन्नराघव) इत्यादि संस्कृत साहित्य के प्रमुख सिद्धस्त नाटकाकारों के रूप में परिगणित हैं। वस्तुतः प्रत्येक शताब्दी में संस्कृत भाषा में नाट्यकृतियों की रचना होती रही हैं, आधुनिक संस्कृत साहित्य भी इसमें पीछे नहीं है। आधुनिक युग में प्राचीन विषयों के अतिरिक्त अर्वाचीन विषयों को भी आधार बनाकर निरन्तर नाट्य-रचना की जा रही है। अम्बिकादत्त, व्यास का 'सामवत', मथुराप्रसाद दीक्षित के 'भारतीविजय', 'गाँधी-विजय' आदि दस नाटक, हरिदास सिद्धान्तवागीश के 'मिवारप्रताप', 'संयोगितास्वयंवर', तथा 'छत्रपतिसाम्राज्य' इत्यादि सुप्रसिद्ध आधुनिक नाटक उल्लेखनीय हैं।

संस्कृत साहित्य में अनगिनत नाटककार एवं नाट्यकृतियों का उल्लेख प्राप्त होता है जिनमें से कतिपय प्रमुख नाटककारों का निरूपण यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

पाठगत प्रश्न 1.4

1. सन् 1909 ईस्वी में ही गणपति शास्त्री द्वारा किस प्रसिद्ध संस्कृत नाटककार के 13 नाटकों को प्रकाश में लाया गया?
2. भास के 13 नाटकों का नामोल्लेख करें।
3. भास की श्रेष्ठतम रचना कौन-सी मानी गई हैं?
4. भास का स्थितिकाल क्या निर्धारित किया गया?
5. स्कन्दपुराण में शूद्रक के विषय में क्या सूचित किया गया है?
6. शूद्रक रचित मृच्छकटिक का उपजीव्य काव्य कौन-सा माना गया हैं?
7. मृच्छकटिक रूपक का कौनसा भेद हैं? इसमें कुल कितने अन्न है?
8. कालिदास के प्रामाणिक रचनाओं का नामोल्लेख करें।
9. अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा का आधार क्या हैं?
10. अभिज्ञानशाकुन्तल का श्रेष्ठतम अंक कौन-सा है? इसकी विशेषता बताइए।
11. कालिदास की भाषा शैली की क्या विशेषताएँ हैं?
12. विशाखदत्त की उपलब्ध नाट्यकृति कौनसी है? इसको नायक कौन हैं?
13. मुद्राराक्षस में किन-किन नाटकीय पात्रों का अभाव हैं?

14. राजशेखर ने भवभूति को किसका अवतार बताकर उनकी प्रशंसा की है?

15. भवभूति की प्रमुख नाट्यकृतियाँ कौनसी हैं?

16. भवभूति की नाट्यकला की प्रमुख विशेषता क्या हैं? स्पष्ट करें।

आपने क्या सीखा

- संस्कृत वाङ्मय के अन्तर्गत काव्य द्विविधा हैं – दृश्यकाल एवं श्रव्यकाव्य। रूपक (नाट्य) दृश्यकाव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप है।
- रूपक (नाट्य) कुल दस प्रकार के माने गए हैं – नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक एवं ईहमृग। उपरूपकों की संख्या अट्ठारह निर्धारित की गयी है।
- नाट्यकला से सम्बन्धित सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' है। इसके रचयिता भरतमुनि माने गये हैं। नाट्यशास्त्र को 100 ई.पू. से 300 ई. के मध्य का माना जाता है।
- आचार्य भरत के मतानुसार ब्रह्मा द्वारा ऋग्वेद से संवाद (पाठ्य), यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से संगीत तथा अथर्ववेद से रस ग्रहण कर 'पंचमवेद' के रूप में नाट्य की रचना की गई है।
- यूनानी रूपकों से नाट्योत्पत्ति, पुत्तलिका-नृत्यवाद, वीर पूजा-सिद्धान्त, छायानाटकवाद, उत्सव सिद्धान्त इत्यादि कतिपय प्रसिद्ध सिद्धान्तों द्वारा विद्वानों ने भारतीय नाट्यकला के उद्भव के विषय में विचार किया।
- वैदिककाल पर्यन्त बौद्धकालीन, पाणिनी-पतंजलिकालीन युग आदि में नाट्यकला निरन्तर परिष्कृत होकर विकास की ओर अग्रसर होती रही।
- नाट्यकला के प्रमुख तत्त्व संवाद (पाठ्य), अभिनय, गायन, वादन, नृत्य, रस, पात्र-विधान, रंगमण्डप, कथानक (इतिवृत्त)-विधान, भाव-विवेचन, नाट्य-वृत्तियाँ इत्यादि प्रमुख हैं।
- लौकिक साहित्य में महाकवि भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, भवभूति, हर्ष, भट्टनारायण, राजशेखर आदि प्रमुख संस्कृत नाटककार हैं।

पाठान्त प्रश्न

1. प्रकरण तथा भाण रूपक के विषय में लघु टिप्पणी लिखिए।

2. वैदिक कालीन नाट्यकला के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

3. महाकवि कालिदास के साहित्यिक योगदान पर संक्षिप्त परिचय दीजिए।

4. ऋग्वेद में नाट्य तत्व विषय पर लघु टिप्पणी लिखिए।

टिप्पणी

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

1.1

1. काव्य दो प्रकार के हैं - दृश्य एवं श्रव्य।
2. नाटक दृश्यकाव्य के रूपक का प्रथम भेद है।
3. नाट्य का अन्य नाम रूप अथवा रूपक है।
4. नाट्यशास्त्र।
5. नाट्यशास्त्र का रचनाकाल 100 ई.पू. से 300 ई.पू. के मध्य का माना गया है।
6. ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गान तथा अथर्ववेद से रस तत्त्व ग्रहण किये गये हैं।
7. ब्रह्मा द्वारा अमृतमंथन एवं त्रिपुरदाह नामक रूपकों की रचना की गयी।
8. सूत्रधार
9. वेबर एवं विन्दिश के मतानुसार भारतीय नाट्य की उत्पत्ति यूनानी रूपकों से हुई है।
10. रिजवे के मतानुसार जैसे मृतपूर्वजों के प्रति सम्मान प्रस्तुत करने हेतु यूनानी दु:खान्त रूपकों का उद्भव हुआ, वैसे ही भारत में भी वीर पूर्वजों के प्रति श्रद्धा प्रकट करने हेतु भारतीय नाट्यों का उद्भव हुआ होगा।
11. जर्मन विद्वान लूडर्स एवं कोनो द्वारा।
12. यूरोपीय मेपोल नृत्य-उत्सव की तुलना भारतीय इन्द्रध्वज पर्व से की गई है।

1.2

1. संस्कृत नाटकों का उद्देश्य यज्ञीय कर्मकाण्डों के अवसर पर ऋत्विजों, यजमानों तथा दर्शक जनों का मनोरंजन करना था।
2. शैलूष शब्द का अर्थ 'नर्तक', 'गायक' अथवा 'नट' रूप में किया गया है।
3. कंसवध एवं वालिबन्ध नामक नाटक
4. मध्यप्रदेश की सीताबेंगा गुफा

टिप्पणी

5. नाट्यशास्त्र में दस प्रकार के रूपक माने गये हैं।

6. नाटक

7. नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, ईहमृग, वीथी, प्रहसन, अन्न डिम एवं समवकार।

8. उपरूपक अट्ठारह माने जाते हैं।

9. नाट्यकला का प्राचीनतम अवशेष सिन्धु घाटी सभ्यता की प्राप्त मूर्तियो एवं मुद्राओं के रूप में है। यह हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो के उत्खन्न में प्राप्त हुए है।

10. ऋग्वेद मे प्रयुक्त 'समन' उत्सव का परिवर्धित रूप महाभारत में समज्जा 'समाज' रूप में प्राप्त होता है।

11. गिरनार के शिलालेख और उरग जातक में

12. शिलालिन् तथा कृशाश्व द्वारा रचित नटसूत्रों का उल्लेख अष्टाध्यायी में मिलता है।

13. मुग्धाभिनय नामक प्रहसन।

14. ललितविस्तार में निर्दिष्ट है कि राजकुमारों द्वारा नाट्यकला के सभी पक्षों की शिक्षा ग्रहण की जानी चाहिए।

15. बौद्धयुगीन समाज में नाट्यमण्डलियों में विदूषक एवं स्त्रियाँ भी अभिनय करती थीं।

1.3

1. नाट्यवेद

2. कैशिकी वृत्ति

3. अभिनय चार प्रकार का है - आंगिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्य।

4. अभिनय का विधान यजुर्वेद के तीसवें अध्याय, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, नाट्यशास्त्र, दशरूपक आदि प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है।

5. भरतमुनि द्वारा वाद्य के चार भेदों का वर्णन किया गया है - तत (वीणा आदि), अवनद्ध (मृदंग, पहट आदि), सुशिर (वंशी, वेणु आदि) और घन (झाल आदि)।

6. अग्निपुराण

7. नाट्य के प्रमुख तत्त्व संवाद, अभिनय, गायन, रस, भाव, नाट्यमण्डप, कथावस्तु, पात्र-विधान, नाट्यवृत्तियाँ आदि हैं।

1.4

1. भास
2. प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदन्त, प्रतिमानाटक, अभिषेकनाटक, उरूभंग, दूतवाक्य, पंचरात्र, कर्णभार, मध्यमव्यायोग, बालचरित, अविमारक तथा चारूदत्त ये भास के तेरह नाटक हैं।
3. स्वप्नवासवदत्त
4. चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व का स्थितिकाल
5. स्कन्दपुराण के अनुसार शूद्रक आंध्रवंशी राजा के रूप में निरूपित है जो सातवाहन वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ।
6. भास का चारूदत्त नामक रूपक
7. प्रकरण। मृच्छकटिक में कुल दस अंक हैं।
8. कालिदास की सात रचनाएँ - कुमारसंभव, रघुवंश (2 महाकाव्य), ऋतुसंहार, मेघदूत (2 गीतिकाव्य), मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशान्कुन्तल (3 नाटक)।
9. अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा का आधार महाभारत के आदिपर्व का शाकुन्तलोपाख्यान है।
10. शाकुन्तल का श्रेष्ठतम अंश चतुर्थ अंक है। इसमें शकुन्तला के पति गृह गमन की वेला का हृदयावर्धक एवं मर्मस्पर्शी चित्रण प्रस्तुत किया गया है।
11. कालिदास वैदर्भी रीति, श्रृंगार रस तथा उपमा अल्यार के सर्वश्रेष्ठ नाटककार माने जाते हैं - 'उपमा कालिदासस्य'।
12. मुद्राराक्षस विशाखदत्त की नाट्यकृति है। इसका नायक चाणक्य है।
13. मुद्राराक्षस में विदूषक एवं स्त्री-पात्रों का अभाव है।
14. राजशेखर ने भवभूति की महर्षि वाल्मीकि का अवतार बताकर उनकी प्रशंसा की है।
15. भवभूति की प्रमुख नाट्यकृतियाँ हैं - मालती माधव, महावीरचरित एवं उत्तररामचरित।
16. भवभूति की श्रेष्ठ रचना उत्तररामचरित में उनके द्वारा वैदर्भी रीति का आश्रय लेकर करूण रस को उत्कृष्ट रूप में पहुँचाकर अद्भुत नाट्यकला का प्रतिपादन किया गया है। 'ध्वनिमूलकता अर्थात् ध्वनि के माध्यम से अर्थ-प्रतीति भी भवभूति की भाषा-शैली की प्रमुख विशेषता है।

टिप्पणी

2

नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय

वैदिक साहित्य, इतिहास-पुराण, नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों एवं ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जाता है कि भारत में नाट्यकला ईसा से कई वर्ष पूर्व अपने विकसित रूप को प्राप्त कर चुकी थी। इस नाट्यकला को एक शास्त्र रूप में निबद्ध कर भरत मुनि द्वारा वैज्ञानिक रूप प्रदान किया गया। ऐसा कोई ज्ञान, विज्ञान, कला विद्या नहीं जिसका समावेश भरत मुनि द्वारा अपने इस शास्त्र में न किया गया हो। यह समस्त कलाओं का विश्वकोष 'नाट्यशास्त्र' के रूप में अभिहित है। नाट्यशास्त्र ही संस्कृत काव्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है जिसे प्रणेता भरत द्वारा 'पंचम वेद' कहा गया है। प्रस्तुत पाठ में नाट्यविद्या के आकार-ग्रन्थ के विषय में जानकारी प्राप्त कर नाट्य एवं उसके महत्वपूर्ण तत्वों तथा अन्य साहित्यिक घटकों का स्पष्टीकरण द्रष्टव्य है।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- नाट्यशास्त्र का काल निर्धारण जानते हैं;
- नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय जानते हैं; और
- नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रमुख विषयों को जानते हैं।

2.1 नाट्यशास्त्र का काल

नाट्यशास्त्र के काल-निर्धारण के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों द्वारा मत प्रस्तुत किये गए जिनमें परस्पर विविधता देखी जाती है। सर्वप्रथम इस ग्रन्थ का प्रणयन किसी एक व्यक्ति द्वारा किया गया हो, यह दुर्लभ प्रतीत होता है। भारतीय ज्ञान-परम्परा में नाट्यशास्त्र भरत मुनि की रचना

टिप्पणी

मानी जाती है किन्तु सम्पूर्ण वाङ्मय में अनेक भरतों के विभिन्न कालों में उल्लेख से नाट्यशास्त्र एवं उसके रचयिता के काल-निर्धारण में समस्या उत्पन्न कर देता है जिसका प्रामाणिक समाधान वर्तमान समय में भी नहीं हो सका है। प्रस्तुत अध्याय में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के मत, अन्त: तथा बाह्य साक्ष्यों के आधार पर नाट्यशास्त्र के रचनाकाल के निर्धारण का प्रयास किया जा रहा है।

(क) भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के आधार पर नाट्यशास्त्र का रचनाकाल

नाट्यशास्त्र रचना के विषय में विद्वद्नों द्वारा अनेक मत प्रतिपादित किये गए हैं। नाट्यशास्त्र के एक से चौदह अध्यायों के प्रथम सम्पादक फ्रान्स के विद्वान पी. रेग्नो एवं उनके शिष्य जे. ग्रासे द्वारा नाट्यशास्त्र को द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व का स्वीकार किया गया है। पी.वी. काणे का मत है कि हरप्रसाद शास्त्री द्वारा भी यह द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व की ही रचना मानी गयी है।

प्रो. सिल्वा लेवी ने जूनागढ़ शिलालेख और नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त सम्बोधनवाचक-स्वामिन्, सुगृहीतनामन् तथा भद्रमुख आदि शब्दों की समानता के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय क्षत्रपों का शासनकाल द्वितीय शताब्दी स्वीकार किया है। परन्तु काणे के अनुसार यह मत मान्य नहीं है क्योंकि समान शब्द प्रयोग से ग्रन्थ का काल निर्धारित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त डॉ. दिनेशचन्द्र सरकार के मतानुसार नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त 'नेपाल' तथा 'महाराष्ट्र' शब्दों का उल्लेख स्पष्टतया इसकी रचना-तिथि द्वितीय शताब्दी के पश्चात् होने की ओर संकेत करता है क्योंकि नेपाल तथा महाराष्ट्र शब्द सर्वप्रथम चतुर्थ शताब्दी ई.पू. के पूर्वार्द्ध में समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति तथा महावंश एवं ऐहोल अभिलेख में उल्लिखित हैं। काणे महोदय के अनुसार 200 ई.पू. 'नानाघाट' अभिलेख में भी महाराष्ट्री (महारठि) शब्द का प्रयोग मिलता है। इसके अतिरिक्त प्रवरसेन विरचित सेतुबन्ध काव्य में महाराष्ट्री प्राकृत के प्रयोग से शिलालेखों से शताब्दियों पूर्व मराठी जनपद का अनुमान किया जाता है। उक्त मतों द्वारा काणे नाट्यशास्त्र का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी से पूर्व का स्वीकार करते हैं। कर्नलजैकब एवं ए. बी. कीथ द्वारा नाट्यशास्त्र को तृतीय शताब्दी के काल का बताया गया है। डॉ. मनमोहन घोष द्वारा भाषा शास्त्रीय तथ्यों, छन्दों, अलंकारों, पौराणिक गाथाओं भौगोलिक तथ्यों आदि के आधार पर नाट्यशास्त्र को 100 ईसा पूर्व तथा 200 ईस्वी के मध्य का स्वीकार किया है। इस प्रकार विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा नाट्यशास्त्र के रचनाकाल सम्बन्धी विवेचना प्रतिपादित की गयी है।

अन्त: साक्ष्य

नाट्यशास्त्र में अनेकों विषयों का प्रतिपादन किया गया है जिसके सन्दर्भ में रचयिता द्वारा अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों एवं उनके ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। इन अन्त: साक्ष्यों के आधार पर नाट्यशास्त्र के रचनाकाल का निर्धारण किया जा रहा है-

टिप्पणी

(i) नाट्यशास्त्र में उल्लिखित पूर्वाचार्य और प्राचीन ग्रन्थ

नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रसिद्ध भवनशिल्पी विश्वकर्मा, अर्थशास्त्र के संबंध में आचार्य बृहस्पति, ध्रुवा और गन्धर्व के सम्बन्ध में नारद, अंगहार के सम्बन्ध में भरत के गुरु तण्डु का उल्लेख प्राप्त होता है। यहाँ तण्डु ताण्डव नृत्य के प्रयोक्ता, रेचक एवं नृत्याभिनयों के प्रथम प्रवक्ता के रूप में नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित हैं। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में 'कामतन्त्र' का भी निरूपण है जो आचार्य वात्स्यायन के 'कामसूत्र' से भिन्न है। इन प्राचीन आचार्यों एवं ग्रन्थों के नामोल्लेख से यह स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र की रचना इनसे बाद की है।

(ii) महाग्रामणी

नाट्यशास्त्र में 'महाग्रामणी' शब्द का उल्लेख है जो ग्रामदेवता का वाचक रूप माना जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा इस शब्द का अर्थ 'गणपति' माना गया है परन्तु मनमोहन घोष आचार्य अभिनवगुप्त के मत का समर्थन नहीं करते हैं। गणपति का देवता रूप में उल्लेख न होना यह सिद्ध करता है कि नाट्यशास्त्र की रचना उस काल में हुई होगी जब गणेश देवता के रूप में कल्पित पूणित नहीं रहे होंगे क्योंकि गणेश पौराणिक काल में देवता के रूप में प्रसिद्ध हुए।

(iii) प्राचीन जातियाँ एवं जनपद

नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत विभिन्न जातियाँ एवं वर्ग निरूपित हैं जिनके भिन्न-भिन्न शरीर वर्ण का विधान है। यहाँ किरात, वर्वर, आन्ध्र, द्रमिल (द्रविड़), काशी आदि दक्षिणात्य वर्गों के लिए असित वर्ण का विधान यह संभावना परिलक्षित करता है कि नाट्यशास्त्र की रचना के समय आन्ध्र और द्रविड़ जनपदों का कुछ भाग पूर्णत: सभ्भ्य नहीं हो पाया होगा। यह समय ईस्वी पूर्व ही हो सकता है।

(iii) भाषाशैली (संस्कृत एवं प्राकृत)

नाट्यशास्त्र में संस्कृत और प्राकृत भाषा का जो स्वरूप प्राप्त होता है, वह अश्वघोष के काव्यों में प्रयुक्त भाषा की अपेक्षा उत्तरवर्ती एवं विकसित प्रतीत होता है। इस तथ्य के आधार पर नाट्यशास्त्र को चतुर्थ शताब्दी के पूर्व तथा प्रथम शताब्दी के बाद का ग्रन्थ माना जाना चाहिए किन्तु रेनाल्ड महोदय इस ग्रन्थ के विविध प्रसंगों में प्रयुक्त संस्कृत भाषा के स्वरूप के आधार पर इसे ईसा के प्रथम शताब्दी के प्रारम्भिक काल का स्वीकार करते हैं।

टिप्पणी

(iv) नाट्यशास्त्र में प्राचीन काव्यशास्त्र की रूपरेखा

नाट्यशास्त्र में अलंकार, छन्द, गुण-दोष आदि काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के विवेचन द्वारा भी इसके काल का अनुमान किया जा सकता है

अलंकार

नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत द्वारा उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक - इन चार अलंकारों की चर्चा की गई है। आचार्य भामह एवं दण्डी के काल तक इनकी संख्या चालीस पहुँच गयी। इस प्रकार कुल चार ही अलंकारों का उल्लेख नाट्यशास्त्र की अतिप्राचीनता का द्योतक है।

छन्द

नाट्यशास्त्र में अलंकार की अपेक्षा छन्द का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। छन्दशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थों में वर्णित छन्द नाट्यशास्त्र के छन्दों की अपेक्षा अर्वाचीन प्रतीत होते हैं। नाट्यशास्त्र में एक ओर अलंकारों की न्यूनता तथा दूसरी ओर छन्दों की अधिकता से यह सिद्ध होता है कि नाट्यशास्त्र उस काल की रचना है जब केवल चार अलंकार उद्घातिट थे।

बाह्य साक्ष्य

नाट्यशास्त्र के अन्त: साक्ष्यों के आधार पर ग्रन्थ के रचनाकाल की ऊपरी सीमा का अनुमान किया जा सकता है तथा भास, अश्वघोष, कालिदास आदि प्रसिद्ध नाटककारों की रचनाओं एवं अन्य ग्रन्थों के आधार पर नाट्यशास्त्र के रचनाकाल की नीचे की सीमा का अनुमान किया जा रहा है जो बाह्य साक्ष्य में परिगणित होते हैं-

(i) नाट्यशास्त्र : अश्वघोष और भास के नाटक

अश्वघोष बौद्ध कवि थे, जिन्होंने शारिपुत्रप्रकरण नामक प्रसिद्ध नाट्य की रचना की। इस ग्रन्थ पर नाट्यशास्त्र में निरूपित प्रकरण नामक रूपक-भेद का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। अश्वघोष का समय ईसा का प्रथम शताब्दी माना जाता है, अत: नाट्यशास्त्र को इसके पूर्व का माना जाना युक्त होगा।

नाटककार भास द्वारा अपने तेरह नाटकों में नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नियमों की अवहेलना की गयी है। परन्तु उनकी रचनाओं में यह प्रभाव यत्र-तत्र दिखाई देता है। अत: भास पर नाट्यशास्त्र के प्रभाव की संभावना के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय दूसरी शताब्दी से पूर्व अवश्य हो सकता है।

टिप्पणी

(ii) नाट्यशास्त्र और कालिदास

महाकवि कालिदास द्वारा विक्रमोर्वशीय में भरत को नाट्यशास्त्र का प्रवर्त्तक, आठ रसों का प्रतिपादक तथा देवताओं के समक्ष अभिनय का प्रयोक्ता कहा है तथा नाट्य की अष्टरसाश्रयिता का स्पष्ट उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त रघुवंश एवं कुमारसम्भव में भी नाट्यशास्त्र का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। अतः नाट्यशास्त्र का प्रणयन कालिदास से बहुत पहले हो चुकाथा।

(iii) नाट्यशास्त्र और गाथासप्तशती

हाल कृत गाथासप्तशती में उपगूह्य श्रृंगाराभिनय की तुलना नाट्य के पूर्वरंग से की गयी है। यह प्रसंग नाट्यशास्त्र के पंचम अध्याय में की गयी है। गाथासप्तशती की रचना 200 से 400 ईस्वी के मध्य मानी जाती है, अतः नाट्यशास्त्र की रचना निःसन्देह इससे पूर्व की होगी।

(iv) नाट्यशास्त्र और स्मृति-साहित्य

याज्ञवल्क्य-स्मृति में आचार्य भरत का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसमें सात प्रकार के अवैदिक गीतों का वर्णन नाट्यशास्त्र के अनुसार है। इस आधार पर नाट्यशास्त्र का समय ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी के बाद का सही माना जा सकता है।

(v) नाट्यशास्त्र तथा अग्निपुराण

अग्निपुराण में वर्णित काव्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय विषयों एवं नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित विषयों के मध्य साम्य दिखाई देता है। यद्यपि कतिपय आचार्यों द्वारा यह मत प्रस्तुत किया गया है कि भरत द्वारा अग्निपुराण को उपजीव्य बनाकर नाट्यशास्त्र की रचना की गई किन्तु पी. वी. काणे महोदय द्वारा इस मत के विरोध में नाट्यशास्त्र को अग्निपुराण से पूर्व का अर्थात् द्वितीय शताब्दी का बताया गया है।

(vi) नाट्यशास्त्र और विष्णुधर्मोत्तरपुराण

विष्णुधर्मोत्तरपुराण पर नाट्यशास्त्र का स्पष्ट प्रभाव है। अतः नाट्यशास्त्र का रचनाकाल विष्णुधर्मोत्तरपुराण के बहुत पहले का माना जाना चाहिए। क्योंकि विष्णुधर्मोत्तर का रचनाकाल 400 से 500 ईस्वी के मध्य माना गया है, अतः नाट्यशास्त्र का समय उससे पूर्व द्वितीय शताब्दी का मानना युक्ति संगत प्रतीत होता है।

उपर्युक्त साक्ष्य के आधार पर यह स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र का समय भास, अश्वघोष, कालिदास, स्मृतिग्रन्थ तथा अग्निपुराण से पूर्व का रहा है। नाट्यशास्त्र का वर्तमान स्वरूप प्रथम शताब्दी में प्राप्त होता है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा पूर्व पंचम शताब्दी से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी के मध्य माना जा सकता है।

पाठगत प्रश्न 2.1

1) नाट्यशास्त्र के रचनाकाल के विषय में ग्रन्थ के प्रथम फ्रेंच सम्पादक का नाम उद्धृत कर उनका मत प्रस्तुत करें।

2) प्रो. सिल्वा लेवी नाट्यशास्त्र को किस काल का स्वीकारते हैं?

3) समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति तथा ऐहोल अभिलेख में कौन-से क्षेत्रों के नाम उल्लिखित हैं?

4) जैकब एवं कीथ ने नाट्यशास्त्र को किस काल का बताया है?

5) नाट्यशास्त्र में उल्लिखित पूर्ववर्ती आचार्यों का नाम बताइए।

6) 'महाग्रामणी' शब्द का अभिनवगुप्त द्वारा क्या अर्थ लिया गया है?

7) नाट्यशास्त्र में किन जातियों का नामोल्लेख प्राप्त होता है?

8) नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त भाषाओं का प्रतिपादन करें।

9) नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत द्वारा किन अलंकारों की चर्चा की गई है?

10) किस नाटककार के तेरह नाटकों में नाट्यशास्त्र के नियमों की अवहेलना की गयी है?

11) किसी स्मृतिग्रन्थ में भरत का स्पष्ट उल्लेख किया गया है?

12) कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में भरत के विषय में क्या कहा है?

13) विष्णुधर्मोत्तर पुराण का रचनाकाल क्या माना गया है?

2.2 नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय

भारतीय साहित्य परम्परा में नाट्यशास्त्र एक क्रान्तिकारी ग्रन्थ रहा है। इस ग्रन्थ में नाट्य की विविध विधाओं का सांगोपांग विवेचन प्राप्त होता है। भरतमुनि के मतानुसार लोक का जो यह सुख-दुःखात्मक स्वभाव जब अंगादि अभिनयों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है तो उसे 'नाट्य' कहा जाता है और नाट्य का शास्त्र 'नाट्यशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नाट्यशास्त्र में नाट्य का अर्थ 'भरत' तथा उनके सहायक भी 'भरत' रूप में वर्णित है तथा भरतों का शास्त्र भरतशास्त्र या नाट्यशास्त्र कहा गया। इसके अतिरिक्त भाषा, वर्ण, उपकरण, नाना प्रकृति सम्भव वेश, वय, कर्म और चेष्टा आदि को भरण अर्थात् धारण करने के कारण

टिप्पणी

अभिनेता या नट 'भरत' कहे जाते थे। इस प्रकार भरतों अर्थात् नटों के शास्त्र शासन के उपायभूत ग्रन्थ का नाम 'नाट्यशास्त्र' है- भरतानां नटानां शास्त्रं शासनोपायं ग्रन्थम्। कोषग्रन्थ तथा व्याकरणशास्त्र के अनुसार भी भरत शब्द का अर्थ 'नट' कहा जाने लगा।

आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा नटसूत्र, भरतसूत्र, भरतशास्त्र, नटशास्त्र, नटशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा नाट्यवेद - ये सभी नाट्यशास्त्र के अपर नाम हैं। प्राचीन ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र की दो संहिताओं का उल्लेख मिलता है- एक द्वादशसाहस्री संहिता और दूसरी षट्साहस्री संहिता। प्रो. रामकृष्ण कवि के अनुसार द्वादशसाहस्री संहिता की रचना वृद्धभरत तथा उसको संक्षिप्तरूप नाट्यशास्त्र षट्साहस्री रूप में भरतमुनि द्वारा प्रस्तुत की गई। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की टीका में भी दोनों संहिताओं का उद्धरण प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में द्वादशसाहस्री नाट्यशास्त्र का एक बृहद् रूप अवश्य विद्यमान था जिसका संक्षिप्त रूप छः हजार श्लोकों (षट्साहस्री) का वर्तमान नाट्यशास्त्र है। इसी पर अभिनवगुप्त द्वारा अभिनव भारती टीका लिखी गयी है। अभिनव भारती टीका की प्रस्तावना तथा प्रथम भाग में प्राप्त वर्णन के अनुसार नाट्यशास्त्र के कुल छत्तीस (36) अध्याय थे।

नाट्यशास्त्र में मुद्रित संस्करणों में नाट्यशास्त्र के अध्यायों की संख्या, श्लोक संख्या, एवं उनके क्रम में भिन्नता देखने को मिलती है। नाट्यशास्त्र के काशी संस्करण में छत्तीस अध्याय और काव्यमाला संस्करण में सैंतीस अध्याय हैं। अभिनवगुप्त अभिनव भारती के साथ प्रकाशित गायकवाड़ संस्करण में भी सैंत्तीस अध्याय हैं।

नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित विषयों के आधार पर इसे एक संग्रह-ग्रन्थ माना जा सकता है। इसमें अनेक नटों, भरतों, नाट्याचार्यों के विचारों एवं सिद्धान्तों का संग्रह किया गया है। विद्वान शारदातनय के मतानुसार यह सम्भवतः पाँच भरतों के सिद्धान्तों का संग्रहण रूप है। कोष-ग्रन्थों में भरत को नट का पर्याय माना गया है जिसके अनुसार भरत का अर्थ नट है और नटसूत्र के रचयिता हैं भरत। तदनन्तर नाट्य प्रयोक्ता को भी नट या भरत कहा जाने लगा। सम्भव है कि उस काल में नटों (भरतों) को समाज के अधम वर्ग में परिगणित किया जाता हो तथा नाट्यशास्त्र के रचयिता द्वारा नाट्यकला को सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित करने हेतु प्रतिपाद्य विषय के साथ धार्मिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों का समावेश किया गया। नाट्यशास्त्र के प्रथम पाँच अध्याय इसी दृष्टि की ओर संकेत करते हैं।

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्योत्पत्ति के वर्णन के साथ नाट्य के स्वरूप एवं महत्व पर भी विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय में नाट्यमण्डप या रंगमंच के निर्माण की विधि तथा इसके अंग जैसे नेपथ्यग्रह, रंगपीठ, रंगशीर्ष, मत्तवारणी, स्तम्भ, दारू कर्म आदि का विस्तृत निरूपण किया गया है। तृतीय अध्याय नाट्यमण्डप की रक्षा हेतु देवता-स्तुति, पूजा-विधि एवं वर प्राप्ति का वर्णन प्रस्तुत करता है। चतुर्थ अध्याय में तण्डु द्वारा प्रयुक्त ताण्डव नृत्य के वर्णन के साथ करणों, अंगहारों एवं रेचकों का विस्तार पूर्वक निरूपण किया गया है। यहाँ ताण्ड़व की उत्पत्ति एवं स्वरूप तथा नृत्त एवं नृत्य-प्रयोग का विधान किया गया

टिप्पणी

है। इस अध्याय में गीत एवं वाद्य-यन्त्रों की प्रयोग विधि की विस्तृत चर्चा की गयी है। पंचम अध्याय में पूर्वरंग विधान का सांगोपांग वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ नान्दी, प्रस्तावना, ध्रुवा एवं चित्रपूर्वरंग-विधि का भी निरूपण किया गया है। नृत्तशास्त्र की दृष्टि से चतुर्थ तथा नाट्य-प्रयोग एवं रचना की दृष्टि से पंचम अध्याय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। षष्ठ अध्याय में रस-तत्त्व का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। इसमें ऋषियों द्वारा पूछे गये पाँच प्रश्नों का वर्णन तथा रसों का नामकरण, संग्रह, कारिका और निरूक्त का स्वरूप, नाट्यसंग्रह, रस निष्पत्ति, रसों की संख्या तथा स्थायीभाव सम्बन्धी विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की गयी है। इसी श्रृंखला में आगे के सप्तम् अध्याय में भावों का शास्त्रीय दृष्टि से प्रतिपादन किया गया है जो साहित्य शास्त्र में विशिष्ट स्थान रखता है।

अष्टम अध्याय का सम्बन्ध अभिनय से है। यहाँ चार प्रकार के अभिनय के विषय में वर्णन करने के अनन्तर शिर, नेत्र, भ्रु, कपोल, ओष्ठ, मुख, नासिका, ग्रीवा आदि उपांगों के अनुप्रयोग की भी चर्चा की गयी है। नवम् अध्याय में हस्ताभिनय के अन्तर्गत संयुक्त एवं असंयुक्त हस्तमुद्राओं के साथ नृत्तहस्त मुद्राओं का भी विस्तृत वर्णन है। दशम अध्याय में वृक्ष, पार्श्व, कटि, उरू, जंघा तथा पैरों से किया जाने वाले अभिनयों का निरूपण किया गया है। एकादश अध्याय में चारी निरूपण के अन्तर्गत आकाशचारी तथा भौमचारी के वर्णन के साथ स्थानकों का प्रतिपादन किया गया है। द्वादश अध्याय में चारियों के संयोग से निर्मित मण्डलों के लक्षण, भेद तथा प्रयोग आदि का भी वर्णन प्राप्त होता है। त्रयोदश अध्याय में गति-प्रचार का वर्णन है जिसके अन्तर्गत पात्रों के विविध प्रकार की गतियों का विवेचन है। चतुर्दश अध्याय में कक्ष्या विभाग तथा प्रवृत्ति व्यंजन के प्रतिपादन के साथ लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी विधाओं का वर्णन है। पंचदश से एकोनविंश अर्थात् पन्द्रह से उन्नीसवें अध्याय तथा वाचिक अभिनय के सभी पक्षों का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। पन्द्रहवें और सोलहवें अध्याय में वाचिक अभिनय के उपयोगी व्याकरणात्मक विषयों तथा छन्दों का सांगोपाङ्ग विवेचन किया गया है। सत्रहवें अध्याय में वाचिक अभिनय के अन्तर्गत काव्य-लक्षणों, अलंकारों, दोष-गुणों आदि का विधिवत् वर्णन किया गया है। अट्ठारहवें अध्याय में चतुर्विध भाषाओं तथा सात प्रकार की विभाषाओं का विस्तृत वर्णन है।

उन्नीसवें अध्याय में काकू, स्वर तथा उनके प्रकारों एवं पाठ्य के गुण-दोष आदि का सूक्ष्म अनुशीलन किया गया है।

बीसवें अध्याय में दस रूपकों के विस्तृत विवेचन के साथ दस लास्याङ्गों का भी प्रतिपादन किया गया है। इक्कीसवें अध्याय में इतिवृत्त-विधान, पंच सन्धियों, पंच अवस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों एवं अर्थोपक्षेपकों का विस्तृत एवं सांगोपांग विवेचन किया गया है। बाइसवें अध्याय में आहार्य अभिनय के अन्तर्गत नेपथ्य-विधान, नेपथ्य-भेद तथा उससे सम्बन्धित अन्य विषयों का निरूपण किया गया है। तेइसवें एवं चौबीसवें अध्याय में सामान्य अभिनय का सांगोपांग विवेचन है। इसमें सात्विक अभिनय के अन्तर्गत स्त्रियों के स्वभावज एवं अयत्नज अलंकारों,

टिप्पणी

हाव-भाव आदि अंगज अलंकारों, रस के भावों के अनुसार शरीरभिनय, काम की दस अवस्थाओं, दूतीप्रेक्षण तथा नायिका-भेद इत्यादि विषयों का विशद वर्णन किया गया है। पच्चीसवें अध्याय में वैशिक पुरुषों के गुणों, उसके मित्र और दूती आदि स्त्रियों की चेष्टाओं, स्त्रियों की यौवन की चार अवस्थाओं, प्रेमियों के प्रकारों इत्यादि का विस्तृत विवेचन किया गया है। छब्बीसवें अध्याय में चित्राभिनय का विधिवत् विवेचन प्राप्त होता है। सत्ताइसवाँ अध्याय दैवी एवं मानुषी सिद्धियों के वर्णन के साथ नाट्य के निर्णायकों, परीक्षकों, प्रेक्षकों आदि के गुणों एवं योग्यता आदि का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करता है।

अट्ठाइसवें अध्याय से चौत्तीसवें अध्याय पर्यन्त संगीतशास्त्र के विषय में विशद विवेचन किया गया है। अट्ठाइसवें अध्याय में चार प्रकार के वाद्यों, सात स्वरों तथा उसके चार प्रकारों, ग्राम, मूर्च्छना, श्रुतियों एवं जातियों का निरूपण किया गया है। उन्नीसवें अध्याय में तदवाद्यों से सम्बन्धित जातियों के रसाश्रित प्रयोग, चार प्रकार के वर्ण एवं उन पर आश्रित तैंतीस अलंकारों, वीणावादन के भेदों और बहिर्गीत के प्रकारों को विस्तार पूर्वक बताया गया है।

तीसवें अध्याय में सुषिर वाद्यों का विधिवत् विवेचन किया गया है। इकतीसवें अध्याय के अन्तर्गत ताल और लय निरूपण के साथ आसारित, वर्धमान आदि गीत-विधाओं का बृहद वर्णन किया गया है। बत्तीसवें अध्याय में ध्रुवाओं का सांगोपांग वर्णन किया गया है। तैंतीसवाँ अध्याय गायक और वादकों के गुण, दोष एवं योग्यता आदि पर विचार प्रस्तुत करता हैं। चौत्तीसवाँ अध्याय में मृदंग आदि अवनद्ध वाद्यों तथा उनके भेदों, विधियों तथा वाद्यों के अधिदेवताओं का विधिवत् निरूपण किया गया है। पैंत्तीसवें अध्याय में पुरुष और स्त्रियों की तीन प्रकृतियों, चार प्रकार के नायकों तथा अन्त:पुर के परिजनों का निरूपण किया गया है। इसे पात्रों की भूमिकाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। छत्तीसवें एवं सैंत्तीसवें अध्यायों के अन्तर्गत नाट्यावतरण की कथा वर्णित है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में नाट्य-विद्या एवं अन्य सम्बन्धित कलाओं का विशद् विवेचन किया गया है। प्रतिपाद्य विषयों की विविध ता, व्यापकता, महत्ता और स्पष्टता की दृष्टि से विश्व नाट्य-साहित्य में एक महान् ग्रन्थ अद्वितीय ही माना जाता है।

पाठगत प्रश्न 2.2

1. नाट्यशास्त्र के अपर नाम बताइए।
2. 'भरत' शब्द का क्या अर्थ हैं?
3. नाट्यशास्त्र की दो संहिताओं का नामोल्लेख करें।
4. नाट्यशास्त्र में कुल कितने अध्याय हैं?
5. नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध संस्करण कौन-से हैं?

टिप्पणी

6. नाट्योत्पति का वर्णन नाट्यशास्त्र के किस अध्याय में मिलता है?
7. नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नाट्यमण्डप के अंगों को नामोल्लेख करें।
8. रस तत्त्व का शास्त्रीय विवेचन सर्वप्रथम कहाँ प्राप्त होता है?
9. नाट्यशास्त्र में आंगिक अभिनय के किन उपांगों के प्रयोग की चर्चा की गयी हैं?
10. नाट्यशास्त्र के इक्कीसवें अध्याय की प्रतिपाद्य-वस्तु की चर्चा करें।
11. संगीतशास्त्र का विवेचन किन अध्यायों में प्राप्त होता है?
12. पात्रों की नाट्य में भूमिका कहाँ वर्णित है?

2.3 नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रमुख विषय

विषय वस्तु की व्यापकता, शैली और स्वरूप की विविधता एवं विकास की विभिन्न अवस्थाओं की दृष्टि से नाट्यशास्त्र विश्व साहित्य का एक विलक्षण ग्रन्ध्थ है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के फलस्वरूप परवर्ती आचार्यों एवं शास्त्रकारों द्वारा नाट्यशास्त्र को 'नाट्यवेद' तथा नाट्यप्रणेता भरत को 'मुनि' के रूप में स्मरण किया गया है। नाट्यशास्त्र में कुल छत्तीस अध्यायों में लगभग छः हजार श्लोक हैं। जिनमें मुख्यत: नाट्य सिद्धान्तों और प्रयोगों, नृत्य, संगीत, अभिनय एवं काव्य शास्त्रीय तत्वों का विधिवत् विवेचन किया गया है। नाट्यशास्त्र में जहाँ एक ओर भवन-निर्माण कला और विज्ञान से सम्बन्धित नाट्यमण्डप का विधान है वहीं दूसरी ओर छन्द, अलंकार, रस तथा अभिनय विभिन्न मुद्राओं आदि का भी सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत किया गया है, जिनके द्वारा मनुष्य के आन्तरिक भावों का प्रकाशन होता है। इसके अतिरिक्त संगीत-नृत्य आदि कलाओं का स्वतन्त्र रूप भी यहाँ प्रस्तुत किया गया है। भरत की दृष्टि में नाट्य मानव-जीवन के सौन्दर्य तथा आनन्दोद्बोधन का प्रतिफल है। अतएव नाट्य जैसे व्यापक तत्त्व का शास्त्रीय ग्रन्थ भी उतना ही विस्तृत और गवेषणात्मक रूप में प्रतिपादित किया गया है। अब यहाँ नाट्यशास्त्र के प्रमुख विषयों पर विचार किया जा रहा है-

1. नाट्यमंडप/प्रेक्षागृह

भरत विरचित नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में नाट्यमण्डप का विस्तृत विवेचन किया गया है। आचार्य भरत के अनुसार अभिनय के लिए आकार की दृष्टि से तीन प्रकार के प्रेक्षागृह का विधान किया गया है- विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। विकृष्ट नाट्यमण्डप आयताकार, चतुरस्र वर्गाकार और त्र्यस्र त्रिकोण होता है। ये ही तीनों प्रकार के नाट्यमण्डप ज्येष्ठ, मध्यम और अवर के भेद से कहे गये हैं अर्थात् विकृष्ट नाट्यमण्डप ज्येष्ठ, मध्यम और अवर, चतुरस्र नाट्यमण्डप ज्येष्ठ मध्यम और अवर, इन नौ प्रकार में विभक्त है। अणु, रज, हस्त-दण्ड आदि के माध्यम से इन नाट्यमण्डपों

का माप होता है जिनका मान भरतमुनि द्वारा विधिवत् निर्धारित किया गया है। उनके द्वारा केवल तीन ही प्रकार के नाट्यमण्डपों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

टिप्पणी

इनमें से ज्येष्ठ नाट्यमण्डप देवताओं के लिए होता है और इसकी लम्बाई एक सौ आठ (108) हाथ की होती है। मध्यम नाट्यमण्डप चौसठ हाथ का होता है जिसका विधान मनुष्यों के लिए किया गया है। अवर नाट्यमण्डप त्रिभुजाकार और बत्तीस हाथ का होता है। मध्यम नाट्यमण्डप राजाओं तथा अवर प्रेक्षागृह साधारण प्रजाओं के लिए होता है। भरत ने उपर्युक्त तीन प्रकार के प्रेक्षागृहों में मध्यम आकार वाले प्रेक्षागृहों को सर्वोत्तम माना है, क्योंकि मध्यम प्रेक्षागृहों में संवाद, गीत आदि स्पष्टता से सुनाई देते हैं।

नाट्यमण्डप के अनन्तर उसके कतिपय अंगों का निरूपण नाट्यशास्त्र में किया गया है-

(क) रंगपीठ एवं रंगशीर्ष

भरतमुनि द्वारा प्रेक्षागृह के विभिन्न भागों के वर्णन के प्रसंग में रंगशीर्ष का विधान किया गया है। यहाँ रंगशीर्ष और रंगपीठ पर्याय माने गये हैं। यद्यपि अभिनवगुप्त एवं उनके अनुयायी आचार्यों द्वारा रंगपीठ एवं रंगशीर्ष की पृथकता के समर्थन में मत प्रस्तुत किये गये हैं। रंग अर्थात् रंगभूमि का शीर्षस्थानीय होने के कारण इसे रंगशीर्ष कहा जाता है। अभिनवभारती टीका के अनुसार रंगशीर्ष अथवा रंगपीठ के पिछले हिस्से को षड्दारूक से अलंकृत करना चाहिए और उसक ऊपर काष्ठखण्डों से सुसज्जित कर उसे अलंकरणों से अलंकृत किया गया भाग ही रंगशीर्ष है।

(ख) षड्दारूक

नाट्यशास्त्र में रंगशीर्ष में छः विशेष काष्ठखण्ड लगाने की विधि को 'षड्दारूक' कहा गया है। अभिनवगुप्त कृत अभिनव भारती में षड्दारूक के सम्बन्ध में तीन व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। ऊह, प्रत्यूह, निर्यूह, व्यूह (संजवन), संव्यूह (अनुबन्ध) और वुहर - इन छः प्रकार के दारूकर्म को षड्दारूक कहा गया है। यह षड्दारूक अलंकरण रंगमंच की शोभा-वृद्धि के लिए होते हैं।

(ग) दारूकर्म

भरतमुनि के अनुसार नाट्मण्ड़प के निर्माण के पश्चात् दारूकर्म अर्थात् लकड़ी का काम प्रारम्भ करना चाहिए। नाट्यशास्त्र ने नाट्यमण्डप में स्तम्भ, द्वार, खिड़की आदि द्वारा सजावट की जाती है तथा नाट्यगृह के सौन्दर्य को बढ़ाया जाता है।

टिप्पणी

(घ) मत्तवारणी

मत्तवारणी का अर्थ बरामदा है। कोश तथा साहित्य ग्रन्थों में 'मत्तवारण' शब्द मिलता है जिसका अर्थ है 'वरण्डा'। रंगपीठ के सामने डेढ़ हाथ ऊँची दीवार पर हाथियों की पंक्ति चित्रित होती है, इसे ही मत्तवारणी कहते हैं। यह मत भरत एवं अभिनवगुप्त की व्याख्या से भिन्न होने के कारण सर्वमान्य नहीं है। अभिनवगुप्त के अनुसार रंगपीठ के दोनों और नाट्यमण्डप के बाहर चार स्तम्भों से युक्त आठ हाथ लम्बी और आठ हाथ चौड़ी समचतुरस्र मत्तवारणी होती है। अन्य व्याख्या के अनुसार रंगपीठ और रंगशीर्ष दोनों के बगल में मत्तवारणी का विधान है।

(ङ) यवनिका या जवनिका

रंगपीठ के पीछे यवनिका होती है। नाट्यशास्त्र के कुछ संस्करणों में जवनिका का भी पाठ प्राप्त होता है। जब रंगमंच पर कोई पात्र प्रवेश करता है तो पर्दा हटा दिया जाता है, इसी को यवनिका कहा गया है। अभिनवगुप्त द्वारा रंगपीठ और रंगशीर्ष के मध्य यवनिका का विधान किया गया है।

नाट्यमण्डप के अन्य अंगों में नेपथ्यगृह, द्वार, स्तम्भ, पुष्पांजलि आदि का भी नाट्यशास्त्र में विस्तृत विवेचन किया गया है। नाट्य के सफल प्रदर्शन हेतु तथा सभी वर्ग के लोगों को सुखपूर्वक रसानुभूति कराने हेतु रंगमंच अथवा नाट्यमण्डप का निर्माण अत्यावश्यक हैं।

2. इतिवृत्त (कथावस्तु)

नाट्य में तीन प्रधान तत्त्व है- वस्तु, नेता और रस। वस्तु को ही कथावस्तु, कथानक, इतिवृत्त, चरित आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। इतिवृत्त को नाट्य का शरीर कहा गया है और रस को उसकी आत्मा। नाट्य में इतिवृत्त दो प्रकार का होता है - अधि कारिक एवं प्रासंगिक। मुख्य कथावस्तु को अधिकारिक कहते हैं। यह इतिवृत्त सम्पूर्ण प्रबन्ध में व्याप्त रहता है और फलोन्मुख होता है। इसके अंगभूत इतिवृत्त को प्रासंगिक कहते हैं। यह मुख्य कथा की सहायक होता है अर्थात् प्रधान नायक के कार्य सिद्धि में सहायक होता है प्रासंगिक कथावस्तु के दो भेद होते हैं - पताका और प्रकरी। यहाँ आधिकारिक कथा रामायण के अन्तर्गत राम - सीता का प्रणयन तथा प्रासंगिक कथा सुग्रीव का वृतान्त है। इसमें सानुबन्ध दूर तक चलने वाली प्रासंगिक कथा को पताका कहते हैं। यथा सुग्रीव की कथा। वहीं एकदेशस्थ अर्थात् थोड़ी दूर तक चलने वाली वृत्त को 'प्रकरी' कहते है, यथा - शबरी का वृतान्त।

नाटक के इतिवृत्त के पूर्णतः विकास की पाँच अवस्थाएं होती हैं - आरम्भ, प्रयत्न, प्रात्याशा, नियताप्ति, फलागम। इसी श्रृंखला में नाट्य शरीर रूप इतिवृत्त के पाँच तत्त्व

हैं - बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। पंच अवस्थाओं और पाँच सन्धियों का सृजन होता हैं। ये पाँच सन्धियाँ हैं - मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। ये सभी तत्त्व इतिवृत्त रूप नाट्य-शरीर के अभिन्न अंग हैं। भरतमुनि ने इतिवृत्त के प्रसंग के अन्तर्गत पाँच अर्थोपक्षेपकों का भी उल्लेख किया गया है जिनके द्वारा कथा में श्रृंखलाबद्धता आती है। ये अर्थोपक्षेपक हैं - विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंकमुख। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में कथावस्तु के विषय में विशद् विवेचन प्रस्तुत किया गया है-

3. पात्र-विधान

नाट्य में पात्रों का विशेष महत्व है। पात्रों के शील-स्वभाव, आचार-विचार, व्यवहार, प्रकृति की विभिन्नता एवं विविधता की पृष्ठभूमि में कथावस्तु का विकास होता है। जैसे- नायक, नायिका, प्रतिनायक, विदूषक, चेट, शकार, विट, कंचुकी, प्रतिहारी, दूत इत्यादि। मानवीय प्रकृति के आधार पर नायक के चार प्रकार बताये गये हैं - धीरललित, धीरप्रशान्त, धीरोदात्त और धीरोद्धत्त। इसी प्रकार नाट्य की प्राणवाहिनी ध ारा रूप नायिका के भी तीन प्रकार हैं - स्वकीया, परकीया और सामान्या।

4. रस-तत्त्व

इस भारतीय साहित्य-विद्या का महत्वपूर्ण विषय होने के साथ-साथ आचार्य भरत द्वारा नाट्य में लक्षण, गुण, दोष और अलंकार आदि को परिकल्पना रसोद्बोधन के लिए ही की गयी है। आचार्य भरत को रास की आदि प्रतिष्ठाता माना गया है किन्तु नाट्यशास्त्र में ही भरत से पूर्ववर्ती रस-परम्परा के आचार्यों का स्पष्ट संकेत मिलता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार रस नाट्य-रचना के लिए इतना महत्वपूर्ण है कि उसके बिना कोई भी काव्यार्थ ही प्रवृत्त नहीं होता है। नाट्य में रस को सुखात्मक या दुःखात्मक से भिन्न आनन्दरूप माना गया है। काव्यशास्त्र में भरत द्वारा प्रस्तुत रस-निष्पत्ति होती है, यह नाट्यशास्त्र में उद्धृत रस निष्पत्ति का सिद्धान्त है। विभाग, अनुभाव आदि से उपचित स्थायीभाव रस के रूप में निष्पन्न होता है जिसके आस्वादन से सुहृदय जन आनन्द की प्राप्ति करते हैं। यह आस्वाद ही नाट्यरस है। भरतमुनि ने कुल आठ रस माने है जिनमें अभिनवगुप्त द्वारा एक नौवाँ रस सम्मिलित किया गया है - श्रृंगार, वीर, करूण, रौद्र, अद्भुत, भयानक, वीभत्स, हास्य तथा शान्त।

5. भाव

भाव शब्द से चित्तवृत्ति विशेष विवक्षित है जिसका शास्त्रीय विवेचन भरतमुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में किया गया है। इस नाट्य का साध्य है और भाव उसका साधन। वस्तुतः मनुष्यमात्र के हृदय में चित्तवृत्ति के रूप में स्थित होने के कारण ये 'भाव' कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त वाचिक, आंगिक और सात्त्विक भावों से युक्त काव्यार्थों को यह भावित करते हैं, ऐसा आचार्य अभिनवकृत अभिनव भारती में व्याख्यात किया गया है।

टिप्पणी

भाव शब्द व्याप्ति-बोधक है तथा नाट्य-प्रयोग के प्रसंग में कवि, प्रयोक्ता और प्रेक्षक तीनों में ही व्याप्त रहता है। यह नाना प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध रसों को भक्ति करता है जिससे सामाजिकों को रस की प्रतीति होती है। यह भाव, विभाव और अनुभाव से युक्त होता है। नाट्यशास्त्र में विभाग, अनुभाव, व्याभिचारीभाव तथा सात्विक भाव पर विस्तृत विवेचन किया गया है।

6. अभिनय

अभिनय शब्द की निष्पत्ति 'अभि' उपसर्गपूर्वक 'नी' धातु से 'अच्' प्रत्यय द्वारा होती है जिसका अर्थ नाट्य-प्रयोग के अर्थों में प्रेक्षकों के समक्ष प्रदर्शन करना है। अवस्था का अनुकरण जिसमें अभिनेता द्वारा शरीर, मन एवं वाणी से राम आदि अभिनेय की अवस्थाओं का अनुकरण ही 'अभिनय' कहलाता है। अभिनेता अभिनेय की अनुकृति द्वारा रंगमंच पर प्रकृत वस्तु को कला-कौशल के साथ प्रस्तुत करता है, जिससे सामाजिकों में यथार्थ का अनुभव होता है। नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत अभिनय के चार प्रकारों का उल्लेख किया गया है - आंगिक, वाचिक आहार्य और सात्त्विक।

7. नृत्यकला

नाट्यशास्त्र में नृत्य का सांगोपांग निरूपण किया गया है। यह स्वभाव से ही आह्लाद-व्यंजक एवं मंगलकारी होता है जिससे नाट्य में शोभावृद्धि होती है। नृत्यकला के अन्तर्गत जिन क्रियाओं का सम्पादन किया जाता है वे स्थान, चारीकरण, अंगहार और रेचक हैं। नाट्यशास्त्र में दो प्रकार के नृत्यों का वर्णन किया गया है - ताण्डव और लास्य। ताण्डव का सम्बन्ध शिव तथा लास्य का सम्बन्ध पार्वती से माना जाता है। नाट्यशास्त्र में तण्डु द्वारा उपदिष्ट पुरुष-प्रयोज्य सुकुमार नृत्य को 'ताण्डव' तथा पार्वती द्वारा उपदिष्ट स्त्री-प्रयोज्य सुकुमार नृत्य को 'लास्य' कहा गया है। ताण्डव वीर-रस प्रधान तथा लास्य श्रृंगार-रस प्रधान नृत्य माने गयेहैं।

8. गीत एवं वाद्यं

आचार्य भरत के मतानुसार नाट्य-प्रयोग की सिद्धि हेतु गीत एवं वाद्य का प्रयोग तथा ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। उनके द्वारा नाट्यशास्त्र में गीत को नाट्य के प्रमुख अंगों में से एक मानकर वादन एवं नर्तन को उसका अनुगामी बताया गया है। नाट्य में गीत, नृत्य एवं वाद्य का संतुलित प्रयोग भारतीय नाट्यकला की अपनी विलक्षणता है जिसका परिवर्तित रूप वर्तमान काल के चलचित्रों एवं नाटकों में भी देखने को मिलता है। अभिनवगुप्त द्वारा गीत को नाट्यतत्त्व का प्राण बताया गया है जिसमें नाद, ग्राम, स्वर-वर्णालंकार, राग, ताल, लय, यति आदि तत्त्वों का समन्वय होता है। नाट्यशास्त्र में पदाश्रित गीतियों के चार भेद वर्णित हैं - मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता एवं मृदुला तथा स्वराश्रित पाँच प्रकार की गीतियाँ निरूपित हैं - शुद्ध, भिन्न, गौड़ी, वेसरा तथा

साधारणी। इसके अतिरिक्त ध्रुवागान एवं उसके पाँच प्रकारों का प्रतिपादन भी नाट्यशास्त्र में किया गया है।

वाद्य भी संगीत की एक महत्वपूर्ण विद्या है जिसका प्रयोग नाट्य के किये जाने का विधान है। नाट्यशास्त्र के अनुसार चार प्रकार के वाद्य होते हैं – तत्, सुषिर, अवनद्ध तथा घन। इनमें तार वाले तन्त्रीवाद्यों को तत् (वीणा आदि), फूंककर बजाये जाने वाले बाँसुरी आदि सुषिर, चमड़े से मढ़े हुए मृदंग आदि को अवनद्ध तथा कांस्य आदि धातुओं से निर्मित करताल आदि वाद्यों का घन कहते हैं। नाट्यकला के अन्दर इन सभी वाद्यों का यथास्थान प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र के कतिपय प्रमुख विषयों का प्रतिपादन यहाँ किया गया है। इन तत्त्वों के अतिरिक्त भी नाट्यवृत्ति (भारती, सात्त्वती, कैशिकी एवं आरभटी), प्रवृत्ति (दाक्षिणात्या, आवंतिका, औड्रमागधी तथा पांचालमध्यमा), लोकधर्मी-नाट्यधर्मी इत्यादि का विशद विवेचन नाट्यशास्त्र में किया गया है। उपर्युक्त सभी तत्त्वों के समागम से ही नाट्य-कला सिद्ध एवं सार्थक मानी जाती है।

पाठगत प्रश्न 2.3

1. नाट्यशास्त्र में लगभग कितने श्लोक माने गये हैं?
2. भरतमुनि ने कितने प्रकार के नाट्यमण्डप माने हैं? नाम बताइए।
3. देवताओं के लिए कौन-सा प्रेक्षागृह निर्दिष्ट हैं?
4. भरतमुनि द्वारा स्ध्वीकृत सर्वोत्तम नाट्यगृह कौन-सा है?
5. नाट्यमण्डप के प्रमुख अंगों का नामोल्लेख करें।
6. कथावस्तु या इतिवृत्त के भेद कौन-कौन से हैं?
7. नायक कितने प्रकार का होता हैं? नाम बताइए।
8. रस-निष्पत्ति का सिद्धान्त क्या है? यह सर्वप्रथम किसके द्वारा दिया गया?
9. रस कितने हैं? नामोल्लेख करें।
10. ताण्डव और लास्य नृत्य क्या हैं? इनका सम्बन्ध किनसे माना जाता है?
11. वाद्य के कितने प्रकार हैं? उनके नाम बताइए।

आपने क्या सीखा

- नाट्यशास्त्र के काल निर्धारण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।
- फ्रेंच विद्वान पी. रेग्नो एवं उनके शिष्य जे. ग्रासे द्वारा नाट्यशास्त्र का काल द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व माना गया है।
- प्रो. सिल्वा लेवी इसे जूनागढ़ शिलालेख एवं नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त सम्बोधनवाचक शब्दों की समानता के आधार पर द्वितीय शताब्दी का स्वीकार करते हैं।
- कर्नल जैकब एवं ए.बी. कीथ द्वारा नाट्यशास्त्र को तृतीय शताब्दी की रचना माना गया है।
- नाट्यशास्त्र में विश्वकर्मा, बृहस्पति, नारद, तण्डु आदि पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया गया है।
- नाट्यशास्त्र में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का प्रयोग किया गया है।
- नाट्यशास्त्र में उपमा, यमक, रूपक एवं दीपक, इन चार अलंकारों की चर्चा की गयी है।
- भरत एवं नाट्यशास्त्र का स्पष्ट उल्लेख कालिदास, अश्वघोष, हाल (गाथा-सप्तशती), याज्ञवल्क्य स्मृति, अग्निपुराण तथा विष्णुधर्मोत्तरपुराण में देखने को मिलता है।
- नटसूत्र, भरतसूत्र, भरतशास्त्र, नटशास्त्र, नाटशास्त्र, नाट्यवेद आदि नाट्यशास्त्र के अपर नाम हैं।
- नाट्यशास्त्र की दो संहिताएँ हैं - द्वादशसाहस्री संहिता एवं षट्साहस्री संहिता।
- छः हजार श्लोकों की षट्साहस्री संहिता पर ही आचार्य अभिनवगुप्त की अभिनव भारती टीका प्राप्त होती है।
- नाट्यशास्त्र के काशी संस्करण में छत्तीस तथा काव्यमाला संस्करण में सैंतीस अध्याय हैं।
- नाट्यशास्त्र में आकार की दृष्टि से तीन रंगमण्डपों का विधान है - विकृष्ट, चतुरस्र एवं त्र्यस। ये पुनः ज्येष्ठ, मध्यम एवं अवर के भेद से विभक्त किये गये हैं।
- ज्येष्ठ नाट्यमण्डप देवताओं के लिए निर्दिष्ट है जिसकी लम्बाई 108 हाथ की होती है।
- मध्यम नाट्यमण्डप राजाओं के लिए प्रयुक्त माना गया है जिसकी लम्बाई 64 हाथ की होती है।

- अवर नाट्यमण्डप सामान्य प्रजाओं के लिए प्रयुक्त माना गया है जो 32 हाथ की होता है।
- रंगपीठ (रंगशीर्ष), बहुदारूक, दास्कर्म, मत्तवारणी, यवनिका आदि रंगमण्डप (नाट्यगृह) के अंग हैं।
- इतिवृत्त दो प्रकार की होती है - आधिकारिक एवं प्रासंगिक। प्रासंगिक के पुनः दो भेद हैं- पताका एवं प्रकरी।
- कथा वस्तु में पाँच अर्थप्रकृतियाँ, पाँच अवस्थाएँ तथा पाँच सन्धियाँ होती हैं।
- इतिवृत्त के अन्तर्गत पाँच अर्थोअर्थोपक्षेपक भी निर्दिष्ट होते हैं - विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार एवं अंकमुख
- नाट्य में नायक, नायिका, प्रतिनायक, विदूषक, शकार, चेट, विट, दूत, कंचुकी आदि पात्रों का विशिष्ट विधान होता है।
- विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है, यह भरत द्वारा उद्धृत रस सूत्र है।
- भरतमुनि ने कुल आठ रस माने है जिसमें शान्त रूप नौवाँ रस अभिनवगुप्त द्वारा समाहित किया गया है।
- अवस्था का अनुकरण 'अभिनय' है। यह चार प्रकार का होता है- आंगिक, वाचिक, आहार्य एवं सात्त्विक।
- ताण्डव नृत्य शिव से सम्बन्धित वीर रस प्रधान नृत्य है तथा पार्वती से सम्बन्धित लास्य श्रृंगार रस-प्रधान नृत्य है।
- नाट्य के अन्तर्गत नृत्य, गीत एवं वाद्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान होता है।

पाठान्त प्रश्न

1. रंगपीठ एवं रंगशीर्ष पर टिप्पणी लिखिए।
2. नाट्य-प्रयोग की सिद्धि हेतु गीत तथा वाद्य की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।
3. मन्तवारणी के विषय में अभिनव गुप्त का क्या मत है।

टिप्पणी

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

2.1

1. नाट्यशास्त्र के प्रथम फ्रेंच सम्पादक पी. रेग्नों था। उन्होंने आपने शिष्य जे.ग्रासे के साथ नाट्यशास्त्र को द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व का स्वीकार किया था।
2. द्वितीय शताब्दी ईस्वी
3. समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति तथा ऐहोल अभिलेख में 'नेपाल' और 'महाराष्ट्र' क्षेत्रों का नाम उल्लेखित है।
4. तृतीय शताब्दी ईस्वी
5. विश्वकर्मा, बृहस्पति, नारद एवं तण्डु आदि पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख है।
6. गणपति
7. कितार, वर्वर, आन्ध्र, द्रमिल (द्रविड़) काशी आदि दक्षिणात्य जातियों का उल्लेख है।
8. संस्कृत एवं प्राकृत भाषाएँ
9. उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक अलंकार
10. नाटककार भास
11. याज्ञवल्क्य स्मृति
12. कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में भारत को नाट्यशास्त्र का प्रवर्तक, आठ रसों का प्रतिपादक तथा देवताओं के समक्ष अभिनय का प्रयोक्ता कहकर नाट्य की अष्टरसाश्रयिता का स्पष्ट उल्लेख किया है।
13. विष्णुधर्मोत्तरपुराण का रचनाकाल 400 से 500 ईस्वी के मध्य का माना जाता है।

2.2

1. नटसूत्र, भरतसूत्र, भरतशास्त्र, नटशास्त्र, नाट्यवेद आदि।
2. 'नेट'

टिप्पणी

3. द्वादशसाहस्री संहिता एवं षट्साहस्री संहिता

4. छत्तीस अध्याय हैं।

5. काशी संस्करण (36 अध्याय), काव्यमाला संस्करण (37 अध्याय), गायकवाड़ संस्करण

6. प्रथम अध्याय

7. नाट्यमण्डप के अंग हैं - रंगपीठ, रंगशीर्ष, नेपथ्यगृह, मत्तवारणी, दारूकर्म, स्तम्भ आदि।

8. नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में

9. शिर, नेत्र, भ्रु, कपोल, ओष्ठ, मुख, नासिका, ग्रीवा आदि उपांग।

10. इक्कीसवें अध्याय में इतिवृत्त-विधान, पंच सन्धियाँ, पंच अवस्थाएँ, अर्थप्रकृतियाँ एवं अर्थोपक्षेपकों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

11. संगीतशास्त्र का विवेचन नाट्यशास्त्र के अट्ठाइसवें अध्याय से चौत्तीसवें अध्याय तक किया गया है ।

12. नाट्यशास्त्र के पैंत्तीसवें अध्याय में पात्रों की भूमिकाओं का वर्णन है।

2.3

1. लगभग छः हजार श्लोक।

2. 3 प्रकार के नाट्यमण्डप - विकृष्ट (आयताकार), चतुरस्र (वर्गाकार) तथा त्र्यस (त्रिभुजाकार)। ये नाट्यमण्डप पुनः ज्येष्ठ, मध्य और अवर की श्रेणी में विभक्त हैं।

3. ज्येष्ठ नाट्यमण्डप

4. मध्यम आकार वाले प्रेक्षागृहों की सर्वोत्तम माना गया है।

5. नाट्यमण्डप के प्रमुख अंग - रंगपीठ (रंगशीर्ष), षड्दारूक, दारूकर्म, मत्तवारणी, यवनिका, नेपथ्यगृह, स्तम्भ आदि।

6. कथावस्तु के दो भेद हैं - अधिकारिक एवं प्रासंगिक। प्रासंगिक कथावस्तु के पुनः दो भेद हैं - पताका एवं प्रकरी।

टिप्पणी

7. नायक चार प्रकार के होते हैं – धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त एवं धीरोद्धत।

8. विभाव, अनुभाव एवं व्याभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। यह आचार्य भरत द्वारा सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया।

9. रस कुल नौ माने गये है। ये हैं – श्रृंगार, वीर, करुण, रौद्र, अद्भुत, भयानक, वीभत्स, हास्य एवं शान्त।

10. ताण्डव आचार्य तण्डु द्वारा उपदिष्ट पुरुष- प्रयोज्य उद्धत नृत्य है तथा पार्वती द्वारा उपदिष्ट स्त्री-प्रयोज्य सुकुमार नृत्य का लास्य कहते हैं। ताण्डव का सम्बन्ध शिव तथा लास्य का सम्बन्ध पार्वती से है।

11. वाद्य चार प्रकार के होते हैं – तत (वीण आदि) सुषिर (बाँसुरी आदि) अवनद्ध (मृदंग आदि) तथा घन (करताल आदि)।

टिप्पणी

3

नाट्यकला तथा अन्य कलाएँ

कला की उत्पत्ति मनुष्य के सौन्दर्य-भाव को प्रकट करने हेतु हुई है। इन सौन्दर्य-भाव की तृप्ति के लिए एवं मनुष्य के मानसिक विकास के लिए प्राचीनकाल में ही विभिन्न कलाओं का उदय हुआ। भारत ही नहीं सम्पूर्ण जगत के विद्वानों ने कला के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। कला के अन्तर्गत अभिव्यक्ति और रचना दोनों का समावेश होता है। अत: कला द्वारा कलाकार अपने भावों की अभिव्यक्ति करते हुए रचनात्मकता को भी प्रकट करता है। संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत ज्ञान का विभाजन दो रूपों में किया गया है- विद्या और उपविद्या। काव्य को विद्या तथा कलाओं को उपविद्या के अन्तर्गत स्थान प्राप्त है। आचार्य भर्तृहरि द्वारा अपने ग्रन्थ नीतिशतक में भी कला का महत्व प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार कला की महत्ता इस प्रकार से सिद्ध है कि इस प्रकिया के अन्दर मानव-चेतना और बाह्य सृष्टि के रूपों की संश्लिष्ट अभिव्यंजना होती है। प्रस्तुत पाठ में कला के स्वरूप एवं प्रकार को जानते हुए नाट्य से उसके सम्बन्ध का बोध किया जाएगा। नाट्य एवं अन्य कलाओं के विविध आयामों का विवेचन इस पाठ का ध्येय है।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- प्रमुख भारतीय कलाओं के विषय में जानते हैं;
- भारत की कलाओं के विकास समझते हैं;
- नाट्यकला का अन्य कलाओं से संबंध समझते हैं; और
- नाट्य प्रस्तुति में अन्य कलाओं के योगदान को जानते हैं।

टिप्पणी

3.1 प्रमुख भारतीय कलाएँ

कला शब्द की व्युत्पत्ति कल्+अच्+टाप् धातु एवं प्रत्यय के संयोग से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ है किसी वस्तु का छोटा अंश, चन्द्रमा का सोलहवाँ अंश, राशि के तीसरें भाग का साठवाँ अंश। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'पर्सनलिटी' नामक पुस्तक में ''कला क्या है'' शीर्षक लेख में ज्ञान के दो पक्ष कला और विज्ञान को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार कला मनुष्य की बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा स्वानुभूति की अभिव्यक्ति है। वस्तुत: रवीन्द्रनाथ के मतानुसार कला का प्रधान लक्ष्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करना है। कला के संबंध में टाल्सस्टाय ने विस्तार से विचार करते हुए प्रतिपादित किया है कि कला की प्रक्रिया अपने हृदय तक पहुँचा देना हैं। इस प्रकार विभिन्न विद्वानों द्वारा कला के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार एवं मत प्रस्तुत किये गये हैं जो कला सम्बन्धी दृष्टिकोण की व्यापकता का प्रतिपादन करती है।

भारतीय साहित्य परम्परा में चौसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। वात्स्यायन ने कामशास्त्र के अन्तर्गत इन पर विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है जो कि निम्नलिखित हैं-

गीतं, वाद्यं, नृत्यम्, आलेख्यम्, विशेषकच्छेध, तण्डुलकसुम-वलिविकार: पुष्पास्तरणं, दशनवसनाड्गरागः मणिभूमिकाकर्म, शयनरचनम्, उदकवाद्यम, उदकाछात:, चित्राच्चयोगा:, मालयग्रन्थाम् विकल्पा:, शेखरकापीडयोजनम्, नेपथ्यप्रयोगा:, कर्णपत्रभंगा, गंधयुक्ति:, भूषणयोजनम्, ऐन्द्रजाला:, कौचुमाराश्चत्रोगा हस्तलाावम्, विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया:, पानकरसरागासवयोजन, सूचीवनकर्माणि, सूत्रक्रीड़ा, वीणाडमरूवाधकानि, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचकयोगा:, पुस्तकवाचनम्, नाटकाख्यायिकादर्शनम्, कास्यसमरयापूरणम्, पट्टिकावेत्रणावविकल्पा:, तक्षकर्माणितक्षणम्, वास्तुविद्या, रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवाद: मणिरागाकरज्ञानम्, वृक्षायुर्वेदयोगा: मेषकुक्कुटप्लावकयुद्धविधि: शुकसारिकाप्रलापनम्, मलेच्छितविकल्वा०, देशभाषाविज्ञानम्, पुष्पशकटिका, निमित्तज्ञानम्, यन्त्रमातृका, धारणमातृका साम्पाष्यम्, मानसीकाव्यक्रिया, अभिधानकोष:, छन्दोज्ञानम्, क्रियाकल्प छलितकयोगा: वस्त्रगोपनानि, द्यूतविशेषा: आकर्षक्रीड़ा, बालक्रीडनकानि वैनयिकानां, वैजयिकीनां, व्यावमिकीनां च विद्यानां ज्ञानम् इति चतुषष्टिरंग विद्याकामसूत्रस्यवयविन्द:।

इन्हीं चौंसठ कलाओं का उल्लेख शुक्रनीति जैसे ग्रन्थों में कुछ नामान्तर से प्राप्त होता हैं। इसके अतिरिक्त प्रबन्धकोष में बहत्तर (72) तथा बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर में छियासी (86) कलाओं का उल्लेख मिलता है। किन्तु भारतीय परम्पराओं में चौसठ कलाएँ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। आधुनिक काल में कलाओं का स्वरूप परिवर्तित हुआ है। इसी श्रृंखला में कलाओं का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है (क) उपयोगी कला (ख) ललित कला।

जीवन के लिए उपयोगी एवं अनुप्रयोगात्मक कला ही उपयोगी कला के अन्तर्गत समाहित होती है। ये उपयोगी कला हमारे दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। उदाहरण - वस्त्र निर्माण, भवन-निर्माण, आभूषण-निर्माण, भोजन-निर्माण, लौह सम्बन्धी कार्य, लकड़ी सम्बन्धी निर्माण इत्यादि।

टिप्पणी

इन कलाओं के द्वारा हमारे जीवन को सुविधा प्राप्त होती है। इनके अभाव में मानव जीवन कष्टमय अथवा क्लिष्ट हो जाता है। उपयोगी कलाओं के अतिरिक्त कलाओं का वह प्रकार जिनसे सौन्दर्य की अनुभूति और आनन्द की प्राप्ति होती है, जिसे ललित कलाओं के रूप में जाना जाता है।

इन कलाओं को प्राचीन भारतीय वाड्मय मे कहीं भी उपयोगी अथवा ललित कलाओं के रूप में अभिहित नहीं किया गया है। किन्तु महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य रघुवंश में अज के इन्दुमती विलाप-प्रसंग में **'ललिते कलाविधौ'** शब्द के प्रयोग द्वारा गीत एवं नृत्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। वस्तुतः ललितकला शब्द को पाश्चात्य शब्दावली में फाईन आर्ट के समानान्तर देखा जा सकता है। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा पाँच प्रमुख कलाएँ स्वीकृत हैं - स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत एवं काव्य। कतिपय विद्वानों द्वारा नाट्य, नृत्य एवं भाषण को भी सम्मिलित किया गया है।

प्रस्तुत प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय परम्परा में कलाओं के विभिन्न स्वरूप एवं प्रकार का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है जो पाश्चात्य परम्परा से विशिष्ट एवं व्यापक प्रतीत होता है। यहाँ कतिपय भारतीय प्रमुख कलाओं का परिचय दिया गया हैं-

1. स्थापत्य कला (वास्तुकला)

वास्तुकला को स्थापत्य कला भी कहते हैं। इसमें मूर्त्त आधार सबसे अधिक स्थूल रहता है। इसके मूर्त्त आधार पत्थर, ईटें,धातु खण्ड या काष्ठ रहते हैं जिनसे भवन का ढाँचा खड़ा होता है। इन उपादानों के सहारे वास्तुकार भवन, मन्दिर, अट्टालिका, बाँध आदि का निर्माण करता है, वह सभी प्राकृतिक साधनों रंग, प्रकाश आदि का भी सहयोग लेता है। इनका सुगमतापूर्वक प्रयोग कर वास्तुकार दर्शकों के मन को प्रभावित करता है। अन्य कलाओं में कलाकार को ऐसे प्रभावोत्पत्ति हेतु विशेष कौशल की आवयकता पड़ती है किन्तु वास्तुकार को ये साधन अनायास ही प्राप्त हो सकते हैं। उसकी कृति में गतिशीलता या सजीवता न होने पर भी उसके पास दर्शकों के मन में सौन्दर्यानुभूति या भाव के उन्मेष की क्षमता रहती है। जैसे- सोमनाथ मन्दिर अथवा जन्तर-मन्तर जैसे स्थापत्य के दर्शन से व्यक्ति के मन में जो आह्लाद और भावोन्मेष होता है। वह उतना ही स्थायी और प्राणपूरक है, जितना एक काव्यकृति द्वारा प्राप्त आनन्द। किसी मन्दिर या धार्मिक स्थल पर जाने पर व्यक्ति के मन में अनायास धार्मिक भावनाएँ उदित हो जाती हैं। वस्तुतः सामान्यवर्ग के अन्तःकरण में सुरूची,भव्यता, सौहार्द इत्यादि को जगाने या उसके मन को आह्लादित करने हेतु वास्तुकला द्वारा निर्मित स्थलों के मूर्त्त पदार्थो की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्थित रहती है। स्थापत्य में स्थूलता प्रधान होने के कारण अन्य कलाओं द्वारा व्यक्त भाव अधिक आकर्षक प्रतीत होते हैं जिनका आगे प्रतिपादन किया जा रहा है।

टिप्पणी

2. मूर्तिकला

स्थापत्य की अपेक्षा मूर्तिकला अधिक उन्नत कला है। इसमें रूप, रंग एवं आकार होता है। यह वास्तु की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट मनोभावों को व्यक्त कर सकती है। मूर्त्तिकला का मूर्त्त आधार पत्थर, धातु या मिट्टि आदि होता है, जिसे मूर्त्तिकार काट-छाँटकर सजीव या निर्जीव पदार्थों के रूप में ढालता है। मूर्त्तिकार इस संसार के सभी रूप-रंगों, वस्तुओं को मूर्त्त कर सकता है किन्तु अपनी कृतियों में गतिशीलता लाने का सामर्थ्य नहीं रखता है। यद्यपि आधुनिक युग में यन्त्रों के द्वारा गति तो लायी जा सकती है किन्तु यह मूर्त्तिकला का रूप नहीं होता। अतः गतिशीलता की अनुपस्थिति में यह यथार्थ जीवन को पूर्णतः अंकित नहीं कर सकता। यद्यपि मूर्त्तिकला के माध्यम से कतिपय व्यक्ति या वस्तुओं का अंकन किया जा सकता है किन्तु यह वास्तुकला की अपेक्षा श्रेष्ठ तथा भावपूर्ण मानी जाती है। मूर्त्तिकार संगमर्मर, धातु, मिट्टि आदि की आकृति में जीवन को सफलतापूर्वक प्रतिबिम्बि करता हैं। इन आकृतियों में चेष्टा या मुद्रा की योजना कर उसमें भाव एवं सजीवता का योजन कर देता है। इन आकृतियों का संयोगकिसी टना या कथा को भावपूर्ण रूप में दर्शाता है। स्थितिशील रूप में ही सौन्दर्य का अंकन करना मूर्त्तिकला की विशेषता है। इसमें किसी क्षण की स्थिति की झलक मुद्राओं, भाव-भंगिमाओं आदि के माध्यम से प्राप्त होती है। जैसे - अजंता-एलोरा की गुफाओं में मूर्त्तिकला का उत्कृष्ट दर्शन होता है।

3. चित्रकला

चित्रकला वास्तु एवं मूर्ति की अपेक्ष अधिक उत्कृष्ट एवं सूक्ष्म कला मानी जाती है। यद्यपि वास्तु और मूर्ति के समान रूप, रंग और आकार इसमें भी होता है किन्तु इस कला के मान तीन न होकर केवल दो-लम्बाई और चौड़ाई ही होते है। वास्तु एवं मूर्ति की अपेक्षा चित्र-कला मनोभावों को अधिक स्पष्ट करती है। इस कला का मूर्त्त आधार कपड़ा, लकड़ी अथवा कागज का ऊपरी धरातल है, जिस पर वह आड़ी-तिरछी रेखाओं एवं रंगों के प्रयोग-द्वारा बाह्य पदार्थों के नैसर्गिक रूप को मूर्त्त करते हैं। चित्र में मूर्त्ति की अपेक्षा मूर्त्त आधार कम रहता है, किन्तु उस कमी की पूर्ति के लिए चित्रकार को उसी अनुपात में रेखाओं और रंगों का प्रयोग इस कुशलता से करना पड़ता है कि वह समस्त परिप्रेक्ष्य और पदार्थ की वास्तविक स्थिति, आकृति वर्ण और मुद्रा को रूपायित कर सके।

चित्रकार को एक समतल धरातल पर किसी ठोस पदार्थ एवं उसके रंगों को अपनी कला द्वारा प्रतिछवित करना होता है। उसे अनेक पदार्थों को अपने चित्रपट पर इस प्रकार अंकित करना होता है कि चित्र में वस्तुओं की लघुता, गुरुता, दूरी-समीपता आदि का क्रम वास्तविक जगत के सदृश दिखाई दे। चित्र में मूर्त्ति की अपेक्षा भाव-चित्रण अधिक सुगमता से हो जाता है। वस्तुओं के स्वतन्त्र व्यवस्थापन, उनके आकारों के निरूपण और रंगों के विधान द्वारा चित्रकार उनका यथार्थ प्रतिबिम्बन करते हुए अपने

मानसिक भावों को भी अंकित करता है। वह मानसिक एवं प्राकृतिक भाव-भंगिमाओं को अपने मानसिक भावों के अनुरूप नवीन अर्थ प्रदान करता है। काव्य की भाँति चित्रकला में भी मनुष्य की मन:स्थिति, धारणा या सामाजिक दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। इन्हीं कारणों से चित्रकला में अंकित पदार्थ का संवेदनात्मक एवं भावनात्मक महत्त्व भी होता है।

4. संगीतकला

प्रथम तीन कलाओं की अपेक्षा संगीतकला अधिक उत्कृष्ट है। इसका आधार नाद अथवा स्वर होता है जो या तो मानव-कण्ठ से प्रसूत होता है या बाह्य यन्त्रों से उत्पन्न। नाद के नियम भी निर्धारित किये गये हैं। संगीत को सात स्वरों में बाँधा गया है। अनन्तकाल से भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम नाद ही था। अत: नाद का प्रभाव मनुष्य के अन्त:करण पर गहन रूप में देखा जा सकता है। इस संगीत में सार्थक शब्दों को भी क्रमश: सन्निहित कर लिया गया है। काव्य के इस तत्त्व को निकाल देने पर इसका आधार निरर्थक नाद ही माना जाएगा। संगीतकला काव्य की भाँति मूर्त्त और स्पष्ट न होने पर भी इसमें तीक्ष्णता एवं गंभीरता होती है। यह मानव के अन्त:करण की आभ्यंतर स्थितियों को व्यक्त करने में विलक्षण रूप से समर्थ है। इसका प्रभाव क्षेत्र इतना व्यापक है कि केवल मानव जाति ही नहीं अपितु पशु-पक्षी भी इससे प्रभावित होते हैं। यह प्राणियों के मन को इच्छानुसार चंचल एवं आह्लादित कर देता है। संगीतकला की महत्ता इतनी अधिक है कि भावों के उन्मेष में इसकी कुशलता एवं क्षमता और सभी कला से अधिक मानी जाती है। मन को इसकी प्रतीति कर्ण इन्द्रिय से होती है। संगीतकला के द्वारा व्यक्त भाव अधिक सूक्ष्म तथा स्पष्ट होते हैं। संगीतकला में पारंगत व्यक्ति (कलाकार) अपनी कला से श्रोता को रूलाने और हँसाने दोनों का सामर्थ्य रखता है।

गायन, नर्तन और वादन के समाहार को संगीत कहते हैं। संगीत के सात अंग होते हैं राग, स्वर, ताल, वाद्य, नृत्य, भाव और अर्थ। इस प्रकार संगीतकला की व्यापकता एवं शास्त्रीय पद्धति उसे कला तथा विज्ञान का पद प्रदान करती है।

5. काव्यकला

काव्य का स्थान ललित कलाओं में सर्वोत्कृष्ट है, इसके आधार शब्द और अर्थ हैं। जीवन की घटनाओं या जगत के पदार्थों के सम्पर्क से हमारे मन पर चिह्न प्रतिक्षण उत्थित होते हैं। ये चिह्न अमूर्त्त और भावमय होते हैं, इन्हीं भावों को व्यक्त करने के लिए मनुष्य शब्दों का व्यवहार करता है। शब्दों के द्वारा पदार्थ का बोध और भाव की व्यंजना साथ-साथ होती है। काव्य या नाट्य के माध्यम से ही शब्द और अर्थ है। संगीतकला से तुलनात्मक अन्वेषण करने पर यह तथ्य स्पष्ट है कि जहाँ संगीत कला में केवल स्वरों का प्रयोग होता है, वहाँ काव्यकला में स्वर और व्यंजन दोनों ही प्रयुक्त

टिप्पणी

होते हैं। संगीत विशेषज्ञ एक-दो स्वरों के आरोह और अवरोह के द्वारा श्रोता को भावविभोर कर सकता है, किन्तु यह स्थिति स्थायी नहीं होती परन्तु कवि व्यंजनों और स्वरों के प्रयोग तथा उनके अर्थ द्वारा चिरस्थायी प्रभाव डालने का सामर्थ्य रखता है।

काव्यकला में संगीत का भी सहयोग होता है। संगीत की सहायता से काव्य में भावोन्मेष की शक्ति बढ़ जाती है। अलंकार और छंद आदि के रूप में काव्य संगीत के गुणों को ही अपना लेता है। सार्थक शब्दों के द्वारा काव्यकला न केवल भाव-व्यंजना में ही सफल होती है, प्रत्युत रूप-जगत के स्पष्ट अंकन में भी। इसमें रूप-चित्रण और भावोन्मेष दोनों ही क्षमता है। इसके अतिरिक्त काव्य में दिक् और काल दोनों का सामंजस्य रहता है। काव्य की अनुभूति चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय, दोनों से ही होती है। काव्यकला मानव-चेतना के अनेक स्तरों और वृत्तियों को एक ही साथ स्पन्दित करने की क्षमता रखती है। अत: इसका प्रभाव दीर्स्थायी रहता है।

6. रंगमंच (रूपक एवं अभिनय कला)

भारतीय प्रमुख कलाओं में रंगमंच अपने साहित्यिक कलेवर में समृद्ध रहा है। संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि विविध प्राचीन भाषाओं में नाटकव रंग की प्रसूति देखी जा सकती है। महाकवि कालिदास द्वारा नाटक को **'शान्त चाक्षुष यज्ञ'** कहा गया है जिसका प्रयोग भारत में कब प्रारम्भ हुआ, इस पर विद्वानों द्वारा कतिपय मत प्रस्तुत किये गये हैं। भरतमुनि की रचना नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत वर्णित विषय के आधार पर ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर ब्रह्मा द्वारा पाँचवे नाट्यवेद की रचना की गयी। नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटकों के मंचन हेतु इन्द्र की आज्ञा से विश्वकर्मा द्वारा नाट्यमण्डप/रंगमंच का निर्माण किया गया। नाट्यगृह एवं उसमें मंचन की जाने वाली अभिनयकला का प्राथमिक स्वरूप वैदिक साहित्य में प्राप्त होने के अनन्तर नाट्यशास्त्र में उनका विस्तृत एवं विकसित रूप प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत अमृतमंथन और त्रिपुरदाह जैसे प्राथमिक नाट्यों का उदाहरण भारतीय वाङ्मय में रूपकों की प्राचीनता को दर्शाता है। नाट्यशास्त्र में दस रूपकों तथा अट्ठारह उपरूपकों का भेद प्रतिपादित किया गया है। भारतीय साहित्यिक परम्परा में प्रत्येक रूपक भेद पर आधारित काव्य रचनाएँ कालान्तर में होती रही तथा उसका मंचन नाट्यमण्डप पर व्यवस्थित रूप से होता रहा है। रूपकों के अतिरिक्त अभिनय के चार भेदों (आंगिक, वाचिक, सात्त्विक, आहार्य) तथा रंगमण्डप के भेदों (विकृष्ट, चतुरस्र, त्र्यस्र) के आधार पर कालान्तर में अभिनयकला तथा रंगमंच का स्वरूप पल्लिवित होता रहा है।

पाठगत प्रश्न 3.1

1. कला का शाब्दिक अर्थ क्या है?

2. रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी पुस्तक पर्सनलिटी में ज्ञान के कौन-से दो पक्ष स्वीकार किये हैं?

3. भारतीय साहित्य परम्परा में कला सम्बन्धी सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ कौनसा है? इसमें कलाओं की संख्या कितनी मानी गई हैं?

4. वात्स्यायन के अतिरिक्त और कहाँ कलाओं का वर्गीकरण देखने को मिलता है?

5. उपयोगी कलाएँ क्या हैं? उदाहरण प्रस्तुत करें।

6. ललित कला किसे कहते हैं? उदाहरण दीजिए।

7. वास्तुकला का अपर नाम क्या है?

8. मूर्तिकला, चित्रकला और वास्तुकला को स्थूल से सूक्ष्म के क्रम में लिखिए।

9. संगीत कला के अंगों का विधान कीजिए।

10. ललित कलाओं में सर्वोत्कृष्ट किसे माना जाता है?

11. महाकवि कालिदास ने नाटक के विषय में क्या कहा है?

3.2 भारत में कलाओं का विकास

1. स्थापत्य या वास्तुकला का क्रमिक विकास

भवन-निर्माण एवं शिल्प-विज्ञान का नाम वास्तुकला है। वास्तुकला का उद्‌भव एवं विकास मानव-सभ्यता के विकास के साथ सम्बद्ध है। प्राणीमात्र में आत्मरक्षा एवं सुख-प्राप्ति की भावना सहज रूप से होती है। अत: मनुष्य ही नहीं सम्पूर्ण विश्व के प्राणीजगत में गृह-निर्माण की भावना पाई जाती है। इससे वास्तु अथवा स्थापत्य कला के विकास की कल्पना सभ्यता के आरम्भ से की जाती है। ऋग्वेद के अन्तर्गत स्तम्भों से युक्त भवन, पत्थर निर्मित मकान, लोहे और पत्थर से निर्मित नगर आदि कतिपय वास्तुकला सम्बन्धी वर्णन वैदिककाल में विकसित वास्तुकला की ओर संकेत करते हैं।

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की संस्कृति एवं सभ्यता तथा उनका नागरिक जीवन इस बात का प्रतीक है कि भारत में वास्तुकला का इतिहास वैभवपूर्ण रहा है। लगभग 3250 ई.पू. से 2750 ई.पू. की इस सभ्यता की खुदाई में प्राप्त अवशेषों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उस काल में नगर, भवन, सड़क आदि का निर्माण एक निश्चित योजना के आधार पर किया जाता था। वहाँ से उपलब्ध अवशेषों के द्वारा उस काल की वैभवपूर्ण विकसित वास्तकला का परिलक्षण होता है। कालान्तर में 322 ई.पू. से 190

टिप्पणी

ई.पू. के मध्य में रहे मौर्यकाल की स्थापत्य-कला का विस्तृत वर्णन स्वयं सेल्यूकस के राजदूत मेगस्थनीज ने अपनी कृति 'इंडिका' में पाटलिपुत्र नगर, चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यभवन के अद्भूत उदाहरण के रूप में दिया है। मौर्यकाल में वास्तुकला का विकास अशोक के शासनकाल में बृहद रूप से दृष्टिगोचर होता है, यथा- अशोक के स्तम्भ, स्तूप, कश्मीर में श्रीनगर तथा नेपाल में ललितपाटन नामक नगर-निर्माण इत्यादि शुंगों का युग मौर्यकाल का ही विस्तार माना गया है। इस काल में अनेक स्तूपों, वेदिकाओं, स्तम्भों तथा दुर्ग स्थापत्य आदि के माध्यम से स्थापत्य कला विकसित होती रही। द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से द्वितीय शताब्दी ईस्वी तक यवन, शक तथा कुषाणों के शासनकाल में गंधारकला से प्रभावित भारतीय स्थापत्य, तक्षशिला, मार्त्तण्ड मन्दिर आदि कुछ अद्भुत एवं उज्ज्वल प्रमाण वर्तमान काल में भी देखे जाते हैं। लगभग 275 ई. से 510 ई. तक का गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्ण काल माना जाता है परन्तु इस काल में स्थापत्य की प्रचुरता का अभाव देखा जाता है। निःसन्देह इस काल की गुफाएँ, स्तम्भ, ईटों के मन्दिर आदि विशिष्ट वास्तु-शिल्प को परिलक्षित करती हैं। इस प्रकार मध्यकालीन भारत में भी स्थापत्य-कला का विधिवत् विकास होता रहा। स्थापत्य के दो विशिष्ट भाग किये गए हैं- धार्मिक और लौकिक। धार्मिक के अन्तर्गत मन्दिर, स्तूप आदि तथा लौकिक स्थापत्य के अन्तर्गत वार्ता, सेतुबन्ध, प्रासाद (महल) आदि। इसी शृंखला में मन्दिरों के तीन प्रकार का विकास हुआ- नागर, वेसर और द्राविड़। कालान्तर में विदेशियों के भारत में आगमन के पश्चात् पारम्परिक वास्तुकला में अनेक परिवर्तन हुए, जैसे- इस्लाम के भारत में आगमन के पश्चात् भारतीय वास्तुकला के विविध रूप प्रकाश में आए। ताजमहल, कुतुबमीनार, जामा मस्जिद इत्यादि भारत ही नहीं वैश्विक स्तर पर वास्तुकला के अनुपम उदाहरण एवं समृद्ध इतिहास के परिचाक हैं।

2. मूर्तिकला का विकास

कला के इतिहास में मूर्तिकला का इतिहास पुरातन है। भारतीय मूर्तिकला निरन्तर विकासशील रही है। अतः युग परिवर्तन के साथ कला-शैली में भी परिवर्तन व परिवर्धन होते रहे हैं। सर्वप्रथम ईसा पूर्व चतुर्थ शतक से पूर्व का युग प्राक् मौर्य का है जिसमें तीन सभ्यताओं की सामग्रियाँ हैं। इस काल में कांसे की नर्तकी, सांचों की उभरी मुहरों पर पशुओं की आकृतियाँ, मिट्टी और पत्थर की मूर्तियाँ इत्यादि प्रमुख रूप से मूर्तिकला के स्वरूप का प्रतिपादन करती हैं। मौर्यकाल में मूर्तिकला का रूपायन, आवयवीय यथार्थता, आकर्षण-सौन्दर्य सभी अभूतपूर्व प्रतीत होते हैं। अशोक के स्तम्भ, सारनाथ के स्तम्भ आदि मूर्तिकला, शानीलता, शान्त मुद्रा, ऐश्वर्य तथा राजत्व की परिचायिका है। वस्तुतः इन्हीं कारणों से भारत सरकार द्वारा उस शीर्ष की आकृति को अपनी मुद्रा में ढाल लिया गया। शुंग युग में मूर्तिकल का विकास राष्ट्रीय कला के रूप में हुआ। भरहुत और सांची के स्तूपों की वेष्टनी (रेलिंग) शुंग काल (150 ई.पू.-73 ई.पू.) में ही बनी। बोधगया, मथुरा, पटना आदि में शुंगकालीन मूर्तियाँ, वेष्टनी, प्रतिमाएँ

टिप्पणी

आदि प्राप्त होती हैं जो उस समय की समृद्ध मूर्तिकला के निरन्तर विकास को प्रतिपादित करती है। कालान्तर में शक-कुषाण वंशों का विस्तार भारत में देखा गया वह ईस्वी पूर्व प्रथम शती में आरम्भ होकर तीसरी शती तक चला। पत्थर और मिट्टी से मूर्तिकला की विकसित स्थिति इस युग में प्रकृष्ट रूप से प्राप्त होती है। कुषाण युग में पत्थर पर उकेरी प्रतिमाओं के अतिरिक्त स्वतन्त्र मूर्तियाँ, बुद्ध की खड़ी-बैठी मूर्तियाँ, बोधिसत्वों के प्रतीक आदि का समृद्ध विकास हुआ। लगभग 275 ई.पू. से 500 ई. पू. तक के गुप्तकाल को स्वर्ण युग तथा नवीन संस्कृति का युग माना गया जिसमें सभी पौराणिक देवताओं की स्वतन्त्र प्रतिमाओं का विकास हुआ। गुप्तकाल की मूर्तिकला न तो शुंगकाल सी चिपटी, न कुषाणकाल सी गोल अपितु गांधार शैली सी अंडाकार प्रकृत हो गयी। इसके अतिरिक्त गुप्तकाल में पर्याप्त मात्रा में तांबे और पीतल की मूर्तिकला का विकास हुआ। इसके आगे पूर्वमध्य युग में अधिकतर मन्दिर-मूर्तियों के विकास की धारा दृष्टिगोचर होती है। अजन्ता एलोरा, दशावतकार गुफा, एलिफैंटा आदि की गुफाओं में प्राप्त प्रतिमाओं द्वारा मूर्तिकला के अद्भुत एवं विस्तृत परम्परा का ज्ञान होता है। उत्तर मध्य युग की अधिकांश मूर्तियाँ मन्दिरों के बाह्य अलंकार के रूप में देखी जा सकती है। प्रागाधुनिक युग में आक्रान्ताओं के आक्रमण के फलस्वरूप भारतीय पारम्परिक मूर्तिकला की क्षति हुई। उत्तरभारत के असंख्य मन्दिर एवं उनमें उपस्थित मूर्तियों को ध्वस्त कर दिया गया परन्तु दक्षिण में मन्दिर-निर्माण का कार्य विशेष निष्ठा से चलता रहा। ग्यारहवीं सदी में चोल राजाओं द्वारा निर्मित मन्दिर एवं मूर्तियाँ, बाहरवीं सदी में चालुक्य एवं होयसल मन्दिरों की मूर्तिकला, सातवीं सदी के पल्लव द्वारा निर्मित रथ मन्दिर, मनुष्य, पशुओं, देव-देवताओं आदि की प्रतिमाओं के द्वारा तत्कालीन युग का मूर्तिकला का स्वरूप परिलक्षित होता है। चौदहवीं से सोलहवीं सदी तक दक्षिण में हिन्दू राजाओं के प्राबल्य के फलस्वरूप नृसिंह, रामायण-कथा सम्बन्धी मूर्तिकला का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है। आधुनिक युग आने पर मूर्तिकला का प्रयोग सजावट के रूप में होने लगा। यूरोपीय मूर्तिकला के नये प्रयोगों का स्पष्ट प्रभाव भारतीय मूर्तिकला पर देखा जा सकता है।

3. चित्रकला का विकास

भारतीय इतिहास में चित्रकला को भी अन्य कलाओं के सदृश अतिप्राचीन रही है। प्राचीन की दृष्टि से मिर्जापुर और मध्यप्रदेश में प्राप्त रेखाचित्र प्रस्तरयुगीन है किन्तु शास्त्रीय चित्रकला की दृष्टि से ईसापूर्व तृतीय शताब्दी से भारतीय चित्रकला के प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। चित्रकला की सम्पदा मूर्तिकला की ही भाँति भारत में परिपूर्ण रही है। वर्तमान समय में चित्रकला की अनेक शैलियाँ प्राप्त होती हैं जिनका विकास कालान्तर में होता रहा होगा। निश्चित रूप से मानव की भाव-चेतनाओं की अभिव्यक्ति हेतु यह कला प्रारम्भ हुई होगी जो निरन्तर परिवर्तित एवं परिवर्धित होकर अपने विकसित रूप को प्राप्त करती रही। भारत में चित्रकला की प्रमुख छः शैलियाँ

दर्शनीय हैं- (क) अजंता शैली, (ख) गुजरात शैली, (ग) मुगल शैली, (घ) राजपूत शैली, (ङ) दकनी शैली, (च) वर्तमान शैली। इनमें अजंता शैली का प्रभाव एक समय सम्पूर्ण भारत में किसी न किसी रूप में रहा जिसका उदय हैदराबाद राज्य के सह्याद्रि की गुफाओं में हुआ। गुजरात शैली पश्चिमी भारत, गुजरात सौराष्ट्र आदि की स्थानीय शैली थी। इसे जैन शैली भी कहते हैं। मुगल शैली भी अजंता शैली की भाँति सम्पूर्ण देश में व्याप्त रही। इसका प्रमुख केन्द्र दिल्ली, आगरा आदि के रूप में देखा जाता है। राजपूत शैली राजस्थान, बुंदेलखड, पंजाब, हिमालय के क्षेत्रों में उत्पन्न होकर सम्पूर्ण देश में विकीर्ण हुई। स्थानीय विशेषताओं के आधार पर इसकी अनेक उपशैलियाँ बन गयीं जिसे कलम कहते हैं, जैसे- पहाड़ी, जम्मू, कांगड़ा, बशोली आदि। दकनी शैली अधिकतर राजस्थानी एवं मुगल शैलियों के समन्वय से उत्पन्न हुई। वर्तमान शैली यूरोपीय प्रभाव से उत्पन्न है जो निरन्तर प्रयोगावस्था में है।

चित्रकला दो प्रकार के माने गये है- भित्तिचित्र और प्रतिकृति। भवन की दीवारों, गुफाओं पर जो चित्र अंकित किये गए उन्हें भितिचित्र कहते है। जैसे- जोगीमारा, अजन्ता, मध्य एशिया आदि में इसी प्रकार के भित्तिचित्रकला का विकास होता रहा है। प्रतिकृति चित्रण एक व्यक्ति अथवा अनेक व्यक्तियों की अनुकृति को कहते है। इसमें एक व्यक्ति बिम्ब या मॉडल का कार्य करता है। भारतीय साहित्य में दोनों प्रकार के चित्रों का उल्लेख मिलता है। कालिदास, भारवि, भवभूमि आदि महाकवियों द्वारा तथा जातक कथाओं, पालि तथा हिन्दी साहित्य आदि में दोनों प्रकार की चित्रकलाओं के विकास का उल्लेख मिलता रहा है।

4. संगीतकला का विकास

गायन, नर्तन और वादन को समाहार रूप को संगीत कहते हैं। जो एक शास्त्रीय पद्धति की ओर संकेत करता है। संगीतकला का विकास भारत के प्राचीन इतिहास में सर्वत्र परिलक्षित होता है। ऋग्वेद की ऋचाओं में संगीत को इष्ट के रूप में वर्णित कर विकसित कर दिया गया जो सामवेद के रूप में प्रस्तुत होता है। कालान्तर में गन्धर्व वेद का भी प्रणयन हुआ जिसमें संगीत की प्रथम शास्त्रीय पद्धति के निरूपण का संकेत मिलता है।

वैदिक काल के अनन्तर भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में संगीत का कालान्तर में अनेक काव्यों में संगीत का उल्लेख होता रहा। कालिदास के काल में भारतीय शास्त्रीय संगीत का पर्याप्त विकास हो चुका था। उनके द्वारा संगीत अभिनय के कला सिद्धान्त राग, विभिन्न प्रकार के वाद्य यन्त्रों का उल्लेख उनकी रचनाओं में किया गया है। लोचन कवि की राजतंरगिणी (12वीं शताब्दी) शाङ्र्गदेव का संगीतरत्नाकर (13वीं शताब्दी) रागमाला, रागमंजरी, सोमनाथ का रागविबोध (1610 ई.) दामोदर मिश्र का संगीतदर्पण (1625 ई.) इत्यादि प्रसिद्ध रचनाएँ संगीतशास्त्र का निरन्तर विकसित रूप प्रस्तुत करती है।

टिप्पणी

सत्रहवीं सदी के अन्त में भवभद द्वारा अनुपविलास, अनूपांकुश और अनुपतंत्र का प्रणयन किया गया। अठारहवीं उन्नीसवीं सदी में अवध के नवाबों की संरक्षा में मुहम्मद द्वारा संगीतशास्त्र सम्बद्ध शुद्ध बिलावल की व्याख्या की गयी जो हिन्दुस्तानी संगीत का आधार बनी। इस प्रकार अनेक संगीतकारों एवं संगीतशास्त्रियों द्वारा उर्दू में असाधारण ग्रन्थ रचना कर भारतीय संगीतकला को एक नवीन स्वरूप दिय गया तथा प्राचीन भारतीय संगीत के पुनरूद्धार के क्षेत्र में सफल प्रयास भी किये गये।

इन प्रमुख प्राचीन भारतीय कलाओं के माध्यम से भारत मे कलाओं के क्रमिक विकास को समझने का प्रयास किया गया। इसी श्रृंखला में काव्यकला, नाट्यकला, रंगमंच अभिनय आदि का भी विधिवत विकास दर्शनीय है। वैदिककालीन प्राचीन कलाओं में यथासमय परिवर्तन होते रहे। मध्यकालीन भारत में बाह्य आक्रान्ताओं के प्रभाव यहाँ के साहित्य तथा कलाओं पर भी स्पष्टत: द्रष्टव्य है। परिवर्तित एवं परिवर्धित होती संस्कृति, भाषा, सिद्धान्त आदि के फलस्वरूप भारत की कलाओं के स्वरूप एवं विकास यात्रा विविधता एवं व्यापकता का संचार हुआ जो संसार के किसी अन्य देश में नहीं प्राप्त होता है।

पाठगत प्रश्न 3.2

1. भारत में सर्वाधिक प्राचीन वास्तुकला के साक्ष्य कहाँ से प्राप्त होते हैं?
2. मेगस्थनीज ने 'इंडिका' में भारतीय वास्तुकला के विषय में क्या वर्णन किया है?
3. भारत सरकार द्वारा स्वीकृत सारनाथ का स्तम्भ किस काल है? यह क्या प्रदर्शित करता है?
4. गुप्तकाल की मूर्तिकला के प्रसिद्ध उदाहरण कहाँ प्राप्त होते है?
5. भारत की चित्रकला की प्रमुख शैलियाँ कितनी और कौनसी है?
6. भारतीय संगीतकला सम्बन्धी कतिपय ग्रन्थों का नामोल्लेख करें।

3.3 नाट्यकला का अन्य कलाओं से सम्बन्ध

(क) नाट्यकला का वास्तुकला एवं मूर्तिकला से सम्बन्ध

मूर्तिकला एवं वास्तुकला में विशेष रूप से रूप-संगठन, सुडौलता और सांमजस्य आदि विशेषताएँ पायी जाती है। नाट्यकला में भी सुडौलता, सानुपातिकता और सौष्ठव पर ध्यान दिया जाता है। नाट्यकला के अन्तर्गत शब्दों, छन्द के चरणों, अंकों और सर्गों की

टिप्पणी

योजना में अनुपात का निर्वाह किया जाता है। नाट्य की बाह्य रूप-रचना में मूलतः उन्हीं सिद्धान्तों का पालन होता है जिनका पालन वास्तुकला और मूर्तिकला में किया जाता है। भावों की व्यंजना को लेकर वास्तुकला एवं मूर्तिकला का नाट्यकला से सम्बन्ध होने पर भी इनमें कोई तुलना नहीं की जा सकती। उपरोक्त दो कलाओं का उद्देश्य केवल बाह्य सौन्दर्य अथवा सौष्ठव की अभिव्यक्ति रही है, यहाँ भावों की व्यंजना अल्प ही होती है। नाट्यकला मूलतः अनुभूति-सापेक्ष्य है। अतः नाट्यकला में स्थापत्य और मूर्तिकलाओं की विशेषताएँ तो अन्तर्निहित रहती ही हैं, भाव-व्यजंना और अर्थ-प्रसार की अपरिमित क्षमता भी होती है।

(ख) नाट्यकला का चित्रकला से संबंध

चित्रकला में भावों का सुव्यवस्थित अभिव्यक्ति होने पर भी गति-शिथिलता है। यह द्रुत-परिवर्तनशील घटनाओं या भाव-मुद्राओं का चित्रण करने में असमर्थ प्रतीत होती है। स्थितिशील होने के कारण यह एक ही क्षण और कुछ पदार्थों को ही प्रस्तुत कर सकती है। किन्तु नाट्यकला के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न स्थानों पर होने वाली और प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाली घटनाओं एवं परिस्थितियों का चित्रण किया जा सकता है। चित्रकला यद्यपि एक ही क्षण का रूप अंकित करती है किन्तु उसका प्रभाव अत्यधिक संश्लिष्ट सुसंबद्ध होता है। नाट्यकला की गतिशीलता के फलस्वरूप इसमें किसी घटना या स्थान विशेष का प्रभाव चित्रकला के सदृश घनीभूत नहीं होता। नाट्यकला में वस्तु चित्रण के साथ भाव-व्यंजना की भी तीव्रता होती है।

(ग) नाट्यकला का संगीतकला से संबंध

नाट्यकला तथा संगीतकला दोंनों ही गतिशील कलाएँ है। इन दोनों में नाद की महती भूमिका है। अतः दोनों के मानसिक प्रभाव का कारण कर्णेन्द्रिय है। दोनों में भावोत्तेजना का सामर्थ्य है। संगीतकला में केवल स्वरों का प्रयोग होता है और नाट्य के अन्तर्गत स्वर तथा व्यंजन दोनों का प्रयोग देखा जाता है। नाट्य तथा संगीत दोनों में शब्दों के माध्यम से भावों को स्पष्टतापूर्वक व्यक्त किया जाता है। नाट्यकला वस्तुओं के मानस-चित्र तथा मानसिक स्थितियों को प्रस्तुत करती है। नाट्य तथा संगीत दोनों ही अपनी पूर्णत के लिए परस्पर आश्रित है। संगीत बोध अर्थ के लिए तथा नाट्य प्रभाव-वृद्धि के लिए एक-दूसरे पर परस्पर आश्रित है। दोनों ही कलाएँ एक-दूसरे की पूरक है। दोनों एक-दूसरे से सम्बन्धित होने पर भी कुछ भिन्नताएँ लिये हुये है। नाट्यकला का क्षेत्र संगीत से अधिक व्यापक रहा है। इसकी संवेदना अधिक व्यापक और प्रभाव दीर्घकालीन होता है। नाट्य में शब्द तत्त्व महत्वपूर्ण होने के कारण संगीत के गुण इसमें स्वतः निविष्ट होते हैं। नाट्यकला में वस्तु और भाव दोनों का समन्वय प्रस्तुत किया जाता है।

नाट्यकला में कलाओं का समन्वय होता है। यह मन-प्रसादन के साथ-साथ मनुष्य के

आचरण को विकसित करने तथा उपयोगी जीवन व्यतीत करने में भी सहायक होती है। नाट्यकला में ललित तथा उपयोगी दोनों प्रकार की कलाओं का गुण सुनिहित होता है।

टिप्पणी

3.4 नाट्य प्रस्तुति में अन्य कलाओं का योगदान

भारतीय परम्परा में नाट्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। नाट्य रूप कला के द्वारा अभिव्यक्ति तथा रचनात्मकता दोनों को प्रस्तुत किया जाता है। यह प्रक्रिया मानव चेतना और बाह्य सृष्टि के रूपों की संश्लिष्ट अभिव्यंजना होती है। नाट्यकला काव्यकला का वह विशिष्ट पहूलू है जिसमें कलाओं का समुच्चय होता है। अन्य सभी ललित कलाओं द्वारा सौन्दर्य की अनुभूति पर बल दिया जाता है किन्तु व्यावहारिक जीवन के लिए उनकी प्रासंगिकता सम्पूर्ण रूप में दृश्यमान नहीं प्रतीत होती है किन्तु नाट्यकला न केवल मन को आह्लादित करती है अपितु इसके प्रभाव हमारे दैनिक जीवन एवं आचरण में भी देखे जाते है। इसका महत्वपूर्ण कारण यह है कि नाट्य के अन्तर्गत अन्य उपयोगी एवं ललित कलाओं के गुण भी सन्निहित रहते है।

नाट्यकला की प्रस्तुति में अन्य कलाओं का योगदान प्रारम्भ से समाप्ति पर्यन्त प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में देखा जाता है। नाट्य ही काव्य की वह विधा है जिसकी अभिव्यक्ति अभिनय, संवाद, पत्रों आदि के माध्यम से की जाती है अत: इसे दृश्यकाव्य भी कहा जाता है। नाट्यकला की सार्थकता अभिनीत होने में है जिसके लिए किसी सम्यक् आधार की आवश्यकता होती है। इस प्रकार स्थापत्य अथवा वास्तुकला के माध्यम से नाट्यमण्डप या रंगमंच का विधान इसकी महत्वपूर्ण भूमिका का प्रतिपादन करता है। भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र के नाटकों की प्रस्तुति हेतु रंगमण्डप का विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ तीन प्रकार की नाट्यशालाओं का उल्लेख किया गया है और उनके आकार भी निर्दिष्ट हैं। नाट्य में पात्रों की संख्या, दृश्य-योजना, कथोपकथन, संवाद आदि की प्रस्तुति में रंगमंच का अत्यधिक महत्वपूर्ण योगदान होता है जिसका श्रेय स्थापत्य कला को दिया जाता है इसके अतिरिक्त मूर्तिकला तथा चित्रकला के माध्यम से भी नाट्य की सार्थक प्रस्तुतिकरण में सहायता मिलती है। जैसे भासकृत प्रतिमानाटक में मूर्तिकला के माध्यम से कथानक अपने गन्तव्य तक सफलतापूर्वक पहुँच पाता है। समानान्तर रत्नावली नाटिका, स्वप्नवासवदत्ता आदि नाटक चित्रकला का प्रयोग कर नाट्य को प्रदर्शित करते दिखाई देते हैं। इन कलाओं के अभाव में नाट्यकला का अपने अभिनय एवं प्रस्तुतीकरण के चरमोत्कर्ष पर पहुँचना दुष्कर प्रतीत होता है। इसी प्रकार नृत्य, गीत तथा वाद्य के समाहार रूप संगीत कला में भावोन्मेश तथा भावाभिव्यंजन की शक्ति तथा तन्मयता एवं तत्परता के जो गुण विग्रमान है, वे नाट्य प्रस्तुति को सफल एवं सार्थक सिद्ध करते है। सहृदय अर्थात् दर्शक नाट्य में संगीत तत्वों के द्वारा भावों एवं रसों का निरन्तर आस्वादन करते हैं जो नाट्यकला का परम लक्ष्य माना जाता है। इस प्रकार नाट्य में वस्तुओं को अंकित या चित्रित करने की क्षमता चित्रकला द्वारा निहित की गयी, वहीं मूर्तिकला तथा वास्तुकला से बाह्य सौष्ठव का समाहार किया गया है। नृत्य-संगीत तथा वादन कलाएँ नाट्य में भावोन्मेष कर उसकी प्रस्तुति को प्रभावशाली बनाने में योगदान देती हैं। इस प्रकार भारतीय

टिप्पणी

वास्तुकला, शिल्पकला, मूर्तिकला चित्रकला, संगीतकला इत्यादि के योग से नाट्य एक सम्पूर्ण विधा के रूप में विकसित एवं निरन्तर गतिशील रही है जिसके अनुप्रयोगात्मक रूप का अवलोकन प्राचीनकाल से वर्तमानकाल तक किया जाता रहा है। निःसन्देह नाट्यकला का विधिवत् ज्ञान हमें भारत की अन्य ललित एवं उपयोगी कलाओं से भी परिचित करा देता है।

पाठगत प्रश्न 3.3

1. वास्तुकला और मूर्तिकला की कतिपय विशेषताएँ बताइए।
2. चित्रकला की असमर्थता का प्रतिपादन करें।
3. नाट्यकला तथा संगीतकला में क्या समानता है?
4. संगीत और नाट्य एक-दूसरे पर कैसे आश्रित है?
5. नाट्यकला अन्य कलाओं से विशिष्ट कैसे है?
6. नाट्य-प्रस्तुति मे स्थापत्य कला की क्या भूमिका है?
7. नाट्य-प्रस्तुति में चित्रकला के योगदान को उदाहरण के माध्यम से समझाइए।

आपने क्या सीखा

- संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत ज्ञान का विभाजन दो रूपों में किया गया है - विद्या और उपविद्या।
- काव्य को विद्या तथा कलाओं को उपविद्या के अन्तर्गत स्थान प्राप्त है।
- कला के अन्तर्गत अभिव्यक्ति और रचना दोनों का समावेश होता है।
- कला शब्द की व्युत्पत्ति कल् + अच् + टाप् धातु एवं प्रत्यय के संयोग से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ है - किसी वस्तु का छोटा अंश, चन्द्रमा का सोलहवाँ अशं, राशि के तीसवें भाग का साठवाँ अंश।
- भारतीय वाङ्मय में चौसठ कलाओं का उल्लेख वात्स्यायन के कामसूत्र/कामशास्त्र में मिलता है।
- शुक्रनीति में चौसठ, प्रबन्धकोष में बहत्तर तथा बौद्धग्रन्थ 'ललितविस्तर' में छियासी कलाओं का उल्लेख किया गया है।

टिप्पणी

- भारतीय परम्परा में कलाओं को दो भाग से विभाजित किया गया है - (क) उपयोगी कला (ख) ललित कला
- दैनिक जीवन के लिए उपयोगी एवं अनुप्रयोगात्मक कला ही उपयोगी कला कही गयी है। यथा - भवन-निर्माण, आभूषण-निर्माण, भोजन-निर्माण, वस्त्र-निर्माण इत्यादि।
- वह जिनसे सौन्दर्य की अनुभूति एवं आनन्द की प्राप्ति होती है ललित कला कहलाती है। जैसे - संगीतकला, चित्रकल, मूर्तिकला आदि।
- पाश्चात्य विद्वानों ने पाँच प्रमुख कलाएँ मानी है - स्थापत्य (वास्तु), मूर्ति, चित्र, संगीत एवं काव्य इसमें नाट्य, नृत्य एवं भाषण को भी स्वीकार किया जाता है।
- स्थापत्य कला को वास्तुकला भी कहते हैं जिसमें उपादानों के द्वारा वास्तुकार भवन, मन्दिर, अट्टालिक, बाँध आदि का निर्माण करता है।
- मूर्तिकला में मूर्तिकार मिट्टी, धातु, संगमरमर आदि के द्वारा किसी सजीव अथवा निर्जीव पदार्थ की आकृति को बनाकर उसमें जीवन को प्रतिबिम्बित करता है।
- चित्रकला में चित्रकार कपड़े, कागज, लकड़ी आदि को आधार बनाकर रंगों आदि के माध्यम में वस्तुओं को चित्रित अथवा अंकित करता है।
- चित्रकला वास्तु और मूर्ति की अपेक्षा उत्कृष्ट एवं सूक्ष्म कला मानी जाती है।
- संगीत में गायन, नर्तन और वादन का समाहार होता है। इसके सात अंग होते है - राग, स्वर, ताल, वाद्य, नृत्य, भाव और अर्थ।
- काव्य का स्थान ललितकलाओं में सर्वोत्कृष्ट है जिसके आधार शब्द और अर्थ है।
- हडप्पा एवं मोहनजोदड़ो की सभ्यता के अवशेषों द्वारा भारतीय वास्तुकला की उन्नत स्थिति की सूचना मिलती है।
- स्थापत्य कला के दो विशिष्ट भाग किये गये है - धार्मिक (मन्दिर, स्तूप आदि) तथा लौकिक (प्रासाद, सेतुबन्ध आदि)
- मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला आदि का क्रमिक विकास प्राचीन भारतीय परम्परा में आरम्भ से दृष्टिगोचर होता है।
- सामवेद, गन्धर्ववेद, नाट्यशास्त्र, राजतंरगिणी, संगीतरत्नाकर, रागमाला, रागमंजरी, रागविबोध , संगीतदर्पण आदि अनेक ग्रन्थ भारतीय संगीतकला के क्रमिक विकास को प्रस्तुत करते है।

टिप्पणी

- नाट्यकला के अन्तर्गत सभी प्रमुख कलाओं के तत्व विद्यमान होने के कारण इसे सर्वोत्कृष्ट कला कहा गया है।

पाठान्त प्रश्न

1. काव्य कला का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. चित्रकला तथा संगीतकला की नाट्य में उपयोगिता का प्रतिपादन कीजिए।
3. उपयोगी कला तथा ललित कला में अंतर स्पष्ट कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

3.1

1. किसी वस्तु का छोटा अंश, चन्द्रमा का सोलहवाँ अंश अथवा राशि के तीसवें भाग का साठवाँ अंश।
2. ज्ञान के दो पक्ष कला और विज्ञान को स्वीकार किया गया है।
3. वात्स्यायन मुनि का कामसूत्र (कामशास्त्र)। इसमें कलाओं की संख्या चौसठ मानी गयीहै।
4. शुक्रनीति में चौसठ कलाएँ, प्रबन्धकोष में बहत्तर तथा बौद्धग्रन्थ ललितविस्तर में छियासी कलाओं का वर्गीकरण देखने को मिलता है।
5. जीवन के लिए उपयोगी एवं दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली कलाओं को उपयोंगी कलाएँ कहते हैं। जैसे- भवन-निर्माण कला, वस्त्र-निर्माण, भोजन-निर्माण कला आदि।
6. वह जिससे सौन्दर्य की अनुभूति एवं आनन्द की प्राप्ति होती है, ललित कला कहलाती है। जैसे-नृत्यकला, काव्यकला, चित्रकला आदि।
7. स्थापत्य कला।
8. वास्तुकला मूर्तिकला चित्रकला
9. संगीत के सात अंग होते है - राग, स्वर, ताल, वाद्य, नृत्य, भाव और अर्थ।
10. काव्यकला
11. 'शान्त चाक्षुष यज्ञ'

3.2

1. हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों

2. मेगस्थनीज ने इंडिका में पाटलिपुत्र नगर, चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यभवन आदि के उदाहरण द्वारा भारतीय वास्तुकला को वर्णन किया है।

3. मौर्यकाल यह मौर्यकालीन मूर्तिकला शालीनता, शान्त मुद्रा ऐश्वर्य तथा राजस्व को प्रदर्शित करती है।

4. अजन्ता, एलोरा, दशावतार गुफा, एलिफैंटा आदि की गुफाएँ गुप्तकाल की मूर्तिकला के प्रसिद्ध उदाहरण है।

5. भारतीय चित्रकला ही छः शैलियाँ प्रमुख है – 1. अजंता शैली 2. गुजरात शैली 3. मुगल शैली 4. राजपूत शैली 5. दकनी शैली 6. वर्तमान शैली

6. सामवेद, गन्धर्ववेद, नाट्यशास्त्र, राजतंरगिणी, संगीतरत्नाकर, रागमाला, रागमंजरी, रागविबोध, संगीतदर्पण आदि कतिपय भारतीय शास्त्रीय संगीत संबंधी ग्रंथ है।

3.3

1. वास्तुकला और मूर्तिकला की विशेषताएँ है – रूप संगठन, सुडौलता और सामन्जस्य

2. चित्रकला गति-शिथिलता के कारण द्रुत-परिवर्तनशील घटनाओं या भाव-मुद्राओं का चित्रण करने में असमर्थ प्रतीत होती है।

3. नाट्यकला और संगीतकला दोंनों ही गतिशील कलाएँ हैं तथा शब्दों के माध्यम से भावों को स्पष्टतापूर्वक व्यक्त करती है।

4. संगीत अर्थ-बोध के लिए तथा नाट्य प्रभाव वृद्धि के लिए एक-दूसरे पर परस्पर आश्रित हैं।

5. नाट्यकला में सभी कलाओं का समन्वय होता है। यह मन-प्रसादन के साथ-साथ मनुष्य के आचरण को विकसित करने तथा उपयोगी जीवन व्यतीत करने में भी सहायक होती है।

6. नाट्य प्रस्तुति में स्थापत्य कला की यह भूमिका है कि इसके द्वारा रंगमंच या नाटकगृह का निर्माण होता है जो नाट्य प्रस्तुति का अधिकरण है।

7. नाट्य-प्रस्तुति में चित्रकला के योगदान को स्वपनवासवदत्ता तथा रत्नावली आदि रूपकों के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है जिनमें चित्रकला वृतान्तों द्वारा कथावस्तु विकास की ओर बढ़ती दिखलाई गयी है।

मॉडयूल-2

नाट्य के प्रमुख अंग

इस मॉड्यूल में नाट्य के प्रमुख तत्त्वों-कथावस्तु, पात्र, रस तथा अभिनय का सामान्य परिचय देकर शिक्षार्थियों में नाट्य विषय के प्रति ज्ञान वृद्धि का प्रयास किया गया है।

4. कथावस्तु परिचय
5. पात्र-योजना
6. अभिनय परिचय

4

कथावस्तु परिचय

प्रिय शिक्षार्थी, पूर्व पाठ में हमनें 'नाट्य तथा अन्य कलाओं' के विषय में जाना है। इस पाठ में नाटक की कथावस्तु के विषय में पढ़ेंगे। कथावस्तु नाटक का प्राण होती है। एक श्रेष्ट कथावस्तु के बिना एक उत्कृष्ट नाटक की संकल्पना भी नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार कथावस्तु में पूरे नाटक का सार तत्त्व रचा जाता है। कथावस्तु एक नाटक की कहानी के भीतर परस्पर जुड़ी घटनाओं का क्रम है। इस प्रकार जो कुछ घटित हुआ, उसका विवरण देने से कहीं अधिक, कथानक घटित होने वाली घटनाओं के बीच कारण-प्रभाव संबंधों को प्रकट करता है।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- नाट्य के अंग कथावस्तु की संकल्पना को जानते हैं;
- नाट्य की कथावस्तु के भेदों को जानते हैं;
- कथावस्तु के भेदों के उदाहरणों को जानते हैं; और
- नाट्य में सन्ध्यंगों को जानते हैं।

4.1 कथावस्तु का सामान्य परिचय

नाटक का कथानक हमें बताता है कि नाटक की प्रमुख घटनाएं कैसे और क्यों घटित होती हैं। नाटक का कथानक ही कथावस्तु कहलाती है। संस्कृत नाट्य परंपरा में कथानक तीन प्रकार का माना गया है-

टिप्पणी

1. **प्रख्यात**- पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथानक को प्रख्यात कथानक कहते हैं।

2. **उत्पाद्य**- कल्पना के धरातल पर बने काल्पनिक कथानक को उत्पाद्य कथानक कहते हैं।

3. **मिश्र**- उक्त दोनों कथानक 'प्रख्यात और उत्पाद्य' के मिश्रित रूप को मिश्र कथानक कहते हैं। उक्त कथानक के विभाजन के साथ ही नाटक के विकास की दृष्टि से उसकी कथावस्तु को दो रूपों में बाँटा जा सकता है-

1. **आधिकारिक कथावस्तु**- कथा के आरम्भ से लेकर कथा के अन्त तक चलने वाली कथा को आधिकारिक कथावस्तु कहते हैं।

2. **प्रासंगिका कथावस्तु**- मुख्य कथा के विकास में सहायक प्रसंगवश चलने वाली कथा को प्रासंगिक कथावस्तु कहते हैं।

नाट्य का स्वरूप बताते हुए दशरूपककार धनञ्जय ने कहा है कि अवस्था का अनुकरण नाट्य कहलाता है- अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। यह अनुकरण चार प्रकार के अभिनयों- आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार इन अभिनयों के माध्यम से एकरूपता प्राप्त कर लेना ही नाट्य है। इसी प्रकार जब नट के द्वारा नायक की विभिन अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है तो नट का यह कर्म नाट्य कहलाता है। काव्य को इस अर्थ में नाट्य भी कहा जाता है कि काव्य के पात्रों का ही अभिनय नट आदि द्वारा किया जाता है। नाटक को दृश्य विधा के अंतर्गत आने के कारण दृश्य भी कहा जाता है और पात्रों के रूप का का नट द्वारा आरोप कर किए जाने के कारण इसे रूपक भी कहते हैं। इस विषय में धनञ्जय कहते हैं कि **'रुप्यते दृश्यते इति।'** अर्थात नाट्य रूपक भी है और दृश्य भी। राम आदि के रूप का नट में आरोप करना ही रूपक शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त होता है। रूपक के मुख्य दो भेद हैं-

1. **शुद्ध रूपक**- ये संख्या में दस माने गए हैं। धनञ्जय के अनुसार वस्तु, नेता और रस के आधार पर एक दूसरे से भिन्न स्वरूप वाले दस ही रूपक हैं। ये रूपक के शुद्ध भेद हैं।

2. **संकीर्ण रूपक**- जिस रूपक में रुपक के दस शुद्ध भेदों में से दो या तीन के कतिपय लक्षणों का मिश्रण कर दिया जाता है उसे संकीर्ण रूपक कहते हैं। नाटक की कथावस्तु की मुख्य विशेषताओं की बात करें तो कथावस्तु यथासम्भव यथार्थ, संक्षिप्त और स्पष्ट होनी चाहिए। कथावस्तु यदि कल्पना से गढ़ी गई है तो भी वह इतनी यथार्थ होनी चाहिए कि पाठक उसको समाज की एक घटना के रूप में स्वीकार कर सके। कथानक को कम-से-कम विस्तार दिया जाना चाहिए और उसे अधिक से अधिक स्पष्ट रखना चाहिए।

टिप्पणी

4.2 कथावस्तु के प्रकार

नाट्य में कथावस्तु के प्रकार का वर्णन करते हुए आचार्य धनञ्जय कहते हैं कि **वस्तु च द्विधा** रूपक के तीन भेद होते हैं- वस्तु, नेता और रस। इन तीन भेदों के आधार पर ही रूपक भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। यहाँ वस्तु से तात्पर्य नाटक की कथावस्तु से है। आचार्य धनञ्जय कहते हैं कि वस्तु दो प्रकार की होती है- **वस्तु च द्विधा।** इस प्रकार से कथावस्तु दो प्रकार की होती है-

(i) आधिकारिक कथावस्तु

फल के स्वामी अधिकारी के द्वारा किया हुआ या उससे सम्बद्ध काव्य में अभिव्याप्त इतिवृत्त आधिकारिक कहलाता है। यह इतिवृत्त या कथावस्तु प्रधान होती है और शुरू से लेकर अन्त तक चलने वाली मुख्य कथावस्तु होती है।

उदाहरण- रामायण महाकाव्य में रामकथा में राम द्वारा रावण वध और सीता की प्राप्ति कथा।

(ii) प्रासंगिक कथावस्तु

ऐसी कथावस्तु जो किसी दूसरी कथावस्तु के प्रयोजन की सिद्धि के लिए होती है, किन्तु प्रसंग से उसके अपने प्रयोजन की भी सिद्धि हो जाती है वह प्रासंगिक कथावस्तु कहलाती है। यह आधिकारिक कथावस्तु की फल प्राप्ति में सहायक होती है। साथ ही साथ प्रसंग से इसकी अपनी भी फल प्राप्ति हो जाती है।

उदाहरण- रामायण महाकाव्य में राम की कथा में राम की कथावस्तु का मुख्य उद्देश्य रावण का वध और सीता की प्राप्ति है। इस उद्देश्य की प्राप्ति में सुग्रीव कथा सहायक है, किन्तु उस कथा का फल बालि की मृत्यु और सुग्रीव को राज्य प्राप्ति भी प्रसंग से सिद्ध हो जाते हैं। प्रासंगिक कथावस्तु भी दो प्रकार की होती है-

(क) पताका प्रासंगिक कथावस्तु

मुख्य कथावस्तु में अनुबन्ध सहित दूर तक चलने वाला प्रासङ्गिक वृत्त पताका कहलाता है।

उदाहरण- रामायण महाकाव्य में रामकथा में सुग्रीव का वृत्तान्त रामकथा के साथ दूर तक चलता है। जिस प्रकार पताका या ध्वज नायक का असाधारण चिन्ह होती है और उसका उपकार करती है। इसी प्रकार यह इतिवृत्त भी नायक तथा तत्सम्बन्धी कथा का उपकार करता है, इसलिए पताका कहते हैं।

टिप्पणी

(ख) प्रकरी प्रासंगिक कथावस्तु

एक अंक या प्रदेश में रहने वाला प्रासंगिक इतिवृत्त प्रकरी कहलाता है। प्रकरी की कथा एकदेशीय होती है। प्रकरी का नायक अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि न करके निरपेक्ष भाव से प्रधान नायक का सहायक होता है।

उदाहरण- रामायण महाकाव्य में राम कथा में श्रवण कुमार की कथा। यह कथा मुख्य कथा के साथ थोड़ी दूर तक ही चलती है। इसी प्रकार रामायण में जटायु की कथा।

पताका और प्रकरी में अंतर

यद्यपि दोनों ही प्रासंगिक कथावस्तु हैं और दोनों ही आधिकारिक कथा के प्रवाह में योग देती हैं और प्रधान फल की सिद्धि में सहायक होती हैं परंतु दोनों में कुछ अंतर भी है। पताका के नायक का कुछ अपना भी प्रयोजन होता है अर्थात वह प्रधान नायक की कार्यसिद्धि और फल प्राप्ति में सहायक होने के साथ-साथ अपने प्रयोजन की सिद्धि भी कर लेता है। जैसे रामकथा में सुग्रीव का प्रयोजन बालिवध या राज्य प्राप्ति के रूप में है और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए राम का सहायक होता है। प्रकरी का नायक अपने किसी प्रयोजन की अपेक्षा न करके निरपेक्ष भाव से प्रधान नायक का सहायक होता है। जैसे रामकथा में जटायु ।

पांच अर्थप्रकृतियां

वस्तुत: अर्थप्रकृतियां भौतिक विभाजन हैं जिसका सम्बन्ध कथावस्तु से ही है। इनके होने पर नाटक का रूप या ढांचा खड़ा हो जाता है। फल की सिद्धि के उपाय ही अर्थप्रकृतियां कहलाती हैं। नाटक के इतिवृत्त को पांच भागों में विभाजित किया जाता है। इन्हीं नाटकीय इतिवृत्त को अर्थप्रकृतियां कहते हैं। ये अर्थप्रकृतियां पांच होती हैं, जो नाटक में नायक को फल प्राप्ति का मूल कारण होती हैं-

1. बीज

यह नाटक के प्रारम्भ में संक्षेप में कहा जाता है और फल प्राप्ति पर्यन्त अनेक रूपों में पल्लवित होता हुआ विस्तार को प्राप्त होता है। यह बीज महाकार्य तथा अवान्तर कार्य का हेतु होने से अनेक प्रकार का होता है जैसे- फलबीज, वस्तुबीज तथा अर्थबीज।

2. बिन्दु

इससे समाप्त होने वाली अवान्तर कथा आगे बढ़ती है और प्रधान कथा अविच्छिन्न बनी रहती है। अर्थात् अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति से कथावस्तु के मुख्य प्रयोजन में

विच्छेद प्राप्त हो जाने पर जो उसके अविच्छेद का कारण होता है, वह बिन्दु कहलाता है। नाटक में यह अंत तक फैली होती है। यह बिन्दु फल प्राप्ति का अनुग्राहक है तथा स्वयं परम कारण भी है।

3. **पताका**

यह कथावस्तु में दूर तक चलती है और प्रधान फल का उपकारी होती है।

4. **प्रकरी**

यह आधिकारिक वृत्त के साथ थोड़ी ही दूर तक सम्बद्ध रहता है। ऐसे प्रासंगिक वृत्त को प्रकरी कहते हैं।

5. **कार्य**

जो साध्य होता है, वह कार्य है। इसका अर्थ के लिए उपाय किया जाता है।

पांच कार्यावस्थाएं

किसी भी नाटक में पाँच अवस्थाएं होती हैं-

1. **आरम्भ**

कथावस्तु में प्रचुर फल की प्राप्ति के लिए उत्सुकता मात्र होना ही आरम्भ कहलाता है।

2. **यत्न**

कथावस्तु में फल के प्राप्त न होने पर अत्यन्त वेगपूर्वक उद्योग करना प्रयत्न कहलाता है।

3. **प्राप्त्याशा**

कथावस्तु में फल प्राप्ति के उपाय (साधन) और अपाय (विघ्न बाधाओं) दोनों के बीच की अवस्था में जब दोनों की खींचातानी में फल प्राप्ति का निश्चय न किया जा सके उसे प्राप्त्याशा कहते हैं।

4. **नियताप्ति**

कथावस्तु में फल प्राप्ति में बाधाओं के दूर हो जाने से निश्चित फल की प्राप्ति को नियताप्ति कहते हैं।

टिप्पणी

5. फलागम

कथावस्तु में समग्र फल की प्राप्ति को फलागम कहते हैं।

इस प्रकार नाटक के कथानक में संघर्ष अवश्य होता है। यह संघर्ष बाहरी घटनाओं में होने पर अत्यन्त स्थूल होता है, परन्तु मानसिक वृत्तियों में भी जब संघर्ष दृष्टिगोचर होता है तब वह सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है। संघर्ष जितना सूक्ष्म होगा वह नाटक भी उतना ही प्रभावशाली, अन्तरंग तथा प्रख्यात होगा।

पांच सन्धियां

नाटक एक समन्वित पदार्थ है। इसमें पांच सन्धियां होती हैं। किसी एक प्रयोजन से परस्पर अन्वित या सम्बद्ध कथाओं को जब किसी दूसरे एक प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाता है, तो वह सम्बन्ध 'सन्धि' कहलाता है। पांच कार्य अवस्थाएं और पांच अर्थ प्रकृतियों से मिलकर पांच सन्धियों का निर्माण होता है।

ये सन्धियां पांच होती हैं-मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति ।

संधि	अर्थ प्रकृति + कार्यावस्था	विशेष
मुख संधी	बीज नामक अर्थप्रकृति और आरम्भ नामक कार्य अवस्था	यह मुख सन्धि बीज और आरम्भ के समन्वय से 12 प्रकार के अंगों से युक्त होती है। इसमें बहुत से रसों की कल्पना होती है। अनेक प्रकार के प्रयोजन तथा रस को उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति होती है, वह मुख सन्धि है।
प्रतिमुख संधि	बिन्दु नामक अर्थप्रकृति और यत्न नामक कार्य अवस्था	बिन्दु और प्रयत्न के योग से इसके 13 अंग होते हैं। जहां उस मुख सन्धि में निविष्ट फल के प्रधान उपाय बीज का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य की तरह प्रकाशन होता है, वह प्रतिमुख सन्धि कहलाती है।
गर्भ संधि	पताका नामक अर्थप्रकृति और प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था	प्राप्त्याशा और पताका के योग से गर्भ सन्धि के 12 अंग होते हैं। जहां बीज कभी दिखाई देता है, कभी नष्ट हो जाता है और फिर बार-बार उसका अन्वेषण किया जाता है वहां गर्भ सन्धि होती है।

टिप्पणी

विमर्श संधि	नियताप्ति तथा प्रकरी	इस सन्धि के 13 अंग हैं। इसमें करी की स्थिति वैकल्पिक है। जहां क्रोध से, व्यसन से या प्रलोभन से फल प्राप्ति के विषय में विमर्श किया जाता है तथा जिसमें गर्भ सन्धि द्वारा निर्भिन्न बीजार्थ का सम्बन्ध दिखलाया जाता है, कहलाती है। वह विमर्श सन्धि है।
निर्वहण संधि	कार्य नामक अर्थप्रकृति और फलागम नामक कार्यावस्था	इस सन्धि के 14 अंग होते हैं। प्रयोजन की पूर्ण सिद्धि होती है, वहां निर्वहण सन्धि होती है। यह रूपक प्रबन्ध की वह अर्थराशि है जिसमें उन सन्धियों में यत्र-तत्र उपन्यस्त बीजादि रूप इतिवृत्तांश प्रधान फल के निष्पादक बनते दिखाई दिया करते हैं अर्थात् जहां पर यथास्थान प्रकीर्ण बीज से युक्त मुखादि अर्थ प्रधान प्रयोजन के लिए प्राप्त कराए जाते हैं वहां निर्वहण सन्धि होती है।

अर्थोपक्षेपक

नाटक में जो घटनाएं कार्य सिद्धि से सीधा लगाव या सम्बन्ध नहीं रखतीं, उन्हें काट-छांटकर अलग करना पड़ता है, परन्तु कथा को अखण्ड बनाए रखने के लिए उनकी सूचना तो अवश्य ही दी जाती है। ऐसी ही घटनाएं 'सूच्य' कहलाती हैं। विष्कम्भक में वही बातें आती हैं जिनको अंकों में नहीं दिखाया जा सकता। वह भूत तथा भविष्य की कथाओं को सूचित करके उन्हें एक क्रम में जोड़ देता है। विष्कम्भक का प्रयोग अंक के प्रारम्भ में किया जाता है। मुख्य रूप से इसके सूचक मध्यम श्रेणी के पात्र होते हैं। इन्हीं का शास्त्रीय नाम अर्थोपक्षेपक है जो संख्या में पांच होते हैं-

1. **विष्कम्भक**- जो घटनाएं अतीत हो गई और जो घटनाएं अभी भविष्य में आने वाली हैं, उन दोनों की सूचना देने वाला विष्कम्भक होता है। विष्कम्भक दो प्रकार का होता है-

    - **शुद्ध विष्कम्भक**- जिसमें केवल मध्यम पात्र होते हैं, वह शुद्ध विष्कम्भक होता है।

    - **संकीर्ण विष्कम्भक - संकीर्ण विष्कम्भक**- जिसमें मध्यम तथा अधम दोनों प्रकार के पात्र होते हैं वह संकीर्ण विष्कम्भक कहलाता है।

2. **चूलिका**- इसके अंतर्गत परदे के भीतर से पात्र के प्रवेश होने की सूचना दी जाती है। जवनिका के भीतर स्थित पात्रों के द्वारा किसी अर्थ की सूचना देना चूलिका कहलाता है।

   उदाहरण- उत्तररामचरित के द्वितीय अंक के प्रारम्भ में तपोधना आत्रेयी का प्रवेश परदे के भीतर से सूचित किया गया है, इसी सूचना को चूलिका कहते हैं।

3. **अंकास्य**- नाटक के किसी अंक की समाप्ति पर पात्रों के द्वारा किसी ऐसी बात की सूचना दी जाए जिससे अगले अंक का आरम्भ होता है तो उसे अंकास्य या अंकमुख कहते हैं।

   उदाहरण- महावीरचरित नाटक के द्वितीय अंक में सुमन्त्र द्वारा सूचना मिलती है कि वसिष्ठ और विश्वामित्र आपको परशुराम सहित बुला रहे हैं। इस सूचना के बाद तृतीय अंक में वसिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम बैठे हुए प्रवेश करते हैं।

4. **अंकावतार**- जहां एक अंक का अन्त हो जाने पर दूसरे अंक का अभिन्न रूप से अवतरण हो जाता है वह अंकावतार कहलाता है।

   उदाहरण- मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक के अन्त में विदूषक कहता है कि दोनों देवियों को मृदङ्ग का शब्द ही उठा देगा। इसके बाद मृदङ्ग का शब्द सुनने के बाद सभी पात्र द्वितीय अंक के आरम्भ में प्रथम अंक के ही पात्र आगे की कथावस्तु को आरम्भ कर देते हैं। इस प्रकार यहां प्रथम अंक की कथा का विच्छेद हुए बिना द्वितीय अंक की कथा का अवतरण हुआ है।

5. **प्रवेशक**- भूत और भविष्यत् अर्थ की सूचना एक या अनेक अधम पात्रों द्वारा दो अंकों के बीच में देने वाला श्प्रवेशकश होता है। नाटकों में बहुत सी बातें वर्ज्य मानी जाती हैं। उनका प्रदर्शन रंगमंच के ऊपर नहीं होता है, वे भी किसी-न-किसी प्रकार सूचित ही की जाती हैं, जैसे दूर से बोलना, वध, युद्ध, राजविप्लव, देशविप्लव, विवाह, भोजन, मृत्यु, रमण, आदि।

4.3 नाट्य धर्म की दृष्टि से वस्तु के भेद

नाट्य धर्म की दृष्टि से संवाद कथावस्तु तीन प्रकार की मानी जाती है-

1. **सर्वश्राव्य**

   कथानक में किसी पात्र की बात को यदि रंगशाला में उपस्थित सभी लोग सुनें, तो इसे सर्वश्राव्य कहते हैं।

टिप्पणी

2. नियतश्राव्य

कथावस्तु में यदि पात्र द्वारा कही गई बात को कुछ निश्चित लोग ही सुनें तो उसे नियतश्राव्य कहते हैं। इसके दो भेद हैं-

(क) जनान्तिक नियतश्राव्य- जिस व्यक्ति को कोई बात नहीं बतानी हो तो उसके बीच में हाथ की सारी अंगुलियों को त्रिपताका रूप में करके जब कोई पात्र दूसरे के साथ बातें करता है, वह जनान्तिक कहलाता है।

(ख) अपवारित नियतश्राव्य- मुंह फेरकर दूसरे व्यक्ति से गुप्त बातें करना ही अपवारित है।

3. अश्राव्य

यह स्वागत कथन होता है। यदि कहने वाला ही पात्र अपनी कही हुई बात सुनता है और दूसरे लोग उसे नहीं सुनते हैं या उसको सुनने के अधिकारी नहीं होते हैं तो इसे अश्राव्य कहते हैं।

पाठगत प्रश्न 4.1

1. आधिकारिक एवं प्रासंगिक भेद किस नाट्य के अंग के हैं?

(क) वस्तु (ख) नेता

(ग) रस (घ) इनमें से कोई नहीं

2. नाट्य का कथानक कितने प्रकार का होता है?

(क) 2 (ख) 5

(ग) 3 (घ) 4

3. सानुबन्ध कथावस्तु इनमें से कौनसा है?

(क) पताका (ख) अंक

(ग) प्रकरी (घ) आधिकारिक

टिप्पणी

4. अवस्था का अनुकरण करना कहलाता है?

(क) नाटक (ख) नाट्य

(ग) भाव (घ) रस

5. अर्थोपक्षेपक कितने माने गये हैं?

(क) 7 (ख) 6

(ग) 5 (घ) 8

6. नाट्य धर्म की दृष्टि से वस्तु के कितने भेद हैं?

(क) 7 (ख) 6

(ग) 3 (घ) 8

7. इनमें से सन्धि का भेद नहीं है?

(क) मुख (ख) प्रतिमुख

(ग) उपसंहृति (घ) यत्न

8. निम्न में से कार्यावस्था नहीं है?

(क) नियताप्ति (ख) फलागम

(ग) आरम्भ (घ) प्रकरी

9. प्रासंगिक कथावस्तु के कितने भेद हैं?

(क) 2 (ख) 3

(ग) 8 (घ) 5

10. नियतश्राव्य के कितने भेद माने गये हैं?

(क) 2 (ख) 3

(ग) 8 (घ) 5

आपने क्या सीखा

- संस्कृत नाट्य परंपरा में कथानक तीन प्रकार का माना गया है- 1. प्रख्यात- पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथानक को प्रख्यात कथानक कहते हैं, 2. उत्पाद्यख्र कल्पना के धरातल पर बने काल्पनिक कथानक को उत्पाद्य कथानक कहते हैं, 3. मिश्र- उक्त दोनों कथानक 'प्रख्यात और उत्पाद्य' के मिश्रित रूप को मिश्र कथानक कहते हैं।
- नाट्य में कथावस्तु के प्रकार का वर्णन करते हुए आचार्य धनञ्जय कहते हैं कि रूपक के तीन भेद होते हैं- वस्तु, नेता और रस। इन तीन भेदों के आधार पर ही रूप भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं।
- पताका के नायक का कुछ अपना भी प्रयोजन होता है अर्थात वह प्रधान नायक की कार्यसिद्धि और फल प्राप्ति में सहायक होने के साथ-साथ अपने प्रयोजन की सिद्धि भी कर लेता है। जैसे रामकथा में सुग्रीव का प्रयोजन बालिवध या राज्य प्राप्ति के रूप में है और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए राम का सहायक होता है। प्रकरी का नायक अपने किसी प्रयोजन की अपेक्षा न करके निरपेक्ष भाव से प्रधान नायक का सहायक होता है। जैसे रामकथा में जटायु ।
- किसी भी नाटक में पाँच अवस्थाएं होती हैं- (1) आरम्भ, (2) यत्न, (3) प्राप्त्याशा, 4) नियताप्ति और (5) फलागम।
- नाटक में पांच सन्धियां होती हैं। किसी एक प्रयोजन से परस्पर अन्वित या सम्बद्ध कथाओं को जब किसी दूसरे एक प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाता है, तो वह सम्बन्ध 'सन्धि' कहलाता है। पांच कार्य अवस्थाएं और पांच अर्थ प्रकृतियों से मिलकर पांच सन्धियों का निर्माण होता है।
- नाट्य धर्म की दृष्टि से संवाद कथावस्तु तीन प्रकार की मानी जाती है- (1) सर्वश्राव्य, (2) नियतश्राव्य, (3) अश्राव्य,

पाठान्त प्रश्न

1. कथावस्तु किसे कहते हैं? इसके भेदों का वर्णन कीजिए।
2. पताका और प्रकरी के मध्य अंतर को स्पष्ट कीजिए।
3. पञ्च अर्थप्रकृतियों पर एक टिप्पणी लिखिए।
4. नाटक की पाँच अवस्थाओं को बताइए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ग)
3. (क)
4. (ख)
5. (ग)
6. (ग)
7. (घ)
8. (घ)
9. (क)
10. (क)

5

पात्र-योजना

प्रिय शिक्षार्थी, पूर्व पाठ में आपने कथावस्तु के विषय में जाना है। इस पाठ में हम नाटक में पात्र-योजना के विषय में जानेंगे। आपने भी कभी कोई नाटक का मंचन देखा होगा या जब भी देखेंगे तो पाएंगे कि नाटक में अनेक प्रकार के पात्र होते हैं। इनमें प्रमुख हैं- नायक, नायिका, सहनायक, प्रतिनायक, नायक-नायिका के सहायक अन्य पात्र आदि। किसी भी नाटक की कथावस्तु को आगे बढाने में या नाटक की प्रस्तुति में इन सभी पात्रों की कुछ अपनी विशेषताएं होती हैं। इस पाठ में हम जानेंगे कि पात्र-योजना में किन बातों का ध्यान रखना चाहिए? नाटक के मुख्य पात्रों की मुख्य विशेषताएं क्या होती हैं?

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- नाट्य में पात्र-योजना की संकल्पना को जानते हैं;
- नाट्य में नायक एवं नायिका के भेदों को जानते हैं;
- पात्रों के भेदों को उदाहरण सहित जानते हैं; और
- नाट्य में नायक व नायिका के अन्य सहायक पात्रों का जानते हैं।

5.1 पात्र-योजना का सामान्य परिचय

कथावस्तु का हिस्सा बनने वाले सभी पात्र नाटक के कथानक से जुड़े होते हैं। नाटक के प्रत्येक पात्र का अपना एक विशेष व्यक्तित्व होता है। यह व्यक्तित्व कुछ सिद्धांतों और विश्वासों का एक समूह होता है। नाटक में विविध पात्र होते हैं। उनको जीवंत करने की जिम्मेदारी नट

(अभिनेता) की होती है। नाटक का मुख्य पात्र नायक होता है। वह नाटक की कथावस्तु के विषय का प्रतिनिधित्व करता है। नायक जिस चरित्र के साथ संघर्ष करता है, वह प्रतिनायक होता है। कुछ ऐसे पात्र होते हैं जो पूरी कहानी में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। उनमें से कुछ केवल कहानी को आगे ले जाने के लिए ही होते हैं। लेखक द्वारा कथावस्तु में कुछ ऐसे पात्रों की संकल्पना भी की जाती है जो नाटक के कुछ हिस्सों में ही दिखाई देते हैं। ऐसे पात्रों की कथावस्तु के अनुसार महत्वपूर्ण भूमिका हो भी सकती है और कभी-कभी उनकी भूमिका केवल नाटक को गति देने में ही होती है। ये पात्र केवल दर्शकों को नाटक के विषय या मुख्य पात्रों पर ध्यान केंद्रित करने में सहायता करते हैं। पात्रों का उनके किरदार के अनुसार चरित्र चित्रण किया जाना होता है। नायक को उसकी भूमिका के अनुसार उसके चरित्र को भी उत्तम रखना होता है। नायक और नायिका ऐसे पात्र होते हैं जो कथावस्तु के अनुसार कुछ न कुछ मानवीय मूल्यों को प्रदर्शित करते हैं। पात्रों के चरित्र चित्रण के लिए पात्रों रूप में चित्रित और विकसित किया जाना चाहिए।

कथावस्तु में पात्रों के विशेष संवादों के माध्यम से कहानी को आगे बढ़ाया जाता है। पूरी कथावस्तु नाटक के पात्रों के बीच संवाद के माध्यम से दर्शकों तक पहुँचती है। अंतः नाटक का दर्शकों द्वारा कितना आनंद लिया जाता है यह मुख्य रूप से उनके द्वारा बोले जा रहे संवादों पर निर्भर करता है। इसलिए नाटक प्रदर्शन में प्रभाव उत्पन्न करने में संवादों की सामग्री और उनके वितरण की गुणवत्ता की प्रमुख भूमिका होती है। संवाद ही पात्रों के व्यक्तित्व को प्रकट करते हैं। साथ ही उनको बोलने का ढंग, लहजा, टोन, बोलने का तरीका, संवाद में उचित विराम, ये सब पात्र के चरित्र के बारे में बहुत कुछ उद्घाटित करते हैं। इन्हीं संवादों के द्वारा पात्रों की सामाजिक स्थिति, अतीत और पारिवारिक पृष्ठभूमि का पता चलता है। इस तरह नाटक में पात्रों की संकल्पना करते समय सभी बातों का ध्यान रखना चाहिए।

5.2 नाटक के मुख्य पात्र

5.2.1 नायक

नायक ही नाटकीय कथावस्तु को फलागम तक ले जाता है। इसलिए उसे 'नायक' या 'नेता' कहते हैं । नेता रूपक का द्वितीय भेदक तत्त्व है। यहाँ 'नेता' पद से केवल नायक का ग्रहण नहीं होता अपितु नायक, नायिका, विट, चेट, चेटी आदि सभी पात्रों का ग्रहण होता है।

नायक के गुण- आचार्य धनञ्जय के अनुसार नायक को विनीत, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रिय बोलने वाला, लोगों को प्रसन्न रखने वाला, पवित्र मन वाला, वाक्पटु, कुलीन, स्थिर, युवा तथा बुद्धि, उत्साह, स्मृति, मान एवं कला-कौशल से समन्वित और दृढ़, तेजस्वी, शूर, शास्त्रज्ञाता तथा धार्मिक होना चाहिए इन्हीं गुणों के आधार आचार्य धनञ्जय ने नायक के तीन बताए हैं-

नायक के प्रकार	विशेषताएं

टिप्पणी

उत्तम नायक	समस्त गुणों से युक्त नायक को उत्तम नायक कहते हैं।
मध्यम नायक	कुछ गुणों से हीन नायक को मध्यम नायक कहते हैं।
अधम नायक	समस्त गुणों से हीन होते हैं उनको अधम कोटि के नायक कहते हैं।

नायक के प्रकार

सभी नायक धीर होते हैं। यही कारण है कि नायक के सभी भेदों के साथ 'धीर' शब्द जुड़ा रहता है। मानवीय प्रकृति के आधार पर नायक के चार प्रकार बताये गये हैं- धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त और धीरोद्धत।

नायक का प्रकार	नायक के गुण और विशेषताएं
धीरललित	इस प्रकार का नायक निश्चिन्त, कलासक्त, सुखी और मृदु होता है। संस्कृत नाटकों में मुख्यतः यह राजा होता है। जो अपनी रानी की स्वाभाविक ईर्ष्या से उत्पन्न बाधाओं को दूर करके अपनी प्रेयसी का सुख प्राप्त करना चाहता है। नाटिका का नायक धीरललित होता है। रत्नावली नाटिका का नायक उदयन इस श्रेणी में आता है।
धीरप्रशान्त	धीरप्रशान्त नायक में धीरललित नायक के गुणों के साथ साथ वह निरभिमानी, दयालु, विनयी और न्यायपरायण होता है। प्रकरण का नायक सामान्यतः इसी श्रेणी में आता है। मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त और मालती माधव का नायक माधव धीरप्रशांत नायक हैं।
धीरोदात्त	धीरोदात्त नायक महासत्त्व, अतिगम्भीर, अविकत्थन, क्षमाशील, स्थिर, अहंकार-रहित तथा दृढव्रत होता है। नाटक के नायक प्रायः धीरोदात्त होते है। नागानन्द नाटक का नायक जीमूतवाहन इस श्रेणी में आता है।
धीरोद्धत	इस प्रकार का नायक नायक दर्प और ईर्ष्या से युक्त, मायावी, छद्मपरायण, अहंकारी, चञ्चल, प्रचण्ड और आमश्लाघी होता है। महावीरचरित में परशुराम धीरोद्धत नायक है।

5.2.2 नाटक के अन्य पात्र

नाटक की कथावस्तु को को आगे बढ़ने के लिए अनेक पात्र होते हैं। जिनके बिना कथावस्तु को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता है। इनका विवरण आगे तालिका में दिया जा रहा है।

टिप्पणी

पात्र	विशेषताएं
उपनायक	उपनायक भी नायक के समान मुख्य पात्र होता है परंतु यह नायक की तुलना में कुछ गुण-हीन होता है। यह कथावस्तु में आने वाली पताका व प्रकरी का नायक होता है। यह नायक की फलसिद्धि में सहायक होता है।
अनुनायक	यह नायक का कनिष्ठ होता है। अपने प्रयासों से यह नायक के कार्य-व्यापार में योगदान करता है। नायक के समान गुणों में कुछ कमतर होता है। इसका कोई अपना उद्देश्य नहीं होता है।
प्रतिनायक	यह नायक की लक्ष्य-सिद्धि में मुख्य अवरोधक का कार्य करता है। यह धीरोद्धत, घमण्डी, लोभी, दुराग्रही, पापी एवं व्यसनी होता है। प्रतिनायक नायक का शत्रु होता है।
विदूषक	विदूषक नायक का सहचर एवं मित्र होता है। वह अपनी वेश-भूषा एवं व्यवहार से हास्य उत्पन्न करता है। विश्वनाथ के अनुसार विदूषक श्रृंगार रस में निपुण, मानिनी नायिकाओं का मानभञ्जक होता है। उसका नाम किसी फूल अथवा वसन्त आदि के नाम पर रखा जाता है।
विट	यह नायक का सेवक एवं स्वामिभक्त होता है। वह नृत्य-गीतादि कलाओं में से एक विद्या में निपुण होता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार विट मेधावी, मधुरभाषी, कवि एवं चतुर व्यक्ति होता है।
चेट	यह भी नायक का सहायक होता पात्र होता है। आचार्य भरत के अनुसार चेट कलहप्रिय, बहुभाषी, विरूप, गन्धसेवी, मान्य और अमान्य का विशेषज्ञ होता है
शकार	आचार्य भरत के अनुसार शकार उज्ज्वल वेश-भूषा धारण करने वाला, बिना कारण रुष्ट और शीघ्र ही प्रसन्न होने वाला, अनेक विकारों से युक्त एवं अधम प्रकृति का होता है। मृच्छकटिक में शकार का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में भी शकार का उल्लेख पाया जाता है, किन्तु उसके बाद संस्कृत नाटकों में शकार का अभाव दृष्टि-गोचर होता है।
कञ्चुकी	राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करने वाला, समस्त कार्यों में कुशल, अनेक गुणों से समन्वित, वृद्ध ब्राह्मण 'कञ्चुकी' कहा जाता था। कञ्चुकी राजा का हितैषी भक्त सेवक होता था।
प्रतीहारी	मुख्य नायक या राजा के निकट रहने वाली और सन्धि, विग्रह आदि राजकीय कार्यों की सूचना देने वाली सेविका 'प्रतीहारी' कहलाती है।

टिप्पणी

दूत	दूत को अनेक गुणों से सम्पन्न होता है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार दूत तीन प्रकार के होते हैं- निसृष्टार्थ (जिसे विशेष अवसर पर कार्य करने का पूर्ण अधिकार रहता है और जो दोनों की भावनाओं को जानकर स्वयं ही सभी प्रश्नों का समाधान कर दे, उसे 'निसृष्टार्थ' दूत कहते हैं।), मितार्थ (जिसे सीमित कार्य का अधिकार होता है, उसे 'मितार्थ' दूत कहते हैं) और सन्देशहारक (जो केवल संदेश पहुँचाता है उसे 'सन्देशहारक' दूत कहते हैं)।
अन्य पात्र	● अन्त:पुर के वामन, षण्ढ, किरात, म्लेच्छ, आभीर आदि ● नायक के श्रृंगार सहायक, अर्थसहायक (मंत्री आदि), दण्डसहायक, नर्मसहायक और धर्मसहायक ● दण्डसहायकों में अमात्य, प्राड्विवाक, मित्र, कुमार, आटविक, सामन्त आदि होते हैं ● नर्मसहायक अन्त:पुर- सहायक ही है। ● धर्मसहायकों में ऋत्विक, पुरोहित, तपस्वी आदि की परि- गणना की जाती है।

5.2.3 नायिका

पूर्व में बताए गए नायक के सामान्य गुणों से युक्त नायिका होती है। इन सामान्य गुणों के आधार पर नायिका तीन प्रकार की होती है-

- **स्वकीया नायिका**- इस प्रकार की नायिका शील, आर्जव (सरलता) आदि गुणों से युक्त, व्यहारनिपुण, गृहकार्य में दक्ष, विवाहिता पतिव्रता नारी होती है। इस प्रकार की नायिका के भी तीन भेद कहे गए हैं-मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा।

नायिका प्रकार	विशेषताएं
मुग्धा नायिका	यह अंकुरितयौवना, कामवासना में नवीन, लज्जावती, सुरतक्रीड़ा से कतराने वाली, प्रणय-कोप में भी मृदु होती है।
मध्या नायिका	यौवन एवं कामवासना से पूर्ण, रतिक्रीड़ा में निपुण तथा सुरतक्रीड़ा को मोह के अन्त तक सहन करने वाली होती है।
प्रगल्भा नायिका	यौवन के उभार से कामोन्मत्त, सुरत-क्रीड़ा के कौशल से पूर्ण परिचित, काम-व्यवहार में निर्लज्ज, पति के साथ रति-क्रीड़ा में अचेत-सी हो जाने वाली तथा विकसित हाव-भाव वाली होती है।

- **परकीया नायिका**- परकीया नायिका नायक की अपनी परिणीता पत्नी नहीं होती है। वह या तो पर-परिणीता होती है या फिर अविवाहिता कन्यका। इस प्रकार परकीया नायिका के दो भेद होते हैं- परोढा और अनूढा।

नायिका भेद	विशेषताएं
परोढा नायिका	यह दूसरे की विवाहिता पत्नी होती है। विवाहिता होने पर भी वह पर पुरुष के साथ सम्भोग की इच्छा रखती है और निर्लज्ज होती है।
अनूढा नायिका	यह अविवाहित कन्या होती है और नवयौवना एवं लज्जाशील होती है। वह माता-पिता के परतन्त्र होने से परकीया कहलाती है।

- **सामान्या**- इस प्रकार की नायिका रति में निपुण, प्रगल्भ तथा धूर्त गणिका होती हैं। यह नायक से तभी तक प्रेम करती है जब तक उसका धन समाप्त नहीं हो जाता। यह भी दो प्रकार की होती है- रक्ता और विरक्ता।

नायिका भेद	विशेषताएं
अनुरक्ता	अनुरक्ता का नाटकादि में नायिका के रूप में चित्रण पाया जाता है।
विरक्ता	विरक्ता भावहीन एवं निर्लिप्त होने के कारण नाटकादि में नायिका (पात्र) नहीं हो सकती।

नायिका की सहायिकाएँ- नायक के साथ नायिकाओं को मिलाने वाली कुछ सहायिकाएँ होती हैं। दूती, दासी, सखी, पड़ोसिन, शिल्पिनी, संन्यासिनी, चेटी, दाई, कथिनी, कारु, विप्रश्निका आदि नायिका की सहायिकाएँ होती हैं, जो नायक को मिलाने में नायिका का सहयोग करती हैं।

पाठगत प्रश्न 5.1

1. नाट्य मानवीय प्रकृति के आधार पर नायक के कितने भेद माने गए हैं?

   (क) 2   (ख) 5

   (ग) 3   (घ) 4

टिप्पणी

2. इनमें से कौन-सा नायक का प्रकार नहीं है?

(क धीरललित (ख) धीरोदात्त

(ग) स्वीया (घ) धीरप्रशान्त

3. मृच्छकटिक का नायक किस प्रकार का नायक है?

(क) धीरललित (ख) धीरोदात्त

(ग) धीरोद्धत (घ) धीरप्रशान्त

4. निम्न में से राजा का सहचर एवं मित्र होता है?

(क) शकार (ख) चेट

(ग) विट (घ) विदूषक

5. विश्वनाथ के अनुसार दूत के कितने भेद माने गए हैं?

(क) 5 (ख) 8

(ग) 3 (घ) 2

6. सामान्य गुणों के आधार पर नायिका के कितने भेद हैं?

(क) 2 (ख) 3

(ग) 8 (घ) 5

7. स्वकीया नायिका के कितने भेद माने गये हैं?

(क) 2 (ख) 3

(ग) 8 (घ) 5

आपने क्या सीखा

- नाटक में विविध पात्र होते हैं। उनको जीवंत करने की जिम्मेदारी नट (अभिनेता) की होती है। नाटक का मुख्य पात्र नायक होता है। वह नाटक की कथावस्तु के विषय का प्रतिनिधित्व करता है। नायक जिस चरित्र के साथ संघर्ष करता है, वह प्रतिनायक होता है। कुछ ऐसे पात्र होते हैं जो पूरी कहानी में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। उनमें से कुछ

केवल कहानी को आगे ले जाने के लिए ही होते हैं। लेखक द्वारा कथावस्तु में कुछ ऐसे पात्रों की संकल्पना भी की जाती है जो नाटक के कुछ हिस्सों में ही दिखाई देते हैं। ऐसे पात्रों की कथावस्तु के अनुसार महत्वपूर्ण भूमिका हो भी सकती है और कभी-कभी उनकी भूमिका केवल नाटक को गति देने में ही होती है।

- नायक ही नाटकीय कथावस्तु को फलागम तक ले जाता है। इसलिए उसे 'नायक' या 'नेता' कहते हैं ।
- मानवीय प्रकृति के आधार पर नायक के चार प्रकार बताये गये हैं- धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त और धीरोद्धत।
- नाटक की कथावस्तु को को आगे बढ़ने के लिए अनेक पात्र होते हैं। जिनके बिना कथावस्तु को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता है। जैसे सहनायक, अनुनायक, प्रतिनायक आदि।
- सामान्य गुणों के आधार पर नायिका तीन प्रकार की होती है-स्वकीया, परकिया और सामान्या।

पाठान्त प्रश्न

1. नाटक के मुख्य पात्र नायक को परिभषित करते हुए, नायक के प्रकार, गुण और विशेषता को समझाइये।
2. नाट्य के सहायक पात्र-उपनायक, विदूषक, कञ्चुकी की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. स्वकीया नायिका को परिभाषित करते हुए उसके भेदों को स्पष्ट कीजिए।
4. परोढ़ा नायिका तथा अनूठा नायिका में अंतर स्पष्ट कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

5.1

1. (घ) 2. (ग) 3. (घ)

4. (घ) 5. (ख) 6. (ग)

7. (ख)

6

अभिनय परिचय

आचार्यों ने इन्द्रियग्राह्यता के आधार पर काव्य के दो भेद बतलाये हैं- 1. दृश्य काव्य और 2. श्रव्य काव्य। यहाँ दृश्य काव्य चक्षुरिन्द्रिय का विषय है। चक्षुरिन्द्रिय का विषय होने से स्पष्ट है कि देखने योग्य या दिखाई देने योग्य होने के कारण काव्य का यह भेद दृश्य काव्य कहलाता है। ऐसा काव्य रंगमंच पर अभिनेताओं द्वारा अभिनेय या अभिनीत होता है, जिसे देखकर सामाजिक रसास्वादन करते हैं। किन्तु दृश्य काव्य का आशय यह नहीं है कि ऐसा काव्य केवल देखने का ही विषय है। दृश्य काव्य को पढ़ा और सुना भी जाता है। उसका संवाद अथवा कथोपकथन नामक तत्त्व पूर्णत: श्रोत्रेन्द्रिय का ही विषय होता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि दृश्य काव्य में श्रव्यत्व का अन्तर्भाव भी होता है, किन्तु प्रधानता दृश्य की होती है। इसलिए इसे दृश्य काव्य कहा जाता है। दृश्य को नाट्य अथवा अभिनय, रूप, रूपकादि विविध नामों से भी जाना जाता है। दृश्य के लिए प्रयुक्त ये विविध अभिधान प्रवृत्तिनिमित्त भेद से ग्राह्य हैं। श्रव्यकाव्य का सम्बन्ध श्रोतेन्द्रिय से है। श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होने से सुनने योग्य काव्य श्रव्य काव्य कहलाता है। इस काव्य का आस्वादन सुनकर या पढ़कर किया जाता है। काव्य के इन्द्रियाधारित उक्त दो भेदों में से हमारे विवेच्य का सम्बन्ध दृश्य काव्य से है।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- अभिनय का सामान्य परिचय जानते हैं;
- अभिनय के प्रकारों को जानते हैं;
- अभिनय के प्रकारों का संक्षिप्त परिचय जानते हैं; और

टिप्पणी

● आधुनिक नाटकों में अभिनय में आए बदलावों को जानते हैं।

6.1 अभिनय-स्वरूप

दृश्य काव्य को अभिनेय कहा गया है। अभिनेय का अर्थ है - अभिनययोग्य काव्य। शास्त्रीय-दृष्टि से जब अभिनय तत्त्व पर विचार करते हैं तो हमारा ध्यान सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र के उस कथन में केन्द्रित हो जाता है जहाँ नाट्य नामक पंचमवेद अर्थात् नाट्यवेद के लिए चार अनिवार्य तत्त्वों की चर्चा की गई है।

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामेभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि॥

अर्थात् तत्त्वविद् ब्रह्मा ने पाठ्य, गीत, अभिनय और रस - इन चार तत्त्वों का ग्रहण चारों वेदों से किया। उन्होंने पाठ्य का ग्रहण ऋग्वेद से, गीत का सामवेद से, अभिनय का यजुर्वेद से एवं रसों का अथर्ववेद से किया और चारों तत्त्वों के संयोजन से नाट्यवेद की रचना की।

नाट्य के लिए आवश्यक इन चार तत्त्वों में प्रत्येक की महत्ता है, किन्तु उपर्युक्त चार तत्त्वों में अभिनय नाट्य का अभिनय अंग होने से सर्वप्रधान तत्त्व है। नाट्य तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन होता है- **त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तम्**

यद्यपि कई स्थलों पर अनुकीर्तन अनुकरण के रूप में प्रयुक्त होता है तथापि अनुकीर्तन अनुकरण से भिन्न होता है। अनुकीर्तन का सम्बन्ध विभावादि-विशिष्ट से है और इसके द्वारा साधारणीकृत रूप का ग्रहण होता है जबकि अनुकरण का सम्बन्ध प्रत्यक्ष से है। साधारणीकृतरूप होने पर ही सामाजिक का नट के अनुव्यवसायरूप अनुकीर्तन से सम्बन्ध होता है, जिससे रसानुभूति होती है। नाट्य के अन्तर्गत नटादि या अभिनेतादि लोक के अनुरूप ही अभिनय करता है। लोक का जो सुख-दु:खमय स्वभाव है, वही आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य आदि अभिनयों से युक्त होकर नाट्य कहलाता है। वस्तुत: नाट्य ही अभिनय है और अभिनय ही नाट्य है।

अभिनीयते इति अभिनय: -अर्थात् साक्षात्कारात्मक रूप से नाटकीय कार्यव्यापार को दर्शक तक पहुँचाना अभिनय है। **अभि अभिमुखे नयति इति अभिनय:** अर्थात् नाट्यप्रयोग को सामाजिकों के सम्मुख ले जाना अभिनय है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कहना है कि साक्षात्कारात्मक रूप से अभिनेतव्य अर्थ जिसके द्वारा सामाजिकों के पास पहुँचाया जाता है, वह अभिनय है। नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरत कहते हैं कि अभि उपसर्गपूर्वक णीञ् (नी) प्रापणे धातु से अच् प्रत्यय लगकर अभिनय शब्द सम्पन्न होता है, जिसका अर्थ आभिमुख्यनयन है अर्थात् नाट्यप्रयोग के अर्थों को प्रेक्षकों अथवा सामाजिकों के अभिमुख ले जाना अभिनय है। आचार्य भरत कहते हैं कि शाखा, अंग, उपांगों से युक्त अभिनय प्रयोग के द्वारा नाट्य के

टिप्पणी

नानाविध अर्थों को सामाजिकों के हृदय में रसास्वादन कराये जाने के कारण ही अभिनय कहलाता है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने अवस्था के अनुकरण को अभिनय कहाहै– **'भवेदाभिनयोऽवस्थानुकार:'**

यहाँ अभिनेता या नटादि मन, वचन एवं शरीरादि के द्वारा अभिनेय रामयुधिष्ठिरादि की अवस्थाओं का अनुकरण करते हैं। वस्तुत: अभिनय एक यौगिक साधना की तरह होता है जिसमें शरीर, मन, वाणी, हस्त, पादादि सभी की एकाग्रता एवं संयमादि की पूर्ण आवश्यकता है। अभिनयकाल में इन विविध अवयवों पर नियंत्रण रखते हुए उसका भावानुकूल प्रयोग किया जाता है।

पाठगत प्रश्न 6.1

1. नाट्यवेद के लिए किन चार तत्वों की चर्चा की गई है?
2. पाठ्य का ग्रहण किस वेद से किया गया है?
3. नाट्य के अंतर्गत अभिनेता किसके अनुरूप अभिनय करता है?
4. साहित्य दर्पण ग्रंथ किसने लिखा है?

6.2 अभिनय प्रकार

प्राय: सभी नाट्याचार्यों ने अभिनय के चार प्रकारों की चर्चा की है, वे हैं– आङ्गिक, वाचिक आहार्य और सात्त्विक। आचार्य भरत मुख्यत: इन्हीं चार भेदों का उल्लेख करते हैं–

आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्य: सात्त्विकस्तथा।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्रा: चतुर्धा परिकल्पित:॥

यद्यपि आचार्य भरत उक्त चार अभिनय प्रकारों के अतिरिक्त सामान्याभिनय और चित्राभिनय का निरूपण भी करते हैं। अभिनयदर्पण में अभिनय के प्रकारों का विवेचन मिलता है। अभिनयदर्पणकार के अनुसार चार अभिनय हैं – आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक –

आंगिको वाचिकस्तद्वदाहार्य: सात्विकोऽपर:।

साहित्यदर्पणकार भी इन्हीं चार भेदों का उल्लेख करते हैं –

भवेदभिनयोऽवस्थानुकार: स चतुर्विध:।
आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्य: सात्त्विकस्तथा॥

टिप्पणी

आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक-अभिनय के ये चार प्रकार ही सर्वस्वीकार्य है। उक्त चार अभिनय-प्रकारों का संक्षिप्त विवरण इस पर प्राप्त होता है –

चतुर्विध अभिनयों का संक्षिप्त विवेचन

1. **आङ्गिक अभिनय – अङ्गेन कृतं आङ्गिकं–** अर्थात् शरीर के विविध अंगों के द्वारा प्रदर्शित किया जाने वाला अभिनय आङ्गिक अभिनय है। यहाँ नट अपने शरीर के विविध अंगों, उपांगों और प्रत्यंगों के द्वारा रामादि अनुकार्य की विवध चेष्टाओं का सामाजिकों के समक्ष साक्षात् प्रदर्शन करता है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र भी आङ्गिक अभिनय के स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अंगों और उपांगों के द्वारा कार्यों का साक्षात्कार करना आंगिक अभिनय है। आचार्य भरत आंगिक अभिनय के तीन प्रकारों की चर्चा करते हैं – शरीरज, मुखज और चेष्टाकृत (चेष्टाक्रियाभिनय)।

2. **वाचिक अभिनय – वाचा कृतम् अभिनयमिति वाचिकाभिनयं** – वाणी से सम्बन्धित अभिनय वाचिक अभिनय है। नाट्यदर्पणकार कहते हैं कि वक्ता के भाव के अनुसार वाणी का अनुकरण वाचिक अभिनय है –

वाचिकोऽभिनयो वाचां यथाभावमनुक्रिया।

प्रसंग, अनुकार्य और लोकव्यवहार को ध्यान में रखकर ही वाणी का अनुकरण किया जाता है। रामादि अनुकार्य का अनुकरण करते हुए रंगमञ्च पर पात्रों के द्वारा मुख से जो कुछ भी अभिव्यक्त किया जाता है, वह सब वाचिक अभिनय के अन्तर्गत आता है। आचार्यों की दृष्टि में वाणी ही अभिनय है तथा वाचिक अभिनय नाट्य का शरीर है, जबकि आंगिक अभिनय, आहार्य अभिनय एवं सात्त्विक अभिनय वाक्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं। आंगिकादि अभिनय वाचिक अभिनय से प्रभावित व सम्पुष्ट होते हैं। अतः कहा गया है कि नट या अभिनेता को वाचिक अभिनय के विषय में यत्न करना चाहिए। भरत ने वाचिक अभिनय को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए आगम, नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, समास, तद्धित सन्धि, वचन, विभक्ति तथा उपग्रहादि से युक्त माना है तथा शब्दविषयक उक्त नियमों पर सूक्ष्मता से विचार कियाहै–

आगमनामाख्यातनिपातोपसर्गसमासतद्धितैर्युक्तः।
सन्धिवचनविभक्त्युपग्रहनियुक्तो वाचिकाभिनयः॥

आचार्य भरत के मत में यहाँ निबद्ध अर्थात् छन्दोबद्ध रचना तथा चूर्णपद अर्थात् गद्य की रचना – दो प्रकार के पदबन्धों की आवश्यकता होती है। वाचिक अभिनय के प्रसंग में भरत ने छन्दों, अलंकारों, गुण-दोषों, रस, भाषाभेद, विभाषा, स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, संबोधन-विधान, पात्रनामादि की चर्चा की है।

टिप्पणी

3. **आहार्य अभिनय** - आहार्य अभिनय का सम्बन्ध अनुकार्य रामादि के बाह्य उपकरणों से है। नाट्यदर्पणकार भी कहते हैं कि बाह्य वस्तुओं के द्वारा किया जाने वाला वर्ण आदि का अनुकरण आहार्य अभिनय कहलाता है- **वर्णाद्यनुक्रियाऽऽहार्यो बाह्यवस्तुनिमित्तकः।**

अग्निपुराण में इसे बुद्धिप्रेरित अभिनय कहा गया है। आहार्य अभिनय को नेपथ्यज-विधान माना जाता है। नेपथ्य-विधान से सुसज्जित पात्रों की नाना अवस्थाएँ एवं प्रकृतियाँ रहती हैं अतएव विना यत्न के ही यहाँ अंगादि के द्वारा भावों को व्यक्त किया जाता है। यहाँ मुखसज्जा एवं वस्त्राभूषण पर विशेष ध्यान रखा जाता है। पात्रों की अवस्था, प्रकृति, वेशविन्यास, अंगरचना, अलंकार परिधान, वस्त्राभूषण तथा रंगमञ्च पर सजीव-निर्जीव विषयों का नाट्यधर्मी प्रयोग आहार्याभिनय है। यहाँ वेष-विन्यास देश-कालादि के साथ-साथ व्यक्ति विशेष की जीविका, शील, वर्णादि का अभिव्यञ्जक है। देश विशेष के अनुसार मुखसज्जा, वस्त्राभूषण, केश-विन्यासादि के होने से आहार्य विधान में विविधता स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। नाट्यशास्त्र में आहार्याभिनय के चार प्रकार बताये गये हैं, वे हैं -

(i) पुस्त अर्थात् प्रतिरूप बनाकर प्रस्तुत किया जाना।

(ii) अलंकार - माला, आभूषण और वस्त्र अलंकार हैं।

(iii) अंगरचना - रामसीतादि अनुकार्य के अंगों के अनुरूप अनुकर्ता के अंगों की रचना करना।

(iv) सञ्जीव - रङ्गमञ्च पर प्राणियों का प्रवेश।

4. **सात्त्विक अभिनय** - एकाग्र मन का नाम सत्त्व है तथा सत्त्व जिसका प्रयोजन अथवा हेतु है, वह सात्त्विक कहलाता है- **अवहितं मनः सत्त्वं, तत् प्रयोजनं हेतुरस्येति सात्त्विकः।**

मन की स्थिरता न होने पर नट स्वरभेदादि का प्रदर्शन नहीं कर सकता है, इसलिए स्वरभेदादि अनुभावों का प्रदर्शन सात्त्विक अभिनय है। स्वरभेदादि से तात्पर्य स्वरभेद के साथ-साथ कम्पन, स्तम्भ, जम्भई, कृशता, स्थूलता, आकारगोपन, लार या फेन का गिरना, शरीर का शिथिल कर देना आदि से है। स्वरभेदादि अनुभावों का प्रदर्शन रस तथा उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृतियों के औचित्य का अनुसरण करता है। कहा गया है कि सत्त्व मन से होने वाला भाव है और वह सत्त्व समाहित मन की एकाग्रता से उत्पन्न होता है। अश्रु, रोमाञ्चादि सत्त्व के स्वभाव हैं जिसका अभिनय अन्य मनस्क होकर नही किया जा सकता है क्योंकि नाट्य में लोकस्वभाव का अनुकरण किया जाता है जिसमें सत्त्व अपेक्षित हैं नाटक में यथार्थ एवं स्वाभाविक स्थिति को उत्पन्न करने के लिए नट को सत्त्व का अनुसरण करना पड़ता है। सात्त्विक भाव आठ हैं।- स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। सात्त्विक भाव का

अभिनय करनेवाले पुरुष के आठ गुण हैं - शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थिरता, तेज, ललित और औदार्य। नायिकाओं के अलंकरण के रूप में यत्नज एवं अयत्नज दो प्रकार के अलंकारों की चर्चा प्राप्त होती है। यत्नज अलंकार के भी दो भेद बताये जाते हैं - शरीरज और स्वाभाविक। हाव, भाव और हेला नामक तीन शरीरज अलंकार एवं शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य नामक सात प्रकार के स्वाभाविक अलंकार का उल्लेख मिलता है। अव्यक्त को व्यक्त करने के कारण सात्त्विक अभिनय को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

पाठगत प्रश्न 6.2

1. अभिनय कितने प्रकार का होता है?
2. आचार्य भरत आंगिक अभिनय को कितने प्रकार का मानते हैं?
3. नाट्यशास्त्र में आहार्य अभिनय के कितने प्रकार बताए गए हैं?
4. नाट्यदर्पण किसका ग्रंथ है?

6.3 आधुनिक नाटकों में आए अभिनयगत परिवर्तन

आधुनिक काल में अभिनय के स्वरूप में नवीन प्रक्रियागत परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं पड़ता है। अभी भी पारम्परिक अभिनय स्वरूप ही सशक्त रूप में अपनी स्थिति को बनाये हुए है। हाँ, अब वर्तमान अभिनय पद्धति में पश्चिमी देशों के सम्पर्क का कुछ-कुछ प्रभाव दिखाई पड़ने लगा है। पाश्चात्य अभिनय पद्धति में जेश्चर, पौश्चर, गेट, स्पीड और स्पीच का विशेष महत्त्व आकृष्ट करने लगा है। यहाँ जेश्चर का अर्थ है - विभिन्न प्रकार की मुखमुद्राओं द्वारा भावों का प्रदर्शन करना, पौश्चर का अर्थ है - हाथ, पैर, मुट्ठी, ऊँगली, कमरादि अंगों का संचालनादि, गेट और स्पीड से तात्पर्य अभिनेताओं के चलने की गति और वेग एवं स्पीच का अर्थ वाणी या वाचिक अभिनय है। जब हम सूक्ष्म रूप से भारतीय एवं पाश्चात्य अभिनय पद्धति का अवलोकन करते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक अभिनय पद्धति में कहीं-कहीं दोनों का सम्मिश्रण अवश्य दिखाई पड़ता है किन्तु आज भी आधुनिक भारतीय अभिनय पद्धति में पारम्परिक शास्त्रीय पद्धति ही सर्वस्वीकार्य है। आधुनिक अभिनय पद्धति में दृष्टिगत कतिपय परिवर्तन को अधोलिखित रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है -

1. गेट और स्पीड पर बल।
2. जेश्चर और पोश्चर का पाश्चात्य प्रभाव।
3. प्रदर्शन की पद्धतियों में कहीं-कहीं कृत्रिमता के दर्शन होते हैं।

4. कुछ स्थलों पर बनावटी भाषा का प्रयोग।

5. आधुनिककालीन अभिनय पात्रों के कार्यों तक सीमित हो गया है।

6. वर्तमान में एक्टिंग सब कुछ हो गया है जिसमें बाह्य आकृति एवं कृत्रिमता प्रधान रूप से दिखाई पड़ती है।

7. युगपरिवर्तन का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है, जो स्वाभाविक है।

8. शरीराङ्गादि को रंगने के लिए नवीन विधियाँ।

9. नवीन वेशविन्यासादि।

फिर भी, आज भी अभिनय की पारम्परिक प्राचीन शास्त्रीय पद्धति अपने सशक्त स्वरूप को युगसापेक्षता के अनुरूप अंशतः परिवर्तन के साथ बनाये हुए है।

पाठगत प्रश्न 6.3

1. काव्य के प्रमुख भेदक तत्त्वों का उल्लेख करते हुए दृश्य काव्य को बताइये।

....

2. अभिनय-स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

....

3. आंगिक अभिनय का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए।

....

4. वाचिक अभिनय के स्वरूप का निरूपण कीजिए।

....

5. आहार्य अभिनय से क्या समझते हैं? प्रकाश डालिए।

....

6. सात्त्विक अभिनय के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

....

7. आधुनिक नाटक में आए अभिनयगत परिवर्तनों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

....

आपने क्या सीखा

- नाट्यवेद के लिए चार अनिवार्य तत्वों की बात की गई है- पाठ्य, गीत, अभिनय और रस।
- प्राय: सभी नाट्याचार्यों से अभिनय को चार प्रकार का माना है।
- आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक नाम से अभिनय चार प्रकार का है।
- आंगिक, अभिनय मुख्य रूप से तीन प्रकार का होता है- शरीरज, मुखज और चेष्टाकृत।
- आहार्य अभिनय के भी चार प्रकार बताए गए हैं।

पाठान्त प्रश्न

1. अभिनय किसे कहते हैं? इसके स्वरूप पर चर्चा कीजिए।
2. अभिनय कितने प्रकार का होता है।
3. आंगिक अभिनय पर टिप्पणी लिखिए।
4. आधुनिक नाटकों में आए अभिनयगत परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

6.1

1. पाठ्य, गीत, अभिनय और रस
2. ऋग्वेद से
3. लोक के अनुरूप

4. आचार्य विश्वनाथ

6.2

1. चार प्रकार
2. तीन प्रकार
3. चार प्रकार
4. रामचन्द्र-गुणचन्द्र

मॉडयूल-3

रस विमर्श

प्रस्तुत मॉड्यूल में रस की अवधारणा, रस-सूत्र का परिचय तथा विभिन्न मत और सहृदय की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है।

7. रस की अवधारणा तथा रससूत्र विमर्श

8. सहृदय की अवधारणा

7

रस की अवधारणा तथा रससूत्र विमर्श

आपने कभी विचार किया कि एक बार किसी नृत्य या नाटक को देखकर उसे पुनः देखने की इच्छा क्यों होती है? इसका सीधा-सा उत्तर है कि उस नृत्य या नाटक को देखकर आनन्द प्राप्त होता है। उसी आनन्द को फिर से अनुभव करने के लिए दर्शक उसे पुनः देखने की इच्छा करता है। किसी नृत्य या नाटक को देखकर दर्शक को होने वाली आनन्द की अनुभूति को 'रस' कहते हैं। भरत ने नाट्य की विविध विधाओं जैसे नाटक, प्रकरण, प्रहसन आदि की दृष्टि से रस के स्वरूप पर विचार किया है। इसलिये उनके रस विवेचन को 'नाट्यरस' कहते हैं। उनका मानना था की रस के बिना नाट्य में कोई दूसरा अर्थ ही नहीं होता। दर्शक नाटक देखने तभी जाता है जब उसे आनन्द का अनुभव हो। इसी विचार को भरत ने अपने रससूत्र में निबद्ध किया है। तत्पश्चात् रुद्रट, आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, धनञ्जय, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि काव्य-नाट्य के स्वरूप का चिन्तन करने वाले अनेक विद्वानों ने रस का विवेचन अपने-अपने दृष्टिकोण से किया है।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरान्त आप-

- रस का सामान्य परिचय जानते हैं;
- विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के स्वरूप के विषय में जानते हैं;
- रस के प्रकार और लक्षणों के विषय में जानते हैं;
- रससूत्र विमर्श को समझते हैं; और
- रस के साधारणीकरण को समझते हैं।

टिप्पणी

7.1 रस का स्वरूप

रस आनन्द का पर्याय है। सहृदयों के हृदय का स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव का संयोग प्राप्त कर लेता है तो आस्वादरूप शृंगार, हास्य, वीर, रौद्र आदि रसों के रूप में परिणत और निष्पन्न हो जाता है। जिसे आचार्य भरत ने **''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः''** के रूप में प्रतिपादित किया है।

'रस' का शाब्दिक अर्थ है-'जिसका आस्वादन किया जाए या जिसको चखा जाए'। साहित्य के क्षेत्र में काव्य को पढ़ने, सुनने या नाटक को देखने से उत्पन्न होने वाली आनन्द की अनुभूति ही 'रस' है। जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यञ्जनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से भोज्य रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यञ्जनों और औषधियों से भोज्य रस प्राप्त होता है, ठीक उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी नाट्य 'रस' रूप को प्राप्त हो जाता है। उदाहरण से हम इसे इस प्रकार समझ सकते हैं रम्य दृश्यों से सज्जित फिल्म का अभिनय करने वाले नायक-नायिका जब वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों के द्वारा अनुभाव, व्यभिचारी आदि की अभिव्यक्ति करते हुए स्थायी भाव को सर्वांगरूप में प्रस्तुत करते हैं तो एक रमणीय, भावमूलक स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो सहृदय प्रेक्षक के चित्त में हर्ष, कुतूहल आदि जागृत करती है। यह रमणीय भावमूलक स्थिति ही भरत के अनुसार 'रस' है।

इस प्रकार **भरत के अनुसार विविध भावों से उत्पन्न पुष्ट हुआ स्थायी भाव ही रस है और अधिक स्पष्ट शब्दावली में कहा जाए तो विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से संयुक्त एवं वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से अभिव्यञ्जित स्थायी भाव ही रस है।**

यद्यपि रस आदि काल से प्रवाहमान है। किन्तु नाटक या काव्य के सम्बन्ध में सर्वप्रथम रस को प्रकाशित करने वाले आचार्य भरत हैं। जिन्होंने अपने ग्रंथ "नाट्यशास्त्र" में रस पर विशद विवेचना की है। भरत सम्पूर्ण नाटक काव्य आदि को रस केन्द्रित ही मानते हैं। भरत का रससूत्र सम्पूर्ण रसचिन्तन का आधार है।

7.2 रस के घटक

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। रस की अवधारणा अथवा रस के स्वरूप के विषय में जानने के लिए विभावादि का ज्ञान होना आवश्यक है। ये रस की कारण-सामग्री हैं। इन्हें रस का अंग, अवयव या रसनिष्पत्ति के घटक भी कह सकते हैं। इनकी संयुक्त उपस्थिति ही रस है। इनको जाने बिना रस की अवधारणा स्पष्ट नहीं की जा सकती।

टिप्पणी

7.2.1 स्थायी भाव

आपने अनुभव किया होगा कि सभी मनुष्य सुख और दु:ख का अनुभव करते हैं। **सुख-दु:ख मानसिक भाव हैं।** ये सदैव स्थायी रूप से मन में सुप्तावस्था में पड़े रहते हैं। जब कोई विशेष कारण सामने आता है तब ये जागृत हो जाते हैं। जैसे- साँप को देखने से पहले जो 'भय' मन में सुप्त अवस्था में स्थित था और मन भी शान्त था, वहीं साँप के दिखाई देते ही मन में प्रकट हो जाता है और भयभीत होकर व्यक्ति उससे बचने का प्रयास करने लगता है।

सुख-दु:ख देने वाले भाव असंख्य है तथापि भरत ने सर्वप्रथम मुख्य रूप ऐसे आठ भावों की पहचान की जो मानव-मन में सदा सूक्ष्म रूप से विद्यमान हैं। उचित कारण के उपस्थित होने पर ये प्रकट हो जाते हैं। **मन में सदा सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहने वाले भावों को ही नाट्यशास्त्र की शब्दावली में स्थायी भाव कहते हैं।**

स्थायी भाव आठ हैं- रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय। ये सभी भाव विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों के कारण अनुभव में आते हैं। जैसे- भूमि के अन्दर पड़ा कोई बीज खाद, पानी और अनुकूल वायु का संयोग पाकर अंकुर के रूप में प्रकट होता है। उसी प्रकार मन में सुप्त अवस्था में विद्यमान स्थायी भाव विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से प्रकट हो जाते हैं।

7.2.2 विभाव

रति, हास आदि भावों की उत्पत्ति करने वाले प्रमुख कारण को विभाव कहते हैं। अर्थात् रस की प्राप्ति के कारण विभाव के होने पर ही कोई भाव उत्पन्न होता है। विभाव दो प्रकार के हैं- (1) आलम्बन विभाव और (2) उद्दीपन विभाव।

आलम्बनविभाव

आलम्बन विभाव ऐसे कारण कहलाते हैं जिस पर भाव अबलम्बित होते हैं अर्थात् किसी भी भाव की उत्पत्ति के मुख्य कारण को विभाव कहते हैं। जैसे- सीता को देखकर राम में रति (प्रेम) भाव प्रकट होता है। यहाँ रति भाव जगाने में सीता मुख्य कारण होने से आलम्बन विभाव है। आलम्बन विभाव की दो स्थितियाँ होती हैं-

1. **विषयालम्बन**- जिसके प्रति या जिसके कारण मन में भाव जगे वह विषयालम्बन है।
2. **आश्रयालम्बन**- जिसके मन में भाव जगे वह आश्रयालम्वन कहलाता है। उदाहरण के लिये यदि राम के मन में सीता के प्रति रति का भाव जगता है तो राम आश्रयालम्बन होंगे और सीता विषयालम्बन।

टिप्पणी

उद्दीपनविभाव

आलम्बन विभाव से रति, भय आदि भावों के अंकुरित होने के बाद उसे और अधिक तीव्र बनाने वाले सहायक कारक उद्दीपन विभाव हैं। प्रायः प्रकृति की बाह्य वस्तुएँ, परिस्थितियाँ और आलम्बन की क्रियायें भावों को उद्दीप्त करती हैं। रति, क्रोध आदि अलग-अलग भावों के उद्दीपनविभाव भी अलग-अलग होते हैं। आशय यह है कि आलम्बन द्वारा उत्पन्न भावों को उद्दीप्त करने वाले अर्थात् तीव्र करने वाले उद्दीपन विभाव कहाते हैं।

7.2.3 अनुभाव

आलम्बन और उद्दीपन विभावों के कारण उत्पन्न रति आदि भावों को दर्शकों की प्रतीति के लिये बाहर प्रकाशित करने वालीं आश्रय की क्रियाएँ, शारीरिक चेष्टाएँ आदि आश्रय की बाह्य अवस्था अनुभाव हैं। जैसे-क्रोध आने के बाद आँखों में लालिमा आना या साँप आदि हिंसक जीव देखकर भय से व्यक्ति का उस स्थान से भागना। अनुभाव चार प्रकार के हैं- आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक। अनुभावों के अन्तर्गत रति, हास, शोक आदि भावों के सूचक आठ मानसिक विकारों को सात्त्विक भाव कहते हैं। ये आठ सात्त्विक भाव हैं-

(1.) स्तम्भ (निश्चेष्टता) (2.) स्वेद (3.) रोमांच

(4.) स्वर-भंग (5.) वेपथु (कम्पन) (6) विवर्णता (रंगहीनता)

(7.) अश्रु (8) प्रलय (मूर्च्छा)

7.2.4 व्यभिचारी भाव

रति, शोक आदि किसी स्थायी भाव के प्रकट होने पर शंका, हर्ष, सन्तोष आदि पोषक भाव जो क्षण भर के लिए प्रकट होकर विलीन हो जाते हैं, उन अस्थिर भावों को व्यभिचारी कहते हैं। स्थायी भाव की तुलना समुद्र से और व्यभिचारी भावों की तुलना समुद्र में उठने-गिरने वाली लहरों से दी जाती है। जिस प्रकार लहरें समुद्र से ही पैदा होती हैं और उसी में विलीन होती हैं। ठीक उसी प्रकार किसी स्थायी भाव के प्रसंग में ही व्यभिचारी भाव क्षणिक भावों के रूप में उत्पन्न और निमग्न होकर मुख्य स्थायी भाव का पोषण करते हैं। व्यभिचारी भावों को सञ्चारी भी कहा जाता है। जिसका शाब्दिक अर्थ हैं- संचरणशील या निरन्तर चलने वाला। यह शब्द भी स्पष्ट करता है कि सञ्चारी भाव अस्थिर रहते हैं। इस प्रकार आश्रय के चित्त में उठने वाले अस्थिर मनो-विकारों को सञ्चारी भाव कहते हैं।

भरत निर्दिष्ट सञ्चारी भावों की कुल संख्या 33 है, जो इस प्रकार हैं-

(1) निर्वेद, (2) ग्लानि, (3) शङ्का, (4) श्रम, (5) धृति, (6)जड़ता, (7) हर्ष, (8) दैन्य, (9) उग्रता, (10) चिन्ता, (11) त्रास, (12) ईर्ष्या, (13) अमर्ष, (14) गर्व,

(15) स्मृति, (16) मरण, (17) मद, (18) सुप्त, (19) निद्रा, (20) विबोध, (21) व्रीडा, (22) अपस्मार, (23) मोह, (24) मति, (25) अलसता, (26) वेग, (27) तर्क, (28) अवहित्था, (29) व्याधि, (30) उन्माद, (31) विषाद, (32) उत्सुकता तथा (33) चपलता।

स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव में भेद-

स्थायी भाव उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होते। अन्त तक बने रहते हैं किन्तु सञ्चारीभाव जल-बुद्बुद् सदृश बनते तथा मिटते रहते हैं। दूसरा अन्तर इन दोनों में यह है कि स्थायी भाव प्रत्येक रस का नियत है; किन्तु एक ही सञ्चारीभाव अनेक रसों के साथ रह सकता है। इसी कारण सञ्चारीभाव को व्यभिचारीभाव भी कहते हैं।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। ये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव रत्यादि स्थायीभावों के कारण, ज्ञापक और पोषक हैं। नाटक या काव्य में वर्णित होने पर विभावादि कारण कार्य आदि का लौकिक रूप नष्ट हो जाता है। लौकिक रूप नष्ट हुए ये विभाव आदि "रस" रूपधारण कर लेते हैं।

कार्य-हेतुः सहचारी स्थाय्यादेः काव्यवर्त्मनि।
अनुभावो विभावश्च व्यभिचारी च कीर्त्यते॥

पाठगत प्रश्न 7.1

1. रस से आप क्या समझते हैं?
2. क्या आप रस को आनन्द कह सकते हैं?
3. रस सूत्र कौन-सा है?
4. नाट्यशास्त्र किसकी कृति है?
5. रस का सर्वप्रथम उल्लेख कहाँ मिलता है?
6. रस के घटक से आपका क्या अभिप्राय है?
7. रस के कितने अंग हैं?
8. 'स्थाथी' भाव क्या हैं इनकी स्थायी भाव ही संज्ञा क्यों है?
9. विभाव से आप क्या समझते हैं?

10. विभाव के प्रकार बताओ।

11. अनुभाव के कितने भेद हैं?

12. सात्विक अनुभाव कितने हैं?

13. व्यभिचारिभाव के कितने भेद हैं?

14. व्यभिचारिभावों को सञ्चारीभाव क्यों कहा जाता है?

15. क्या व्यभिचारिभाव और स्थायी भाव में कोई विशेष अन्तर आपको लगता है?

7.3 रस के प्रकार और लक्षण

नाटक को केन्द्रीकृत करते हुए भरतमुनि ने आठ प्रकार के रस माने हैं-

1. शृंगार, 2. हास्य, 3. करुण, 4. रौद्र, 5. वीर, 6. भयानक, 7. बीभत्स तथा 8. अद्‌भुत।

इन आठ रसों के अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने शान्त और विश्वनाथ ने वात्सल्य का भी समावेश किया। जिससे इन्हें मिलाकर रसों की संख्या दस हो जाती है।

विभिन्न रसों के उदाहरण

1. शृंगार रस

परस्पर अनुकूल और समान अनुराग से युक्त युवक-युवती में रहने वाला रति नामक स्थायी भाव विभाव, अनुभाव आदि से पुष्ट होकर सहृदयों के द्वारा शृंगार रस के रूप में अनुभव किया जाता है। शृंगार रस के दो भेद हैं-

1. विप्रलम्भ शृंगार 2. सम्भोग शृंगार।

विप्रलम्भ शृंगार- एक-दूसरे के प्रति प्रेम होने पर भी युवक-युवती के परस्पर मिल न पाने या मिलकर पुनः बिछड़ने पर अनुभव की गई व्याकुलता विप्रलम्भ शृंगार है। जैसे-

दुर्लभः प्रियस्तस्मिन् भव हृदय! निराशम् अहो अपाङ्गो मे स्फुरति किमपि वामः।
एष स चिरदृष्टः कथं पुनर्द्रष्टव्यः अहं पराधीना त्वं पुनः सतृष्णम्॥

कोई युवती कहती है- हे हृदय! मेरा प्रिय दुर्लभ है, उसके मिलने की आशा छोड़ दो। अरे! मेरा बाँया नेत्र फड़क रहा है। बहुत समय पहले उसे देखा है, यह किस प्रकार मिल सकता है। यद्यपि मैं पराधीन हूँ फिर भी मुझको अपने प्रति प्रबल अभिलाषा वाली समझो।

टिप्पणी

इस उदाहरण में रस के घटक तत्त्व और रसनिष्पत्ति इस प्रकार है-

स्थायी भाव- रति

रति का आश्रय- युवती

आलम्बन विभाव- युवक

उद्दीपन विभाव- नायक से दूरी, एकान्त, बहुत समय से नायक का न मिल पाना आदि।

अनुभाव- नायिका का नेत्र फड़कना

व्यभिचारी- नायिका की निराशा, मिलन की तृष्णा, उत्कण्ठा आदि।

इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रति भाव पुष्ट होकर विप्रलम्भ शृंगार के रूप में अनुभूत होता हुआ प्रेक्षकों को हर्षित करता है।

सम्भोग शृंगार- एक-दूसरे के प्रति प्रेममय और अनुकूल व्यवहार वाले युवक-युवती के परस्पर स्पर्श, आलिंगन आदि से पुष्ट रतिभाव सम्भोग शृंगार है। जैसे-

चन्द्रापीडं सा च जग्राह कण्ठे कण्ठस्थानं जीवितं च प्रपेदे।
तेनापूर्वा सा समुल्लासलक्ष्मीम् इन्दुस्पृष्टुं सिन्धुलेखेव भेजे।।

अर्थात् चन्द्रापीड को उस (कादम्बरी) ने गले से लगा लिया, ऐसा लगा मानों कण्ठ में प्राण आ गए हों। उससे पूर्व उस (चन्द्रापीड) ने उसी प्रकार आनन्द को प्राप्त किया जैसे चन्द्रमा के स्पर्श से सागर की लहरें प्राप्त करती हैं। इस उदाहरण में रस के घटक तत्त्व और रसनिष्पत्ति इस प्रकार है-

स्थायी भाव- रति

रति का आश्रय- चन्द्रापीड

आलम्बन विभाव- कादम्बरी

उद्दीपन विभाव- प्रसंग से ज्ञात वसन्त का रम्य वातावरण, कादम्बरी द्वारा नायक का आलिङ्गन आदि

अनुभाव- रोमाञ्च,

इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रति भाव पुष्ट होकर सम्भोग शृंगार के रूप में अनुभूत होता हुआ सहृदयों को आनन्दित करता है।

टिप्पणी

2. हास्य रस

हास्य रस का स्थायी भाव हास है। विकृत वाणी, रूप, वेशभूषा आदि से इसका प्रकटन होता है। अधोलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है।

त्रस्तः समस्तजनहासकरः करेणोः तावत्खरः प्राखरमुल्ललयाञ्चकार।
यावत् चलासनविलोलनितम्बबिम्ब-विस्रस्तवस्त्रमवरोधवधूः पपात॥

अर्थात् हथिनी से डरा हुआ तथा सब लोगों को हँसाने वाला गधा तब तक उछलता रहा, जब तक उसके पीठ पर कसे हुए जीन या कम्बल आदि ढीले पड़ने के कारण नियत स्थान से गिर न गये जिसे देखकर अन्तःपुर की दासियों के वस्त्र लोटपोट होने से अस्त-व्यस्त हो गये और वह वहीं गिर पड़ीं। इस उदाहरण में हास्य रस के पोषक तत्त्व और रस निष्पत्ति इस प्रकार है-

स्थायी भाव- हास

हास का आश्रय- रनिवास की दासी

आलम्बन विभाव- गधा

उद्दीपन विभाव- हथिनी से डर कर गधे का उछल कूद करना,

अनुभाव- रनिवास की दासी का लोटपोट होकर गिरना, हँसते-हँसते वस्त्रों का अस्त-व्यस्त होना

व्यभिचारी- हर्ष

इस प्रकार हास भाव को प्रकर्ष पर पहुँचाने वाली रसनिष्पत्ति की समस्त कारण-सामग्री विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के रूप में विद्यमान है जिनसे उत्कर्ष को प्राप्त होकर हास नामक स्थायी भाव प्रेक्षकों को हास्यरस के रूप में अनुभूत होता है।

3. करुण रस

करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है। यह प्रियजन की मृत्यु, वैभव-नाश, वध, बन्धन, आदि दुःख देने वाले विभावों से उत्पन्न होता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

हा मातस्त्वरिताऽसि कुत्र किमिदं हा देवताः क्वाऽऽशिषः

धिक् प्राणान् पतितोऽशनिहु र्तवहस्तेऽङ्गषु दग्धे दृशौ।

इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधाः कुर्वन्ति भित्तीरपि॥

इस उदाहरण में करुणरस के घटक तत्त्व और रसनिष्पत्ति इस प्रकार है–

स्थायी भाव– शोक

शोक का आश्रय– परिजन

आलम्बन विभाव– मृत महारानी

उद्दीपन विभाव– उनका मृत शरीर और चिताग्नि आदि।

अनुभाव– विलाप करना, दैवनिन्दा, कण्ठ का रुँधना आदि।

व्यभिचारी– निर्वेद, मोह, व्याधि, जड़ता, विषाद, ग्लानि, दैन्य आदि

इस प्रकार इन विभावादिकों से पुष्ट शोक स्थायी भाव यहाँ करुण रस रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

4 रौद्र रस

रौद्ररस का स्थायी भाव 'क्रोध' है। शत्रु की प्रतिकूलता अपकार, संघर्ष, आक्रोश, विवाद आदि से क्रोध उत्पन्न होता है। अधोलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है–

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तकर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपं.
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥

धृष्टद्युम्न के द्वारा द्रोणाचार्य की हत्या कर दिये जाने से क्रोधित अश्वत्थामा कहता है कि पाण्डवों की सेना में जो शस्त्र धारण करता है, राजा द्रुपद के वंश में चाहे बच्चा हो या गर्भ में स्थित शिशु हो, जिसने भी अपनी आँखों से मेरे पिता की हत्या का घोर कृत्य देखा है और जो मेरा विरोधी है, क्रोध में अन्धा बना मैं उसका यमराज बन जाऊँगा और यदि यमराज भी मेरे विरोध में आया तो उसको भी समाप्त कर डालूँगा। इस उदाहरण में रौद्ररस के घटक तत्त्व और रस निष्पत्ति इस प्रकार है–

स्थायी भाव– क्रोध

क्रोध का आश्रय– अश्वत्थामा

आलम्बन विभाव– धृष्टद्युम्न

उद्दीपन विभाव– पिता द्रोण का वध

टिप्पणी

अनुभाव- शपथ लेना, शस्त्र उठाना, लाल आँखें, चेहरा तमतमाना

व्यभिचारी- अमर्ष, चण्डता, गर्व

इस प्रकार क्रोध भाव को प्रकर्ष पर पहुँचाने वाली रसनिष्पत्ति की समस्त कारण-सामग्री विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के रूप में विद्यमान है जिनसे उत्कर्ष को प्राप्त होकर क्रोध नामक स्थायी भाव प्रेक्षकों को रौद्र रस के रूप में अनुभूत होता है।

5. वीर रस

वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' है। शक्ति, धैर्य, शौर्य दान, त्याग आदि से साहस और उल्लास पूर्वक युद्धादि में संलग्नता से यह भाव प्रकट होता है। यह धर्मवीर, दानवीर, दयावीर और युद्धवीर भेद से अनेक प्रकार का है।

रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान् दृप्तः राजन्यकमेकवीरः।
विलोलयामास महावराहः कलापक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः॥

जिस प्रकार प्रलय के समय वराह भगवान् समुद्र के बड़े हुए जल को चीरते हुए आगे चलते गये, उसी प्रकार रथ पर बैठे हुए कवच तथा तरकस को धारण किये हुए अद्वितीय वीर राजा अज अकेले ही शत्रुओं की सेना को चीरते चले जा रहे थे।

इस उदाहरण में युद्ध वीर रस के घटक तत्त्व और रस निष्पत्ति इस प्रकार है-

स्थायी भाव- उत्साह

उत्साह का आश्रय- अज

आलम्बन विभाव- शत्रुसेना

उद्दीपन विभाव- शत्रुओं का मिलकर अज पर आक्रमण, युद्ध भूमि।

अनुभाव- अकेले ही शत्रु को चीरना, कवच तीर तरकस आदि धारणकर रथ को लेकर अकेले ही शत्रु सेना पर टूट पडना।

व्यभिचारी- हर्ष, गर्व, मद आदि

इस प्रकार उत्साह के अनुकूल विभावादि के वर्णन से अज का युद्ध के प्रति उत्साह वीररस के रूप में सहृदय को अनुभूत होता है।

6. भयानक रस

भयानक रस का स्थायी भाव 'भय' है। डरपोक स्वभाव के व्यक्तियों में अपराध करने पर या हिंसक पशु, सूना घर, जंगल, पर्वत तथा साँप आदि का दर्शन से पैदा होता है। जैसे-

श्येनमम्बरतलादुपागतं शुष्यदाननबिलो विलोकयन्।
कम्पमानतनुराकुलेक्षणः स्पन्दितुं नहि शशाक लावकः॥

जब बटेर ने आसमान से नीचे उतरते हुए बाज को देखा तो उसका गला सूख गया, उसका शरीर काँपने लगा, उसकी आँखों में आँसू भर आये और वह वहाँ से हिल भी न सका। इस उदाहरण में भयानकरस के घटक तत्त्व और रसनिष्पत्ति इस प्रकार है-

स्थायी भाव- भय

भय का आश्रय- बटेर

आलम्बन विभाव- बाज

उद्दीपन विभाव- बाज का आसमान से बटेर की ओर उतरना

अनुभाव- गला सूखना, देह काँपना, आँखों में आँसू भर आना, हिल न सकना।

व्यभिचारी- शंका, त्रास, दैन्य

इस प्रकार यहाँ भय भाव के परिपाक की सभी कारण-सामग्री विद्यमान है जो सहृदय प्रेक्षक में भयानक रस का संचार करती है।

7. बीभत्स रस

बीभत्स रस का स्थायी भाव 'जुगुप्सा' है। यह स्थायी भाव अरुचिकर वस्तुओं के दर्शन एवं श्रवण आदि कारणों से उत्पन्न होता है। जिसके होने पर नाक मुँह आदि को सिकोड़ना, थूकना, हृदय-कम्पन आदि अनुभाव होते हैं। जैसे-

अहश्शेषैरिव परिवृतो मक्षिकामण्डलीभिः
पूयक्लिन्नं व्रणमभिमृशन् वाससः खण्डकेन।

रथ्योपान्ते द्रुतमुपसृतं सवचनेत्रकोणं
छत्रघ्राणं रचयति जनं दद्रुरोगी दरिद्रः॥

अर्थात् ऐसा लगता कि कोई पाप शेष रहने से कोढ़ से पीड़ित रोगी के घाव से निकलने वाले मवाद पर मक्खियाँ चारों ओर से भिनभिना रही हैं। गीले घाव को कपड़े से पोछते हुये दरिद्र कोढ़ी को देखकर गली के किनारे से शीघ्रता से जाने वाले लोग अपनी आँखों की कोरों को सिकोड़ कर नाक बन्द कर लेते हैं।

इस उदाहरण में बीभत्स रस के घटक तत्त्व और रसनिष्पत्ति इस प्रकार है-

स्थायी भाव- जुगुप्सा

जुगुप्सा का आश्रय- गली के किनारे से जाते लोग

आलम्बन विभाव- कोढ़ग्रस्त रोगी

उद्दीपन विभाव- मक्खी भिनभिनाना, घाव से मवाद बहना आदि

अनुभाव- राहगीरों द्वारा नाक-आँख सिकोड़ना आदि

व्यभिचारी- विषाद,

इस प्रकार जुगुप्सा भाव के परिपाक की सभी कारण-सामग्री विद्यमान है जो सहृदय प्रेक्षक में बीभत्सरस का संचार करती है।

8. अद्भुत रस

अद्भुत रस का स्थायीभाव 'विस्मय' है। अकल्पनीय, अलौकिक वस्तु या घटना के अचानक से होने पर विस्मय भाव प्रकट होता है। जैसे-

चराचरजगज्जालसदनं वदनं तव।
गलद्गगनगाम्भीर्यं वीक्ष्यास्मि हृतचेतना॥

मिट्टी से भरा मुख देखकर उसे उगलवाने के लिये यशोदा जब बालकृष्ण का मुख खुलवाती हैं तब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उसमें देखकर अचम्भित रह जाती हैं और कहती हैं- हे कृष्ण! तुम्हारे मुख को, जिसमें यह चराचरात्मक समस्त जगत् समाहित है और जो आकाश की भी गम्भीरता को अपमानित कर रहा है, देखकर मेरी तो चेतना ही लुप्त हो गई है। इस उदाहरण में अद्भुतरस के घटक तत्त्व और रस निष्पत्ति इस प्रकार है-

स्थायी भाव- विस्मय

विस्मय का आश्रय- यशोदा

आलम्बन विभाव- बालकृष्ण

उद्दीपन विभाव- मुख के अन्दर समस्त जगत् का दर्शन

अनुभाव- चेतना की लुप्तता, इससे प्रतीयमान रोमाञ्च, आंखों का फैलना आदि।

व्यभिचारी- गम्यमान त्रास ।

इस प्रकार विस्मय भाव के पुष्ट होने की सभी कारण सामग्री विद्यमान है जो सहृदय प्रेक्षक के चित्त में अद्‌भुतरस का संचार करती है।

पाठगत प्रश्न 7.2

1. रस कितने प्रकार का है?
2. क्या आप भरत सम्मत रस-संख्या जानते हैं?
3. शृंगार के कितने प्रकार हैं?
4. हास्य रस कब निष्पन्न होता है?
5. वीर रस का स्थायी भाव क्या है?
6. भयानक रस का स्थायी भाव क्या है?
7. अद्‌भुत रस कब पुष्ट होता है?

7.4 रस का साधारणीकरण

आपने रामलीला में देखा होगा कि रंगमंच पर वनवास के दृश्य में दशरथ राम के वनगमन से शोक का अनुभव करते हैं। दशरथ का शोक उचित है क्योंकि वे राम के पिता हैं और राम को अपने से दूर भेजना नहीं चाहते। किन्तु दर्शक उस दृश्य को देखकर क्यों शोकाकुल हो जाते हैं?

इसका प्रश्न उत्तर साधारणीकरण की प्रक्रिया के द्वारा दिया जाता है। साधारणीकरण का शाब्दिक अर्थ है 'जो वस्तु साधारण नहीं है उसे साधारण बना देना'। साधारण शब्द का विलोम है-'विशेष'। जब किसी वस्तु या विचार में से विशेषभाव समाप्त कर दिया जाता है तब वह साधारण कही जाती है। विशेष भाव या वस्तु से व्यक्ति-विशेष का ही सम्बन्ध होता है जबकि साधारण वस्तु और भाव का सम्बन्ध सभी व्यक्तियों से हो सकता है।

टिप्पणी

लोक में देखा जाता है कि आत्मीय जनों के प्रति ममत्व, शत्रुओं के प्रति परत्व और जो न शत्रु है न मित्र उसके प्रति तटस्थ भाव होता है। ये भाव व्यक्ति की भावनाओं को भी स्वकीय, परकीय या तटस्थ सीमाओं में बाँधते हैं। नाटक देखते समय यदि दर्शक इस प्रकार की विशेष सीमाओं में बँधा रहता है तो उसे आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती।

रसानुभूति की शब्दावली में अभिनेता नट को अनुकर्त्ता, वास्तविक रामादि को अनुकार्य और दर्शक को सहृदय कहते है। जब अनुकार्य, अनुकर्ता और सहृदय के मध्य विद्यमान देश, काल आदि का भेद समाप्त हो जाता है और रंगमञ्च पर प्रदर्शित भाव किसी विशेष का न लगकर सामान्य सा प्रतीत होता है उस अवस्था को "साधारणीकरण" कहते हैं। रसानुभूति के लिये किसी भाव का साधारणीकरण सर्वाधिक आवश्यक है। साधारणीकरण के बिना रसानुभूति नहीं हो सकती। साधारणीकृत भाव वह सामान्य भाव है जिसके साथ सभी दर्शकों का समान रूप से जुड़ाव हो जाता है।

दर्शक अपने विशेषभाव को छोड़ देते है और दशरथ, राम आदि पात्र भी विशेष न होकर केवल पिता-पुत्र आदि साधारण सम्बन्धों की प्रतीति कराते हैं। जिनमें प्रेक्षक इतना तन्मय हो जाता है कि दशरथ आदि के भाव उसके अपने भाव बन जाते हैं, जिनका अनुभव करके वह भी शोक का अनुभव करता है। नाटक देखकर इन विशेष भावों की विस्मृति की प्रक्रिया में भाव के आश्रय के साथ दर्शक की अनुभूति का तादात्म्य हो जाता है। इसके साथ ही राम केवल दशरथ के पुत्र न रहकर सबको अपने पुत्र प्रतीत होते हैं अर्थात् सबके शोकभाव का आलम्बन बन जाते हैं।

> साधारणीकरण वह व्यापार है, जिसमें सहृदय अपने पूर्व भाव से अलग होकर सामान्य तादात्म्य भाव से रस की अनुभूति या आस्वादन करता है। साधारणीकरण के अभाव में रसास्वाद सम्भव नहीं, यह न केवल आश्रय का होता है न केवल आलम्बन का और न इन दोनों का पृथक्-पृथक् बल्कि इनके सम्मिलित या सम्मिश्रित क्रिया-कलाप का व्यापार है।

पाठगत प्रश्न 7.3

1. साधारणीकरण क्या है?
2. क्या रस आस्वादन साधारणीकरण के बिना हो सकता है?
3. तादात्म्य से क्या अभिप्राय है?
4. साधारणीकरण की रसास्वादन में क्या भूमिका है?

7.5 रस सूत्र विमर्श

सबसे पहले भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र नामक ग्रन्थ में रस के विषय में व्यवस्थित विचार किया है। इनके द्वारा प्रस्तुत की गई रस की परिभाषा 'रससूत्र' के नाम से प्रसिद्ध है।

भरत ने रससूत्र में रसानुभूति को रसनिष्पत्ति कहा है। भरतमुनि का प्रसिद्ध रस सूत्र है- **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"**

अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारिभाव के संयोग से रसनिष्पन्न होता है।

रससूत्र में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी रस निष्पत्ति के अवयव हैं। इनके अतिरिक्त 'संयोगात्' और 'रस निष्पत्तिः' शब्दों का भी प्रयोग किया है। संयोग और निष्पत्ति शब्दों का सम्बन्ध रस विषयक प्रक्रिया से है। इस प्रकार रस का स्वरूप समझने के लिये रस सूत्र में आये शब्दों के मुख्यतः दो भाग किये जा सकते हैं-

1. रस की कारण सामग्री के वाचक शब्द : विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी

2. रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया के बोधक शब्द : संयोग और निष्पत्ति

यद्यपि भरत ने इस सूत्र में स्थायी शब्द का प्रयोग नहीं किया है फिर भी इसे उन्होंने रस सूत्र की व्याख्या करते समय स्पष्ट किया है। रसनिष्पत्ति के लिये स्थायी भाव का होना सर्वाधिक आवश्यक है।

7.6 रस सूत्र की व्याख्या

भरत के रस सूत्र की सामान्य रूप से चार व्याख्याएँ मिलती हैं। भरत के रससूत्र में स्थित 'संयोगात्' और 'निष्पत्ति' पदों की व्याख्या करते समय विद्वानों में एकमत न होने से विविध मत अस्तित्व में आये। जो इस प्रकार हैं-

आचार्य	**'संयोगात्' का अर्थ**	**'निष्पत्ति' का अर्थ**	**मत**
भट्टलोल्लट	उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध	उत्पत्ति	उत्पत्तिवाद
शंकुक	अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध	अनुमिति	अनुमितिवाद
भट्टनायक	भाज्य-भोजक सम्बन्ध	भुक्ति	भुक्तिवाद
अभिनवगुप्त	व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध	अभिव्यक्ति	अभिव्यक्तिवाद

टिप्पणी

उत्पत्तिवाद- आचार्य भट्टलोल्लट ने रसानुभूति को 'रसोत्पत्ति' कहा है। इन्होंने भरत के रससूत्र में प्रयुक्त 'संयोगात्' का अर्थ- 'उत्पाद्य-उत्पादक' सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' किया है। इन्होंने माना कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव उत्पादक और स्थायी उत्पाद्य है। जब विभाव आदि का स्थायी भाव के साथ संयोग होता है तब रामादि में रस की उत्पत्ति होती है। वास्तविक रस तो मूल राम-सीता आदि में था, चूँकि दर्शक रंगमंच पर नट-नटी आदि को राम-सीता आदि के रूप में देखते हैं, इसलिये उसमें भी रस की उत्पत्ति मान लेते हैं।

अनुमितिवाद- आचार्य शंकुक ने रसानुभूति को रसानुमिति कहा है। इन्होंने भरत के रससूत्र में प्रयुक्त 'संयोगात्' का अर्थ 'अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध' और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' किया है। शंकुक का मानना है कि विभाव आदि अनुमापक हैं और स्थायी भाव अनुमाप्य है। स्थायी भाव के साथ विभावादि का संयोग होने पर दर्शक रामादि के रूप में स्थित नट में रति आदि की उपस्थिति मान कर रस की अनुमिति करता है। रामादि के रूप में स्थित नट में वस्तुत: रति आदि भाव नहीं होते। वह अपने अभिनय-कौशल से उन्हें इतने स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत करता हैं कि वे बनावटी नहीं लगते। रससूत्र पर प्रकट किए गए आचार्य लोल्लट और आचार्य शंकुक के विचारों की तुलना में भट्टनायक और अभिनव गुप्त की रससूत्र व्याख्यायें अधिक तर्क संगत मानी जाती है।

भुक्तिवाद- भट्टनायक ने रसानुभूति को रसभुक्ति कहा है। इन्होंने भरत के रससूत्र में प्रयुक्त 'संयोगात' का अर्थ भोज्य-भोजक सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' किया है। विभाव, अनुभाव और सञ्चारी 'भोजक' हैं और स्थायी भाव 'भोज्य' है। जब विभावादि का स्थायी भाव से 'भोज्य-भोजक' सम्बन्ध बनता है तब रस की 'भुक्ति' होती है। इस प्रकार नाटक को देखकर सहृदय को जिस आनन्द का अनुभव होता है, वह भट्टनायक के मत में रसभुक्ति कहलाता है।

नाटक में सबसे पहले विभाव, अनुभाव रूप विशेष पदार्थों का बोध होता है। उसके बाद एक विशेष प्रक्रिया से विभाव, अनुभाव आदि पदार्थों का साधारणीकरण हो जाता है। इस अवस्था में विभाव आदि का विशेषत्व समाप्त हो जाता है और वे सामान्य प्रतीत होने लगते हैं। साधारणीकरण से दर्शक में सत्त्व गुण का संचार हो जाता है और वह अलौकिक आनन्द के रूप में रस का भोग करता है।

7.6.1 आचार्य अभिनवगुप्त

रससूत्र के व्याख्याकारों में अभिनवगुप्त का मत सर्वाधिक प्रचलित है। उन्होंने रसानुभूति को रसाभिव्यक्ति कहा है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का स्थायी भाव के साथ व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध होने पर रस अभिव्यक्ति होता है। यह मत **रसाभिव्यक्तिवाद** कहलाता है।

सहृदय के चित्त में रति आदि स्थायी भाव सूक्ष्म वासना के रूप से विद्यमान रहते हैं। सहृदय अपने लौकिक अनुभव से जानते हैं कि लोक में युवक-युवती आदि विशेष कारणों से एक दूसरे से प्रेम करते देखे जाते हैं। जब वे ऐसे दृश्य बार-बार देखते हैं तो उनसे रति आदि भाव का अनुमान करने में निपुण हो जाते हैं। जब उनके सामने उसी प्रकार विभावादि का प्रस्तुतीकरण होता है तब वे साधारणीकृत रूप से अनुभूत होते हैं, जिनसे सहृदय के हृदय में वासना रूप से सुप्त स्थायी भाव अभिव्यक्त होकर रस रूप में अनुभूत होता है।

अभिनव की दृष्टि में रस नौ हैं। इनमें श्रृंगार, करुण शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और बीभत्स रस और उसके स्थायी भाव भरत के ही समान हैं। नवम रस के रूप में शान्तरस भी सहृदय को आस्वादित होता है, उसका स्थायी भाव शम है।

7.6.2 आचार्य धनंजय

आचार्य धनञ्जय ने भी माना है कि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भावों के संयोग से आस्वाद्यमान स्थायी ही रस कहलाता है। विभाव आदि से संयुक्त स्थायी भाव के साथ सहृदय के चित्त की तन्मयता (संभेद) हो जाती है और सहृदय स्वयं के आनन्द का अनुभव करता है जिसे आस्वाद कहते हैं। यही आस्वादन रस है। रति, शोक आदि भाव आस्वादन के पूर्व स्थायी और आस्वादन की अवस्था में रस कहलाते हैं। इन्होंने अभिनवगुप्त की रसाभिव्यक्ति को नहीं माना। इनका विचार था कि नाटक आदि से सहृदय में रस की अभिव्यक्ति नहीं होती अपितु रस की भावना होती है।

नाटक देखते समय सहृदय प्रेक्षक के लिये रंगमंच पर दिखाई देने वाले पात्र बालक के खिलौने के समान बनावटी होते हुये भी बनावटी नहीं लगते हैं। जैसे-मिट्टी से बने हाथी-घोड़े आदि खिलौने बच्चे के मन पहले से ही में विद्यमान उत्साह, हर्ष आदि की भावना कराते हैं उनसे खेलता हुआ बालक अपने मन में विद्यमान उत्साह आदि की भावना का अनुभव करके आनन्दित होता है, उसी प्रकार रंगमंच के पात्र और उनकी शारीरिक-क्रियाएँ प्रेक्षक के मन में सुप्तावस्था में विद्यमान रति, शोक आदि की श्रृंगार, करुण आदि के रूप में भावना कराती हैं। धनञ्जय ने नाटक की दृष्टि से भरत सम्मत आठ रस ही स्वीकार किए हैं। काव्य की दृष्टि से तो शान्तरस को भी ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु नाटक में अभिनय न होने से शान्त रस की स्थिति नहीं मानते।

7.6.3 आचार्य विश्वनाथ

विश्वनाथ द्वारा मान्य रस का स्वरूप और निष्पत्ति की प्रक्रिया पूरी तरह से अभिनवगुप्त की रसाभिव्यक्ति के समान ही है। ये भी मानते हैं कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारिभाव के द्वारा अभिव्यक्त किया गया स्थायी भाव रसता को प्राप्त करता है।

विश्वनाथ ने रसनिष्पत्ति के साथ साथ रस के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है- जिसके अनुसार सहृदय के चित्त में सत्त्व गुण की प्रबलता होने पर उसे अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दरूप, चिन्मय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से मुक्त, ब्रह्मस्वाद सहोदर, एक मात्र लोकोत्तर चमत्कारी रस निज स्वरूप से अभिन्न हुआ सा आस्वादित होता है। जैसे-योगी चित्त की एकाग्र अवस्था में जगत् से विमुख होकर अपने हृदय में स्वयं से अभिन्न परमात्मा का साक्षात्कार करता है, उसी प्रकार सहृदय अपने हृदय में स्वयं से अभिन्न रस का साक्षात्कार करता है।

रस स्वप्रकाशानन्द और चिन्मय है। रसानुभूति में विभाव आदि अलग-अलग अनुभूत न होकर पानकरस के समान अखण्ड रूप में प्रतीत होते हैं। जब सहृदय का काव्य के पात्रों के साथ पूर्ण तन्मयीभाव हो जाता है, तब वह स्व, पर, तटस्थ की भावना से मुक्त हो जाता है। उस समय उसमें रसानुभव के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान नहीं रहता।

रस लोकोत्तर चमत्कारी है। उसकी तुलना किसी लौकिक अनुभव से नहीं की जा सकती। लौकिक अनुभवों में व्यक्ति राग-द्वेष से युक्त होता है, जबकि रसानुभूति में साधारणीकरण हो जाने से सहृदय राग-द्वेष की भावना से मुक्त होता है।

रस ब्रह्मास्वाद नहीं, वरन् उसका सहोदर है। ब्रह्मास्वाद में जिस प्रकार अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है, वैसी ही अलौकिक आनन्द देने वाली अनुभूति रस में भी होती है। इन दोनों में अन्तर यह है कि ब्रह्मास्वाद स्थायी होता और रसास्वाद काव्यानुभव काल में ही अनुभूत होता है। इनके अनुसार रस दस हैं-श्रृंगार, करुण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स और वत्सल। इनके स्थायी भाव भरत के ही समान हैं। इनके अतिरिक्त शान्तरस का स्थायी भाव शम और वत्सलरस का स्थायी भाव वत्सलता है। वत्सल रस का सर्वप्रथम विचार विश्वनाथ ने ही रखा।

7.6.4 आचार्य जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया विषयक अभिनवगुप्त के अभिव्यक्ति वाद का ही समर्थन किया है और सहृदय में रस की सत्ता मानी है। इन्होंने रस को "भग्नावरणचित्" कहा है जिसका तात्पर्य कि सहृदय की चेतना का अज्ञान के आवरण से मुक्त होना। रति, हास आदि स्थायी भाव अनुभूति न होने पर वासना या संस्कार के रूप में हृदय में अज्ञात अवस्था में पड़े रहते हैं। कवि कौशल से वर्णित अलौकिक विभावादि सहृदय को आश्चर्य चकित करते हैं और उसके हृदय में इस प्रकार उतर जाते हैं जिससे सहृदय की चेतना को ढंकने वाला अज्ञान रूपी आवरण नष्ट हो जाता है। अज्ञान का नाश होते ही सहृदय अपने-पराये की सीमाओं से ऊपर उठकर अपने व्यक्तिगत रूप को भूलकर अपने में ही विद्यमान आनन्द का अनुभव करता है। आनन्द का यही साक्षात्कार रस है।

आचार्य जगन्नाथ ने अभिनव गुप्त सम्मत नौ रस ही माने हैं। ये शान्तरस का स्थायी भाव शम नहीं अपितु तत्त्वज्ञान से होने वाला निर्वेद मानते हैं।

पाठगत प्रश्न 7.4

1. रससूत्र क्या है?
2. भट्टलोल्लट का मत किस नाम से जाना जाता है?
3. भट्टलोल्लट को 'संयोग' और 'निष्पत्ति' का क्या अर्थ अभिमत है?
4. आचार्य शंकुक का रस विषयक मत क्या है?
5. भुक्तिवाद के व्याख्याकार कौन हैं?
6. भट्टनायक के अनुसार संयोग और निष्पत्ति को स्पष्ट कीजिए।
7. सर्वाधिक प्रचलित मत किसका है?
8. आचार्य जगन्नाथ रस की सत्ता कहाँ मानते हैं?
9. जगन्नाथ सम्मत शान्त रस का स्थायी भाव क्या है?

आपने क्या सीखा

- रस प्रतिष्ठापक आचार्य भरत हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ "नाट्यशास्त्र" में रससूत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः अधिष्ठित किया।
- रस आनन्दमय अनुभूति है। जो विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग से सहृदय पाठक या दर्शक को प्राप्त होती है। भरत के मत में नाट्यरस आठ हैं।
- साधारणीकरण से अभिप्राय विशेषभाव से मुक्ति है। साधारणीकरण रस प्रक्रिया की आधारभूमि है। इसके अभाव में रसास्वादन असम्भव है।
- रस की प्रमुख चार व्याख्याएँ प्रसिद्ध हैं। जिनमें भट्टलोल्लट और शंकुक क्रमशः अनुकर्त्ता और अनुकार्यगत रस मानते हैं। भट्टनायक रस को भोज्य और अभिनवगुप्त व्यंग्य मानते हैं।

टिप्पणी

- आचार्य धनञ्जय रस की अभिव्यक्ति को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार रस की भावना होती है। ये नाटक में अभिनय न होने के कारण शान्त रस की सत्ता को स्वीकार नहीं करते।

- आचार्य जगन्नाथ रस के सहृदय-गत पक्ष के पोषक हैं। इनके अनुसार अज्ञान समाप्त होने के बाद सहृदय अपने में विद्यमान आनन्द की अनुभूति करता है।

पाठान्त प्रश्न

1. रस से आप क्या समझते हैं? रस के अवयवों को स्पष्ट कीजिए।
2. आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रस स्वरूप को उद्‍घाटित करें।
3. रस एवं रससूत्र विमर्श पर निबन्ध लिखिए।
4. रससूत्र विमर्श के प्रसंग में आपको सबसे अधिक प्रभावित करने वाला मत कौन-सा लगा और क्यों?
5. शंकुक के मत की भट्टलोल्लट के मत के सन्दर्भ में विशिष्टता स्पष्ट कीजिए।
6. अभिव्यक्तिवाद की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।
7. धनंजय रस को किस प्रकार स्पष्ट करते हैं।
8. श्रृंगार रस के भेदों को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
9. करुण एवं अद्‍भुत रस को उनके अंगों सहित सोदाहरण लिखिए।
10. साधारणीकरण को किसी एक रस के सन्दर्भ में सोदाहरण स्पष्ट करें।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

7.1

1. साहित्य के क्षेत्र में काव्य को पढ़ने, सुनने या नाट्‍य को देखने से उत्पन्न होने वाली आनंद की अनुभूति ही 'रस' है।
2. हाँ

टिप्पणी

3. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

4. आचार्य भरत मुनि

5. नाट्यशास्त्र में

6. रस के अंग, अवयव घटक होते हैं

7. तीन

8. मन में सदा सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहने वाले भावों को नाट्यशास्त्र की शब्दावली में स्थायी भाव कहते हैं।

9. रति, ह्रास आदि भावों की उत्पत्ति करने वाले कारण को विभाव कहते हैं।

10. आलम्बन और गद्दीपन

11. चाट

12. रति, ह्रास, शोक आदि भावों के सूचक आठ मानसिक विकार सात्विक भाव है।

13. 33

14. संचरणशील होने के कारण

15. हाँ, स्थायी भाव उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होते

7.2

1. भरत मंनि के अनुसार-8, अभिनवगुप्त-9, विश्वनाथ-10

2. जी हाँ, आठ

3. दो

4. विकृतवाणी, रूप, वेशभूषा आदि से इसका प्रकरण होता है।

5. उत्साह

6. भय

7. अकल्पनीय, अलौकिक वस्तु या घटना के अचानक होने से

7.3

1. साधारणीकरण वह व्यापार है जिसमें सहृदय अपने पूर्व भाव से अलग होकर सामान्य तादात्म्य भाव से रस की अनुभूति या आस्वादन करता है।
2. नहीं
3. समान भाव
4. साधारणीकरण के बिना रसास्वाद संभव नहीं

7.4

1. विभावानुभावव्यभिचारिसंभोगाद्रसनिष्पत्तिः
2. उत्पत्तिवाद
3. उत्पाद्य-उत्पादक और उत्पत्ति
4. अनुमितिवाद
5. भट्टनायक
6. संयोग-'भोज्य-भाजक' और निष्पत्ति=मुक्ति
7. अभिनवगुप्त का
8. सहृदय में
9. तत्व ज्ञानजनित निर्वेद

टिप्पणी

8

सहृदय की अवधारणा

विगत पाठ में आप रस के स्वरूप और उसकी निष्पत्ति की प्रक्रिया से परिचित हो चुके हैं। इस पाठ में यह देखने का प्रयास करेंगे कि रस की अनुभूति कौन करता है। नाटक देखने वाले सभी लोगों को रस की अनुभूति क्यों नहीं होती? आपने अनुभव किया होगा कि किसी नाटक या फिल्म को देखकर कुछ लोग उसमें इतना डूब जाते हैं कि उनको अपने आसपास की परिस्थितियों का ही ध्यान नहीं रहता, जबकि कुछ लोग आपस में बातचीत करते रहते हैं। जो नाटक की परिस्थितियों और पात्रों से अपने को भावना की गहराई के स्तर तक जोड़ लेते हैं और तन्मय हो जाते हैं, उनमें कोई ऐसी आन्तरिक अदृश्य शक्ति माननी ही पड़ेगी जो दूसरी श्रेणी के दर्शकों में नहीं होती। उस शक्ति को कहते हैं–'सहृदयता'। इससे युक्त व्यक्ति सहृदय कहलाते हैं

काव्य के सन्दर्भ में कवि को भी सहृदय कहते हैं, क्योंकि वह जगत् के पदार्थो के साथ स्वयं को तन्मय बनाकर उन्हें अपने काव्यजगत् में उतारता है। प्रस्तुत पाठ में सहृदयता की व्याख्या रस का अनुभव करने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में की गई है।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरान्त आप–

- सहृदय का सामान्य परिचय जानते हैं;
- सहृदय की योग्यता को समझते हैं;
- रस और सहृदय का सम्बन्ध स्थापित कर पाते हैं; और
- रसानुभूति में सहृदय और साधारणीकरण की भूमिका को समझते हैं।

टिप्पणी

8.1 सहृदय का स्वरूप

काव्य को पढ़ने, सुनने या नाटक को देखने के बाद उससे आनन्द अनुभव करने वाला व्यक्ति सहृदय कहलाता है। 'सहृदय' का शाब्दिक अर्थ है- 'समान हृदयवाला।' सुख-दु:ख आदि की दशा में समान अनुभव वाले सहृदय हैं। काव्य-नाटक के आस्वादन के समय प्रेक्षकों (श्रोता) का अनुभव नायक और कवि समान हो जाता है। अत: काव्य के श्रोताओं और नाटक के दर्शकों का अनुभव कवि और नायक के समान होने से इन्हें सहृदय कहते हैं।

"सहृदय वह व्यक्ति है जो काव्य-नाटक आदि से आनन्द प्राप्त करने की क्षमता रखता हो"।

कवि बाहरी जगत् के प्राणियों की क्रियाओं और भावों को अपने काव्यजगत् में उतारता है। इन्हें वह तब तक अपनी रचना में नहीं उतार सकता, जब तक कि वह उनके समान सुख-दु:ख आदि भावों का अनुभव न करे। इस प्रकार कवि की संवेदना जगत् के प्राणियों की संवेदना के समान हो जाने से वह भी सहृदय है।

मूलनायक का भाव काव्य-नाट्य के द्वारा ही सहृदय तक पहुँचता है। इसलिये जब तक सहृदय कवि के भाव का अनुभव नहीं करेगा, तब तक वह रसानुभूति नही कर सकता। अनुभूति के स्तर पर कवि मूलपात्र के समान और सहृदय कवि के समान भावों का अनुभव करने से सहृदय कहे जाते हैं।

सहृदय के समानार्थी अनेक शब्द मिलते हैं। जैसे- रसिक, प्रेक्षक, सुमना, सामाजिक, प्रमाता आदि। इनमें सहृदय शब्द सर्वाधिक प्रचलित है। जिनका चित्त दर्पण की तरह निर्मल है, संसार के राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदि भाव जिन्हें विचलित नहीं करते, जो रागद्वेष के वशीभूत नहीं होते, जिनके लिये काव्य-नाटक में वर्णित भाव सरलता से साधारणीकृत हो जाते हैं। इन्हें ही रस का आस्वादकर्ता होने से रसिक कहते हैं।

नाट्य का अवलोकन समूह में किया जाता है। जो दर्शक सामूहिक शिष्टाचार का पालन करते हैं, सामाजिक कहलाते हैं।

'सहृदय' शब्द का साभिप्राय और प्रचुर प्रयोग आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त करते हैं। सुमनस् और प्रेक्षक शब्दों का अधिक प्रयोग भरत ने नाटक के परिप्रेक्ष्य में किया है।

दृश्यकाव्य की एक संज्ञा 'प्रेक्षा' भी है। स्वयं के व्यक्तित्व को भूल कर नाटक को तन्मय भाव से देखने वाला प्रेक्षक कहलाता है। काव्य-नाट्य के भाव स्वस्थ और निर्मल मन से ही ग्रहण किये जाते हैं अत: रसज्ञ को सुमनस् भी कहते हैं। विभावादि के द्वारा स्थायी भावों का बोध करने से सहृदय को प्रमाता भी कहते हैं।

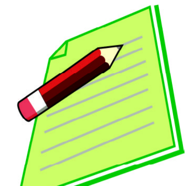

नाट्यशास्त्र में सहृदय की जगह 'सुमनस् प्रेक्षक' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ है-सुन्दर मन वाला दर्शक। भरत स्पष्ट करते हैं कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के द्वारा स्थायी भाव जब पुष्ट होकर रसरूपता को प्राप्त होता है तब उसका आस्वादन सुन्दर मन (सुमनस्) वाला प्रेक्षक उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार अनेक व्यञ्जनों को मिलाकर पकाये गये अन्न का भोजन करते हुये सुन्दर मन वाला पुरुष रस का आस्वादन करता है और हर्षित होता है।

यहाँ सुन्दर मन (सुमनस्) से तात्पर्य है- स्वस्थ मन। जैसे ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को कितना ही स्वादिष्ट भोजन कराया जाये परन्तु वह उसे रुचिकर नहीं लगता। उसी प्रकार किसी दर्शक का मन ममत्व, परत्व, राग-द्वेष आदि तुच्छ लौकिक भावनाओं से भरा है तो उसे कितना ही रोचक नाटक दिखाया जाये, वह आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता। स्वस्थ और निर्मल मन से ही रसानुभूति सम्भव है।

8.2 सहृदय की योग्यता

सहृदय ही रस को अनुभव कर सकता है। सहृदयता के बिना रसिकता सम्भव नहीं। अभिनवगुप्त के अनुसार सहृदय में निम्नलिखित योग्यताएँ होना आवश्यक है-

चित्त की विशदता- चित्त की विशदता का अर्थ है- हृदय की निर्मलता। राग-द्वेष, काम, क्रोध, आदि भाव चित्त को मलिन बनाते हैं। अपनापन या ममत्व की भावना राग और परायापन या परत्व की भावना द्वेष पैदा करती है। राग-द्वेष चित्त के मल हैं। सहृदयता के लिये मन का इनसे रहित होना आवश्यक है। स्वच्छ दर्पण के समान चित्त में कवि के वर्णित भाव उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होते हैं जैसे स्वच्छ दर्पण में मुख आदि प्रतिबिम्ब उभरता है।

नाटकीय वातावरण, गीत, वाद्य और अभिनय आदि नाटकोपयोगी सामग्री उन्हीं लोगों के हृदय को निर्मल रखती है जो स्वभाव से उन्नत मन वाले हैं। चित्त की निर्मलता के बिना व्यक्तित्व की रसिकता दुर्व्यसन पैदा कर व्यक्ति का पतन कर देती है। वहीं चित्त की निर्मलता के कारण ऐसे व्यक्ति लौकिक दुर्व्यसनों के वश में नहीं होते।

स्वहृदय संवाद भाजकता- सहृदयता के लिये प्रेक्षक में अपने हृदय में संवाद करने की क्षमता आवश्यक है। हृदय संवाद का अर्थ है- एक व्यक्ति ने जिस बात को जैसे जाना है दूसरे के द्वारा भी वैसा ही अनुभव करना। हृदय-संवाद द्वारा अलग-अलग व्यक्तित्व होने पर भी दो व्यक्तियों की भावनायें समान हो जाती हैं। सहृदय अपनी संवादशालिता के कारण कवि हृदय से अपने को एकाकार कर लेता है। कवि और सहृदय के भाव समान हो जाते हैं।

वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता- वर्णनीय वस्तु के प्रति तन्मय होने की योग्यता भी सहृदय के लिये आवश्यक है। कवि के द्वारा जिस वस्तु का वर्णन किया जाता है। सहृदय उस वर्णन में इतना डूब जाता है कि उसे उसके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता। इस

अवस्था को नाटकीय विषय वस्तु के प्रति तन्मयीभाव और तादात्म्य भी कहते हैं। तन्मयीभाव अथवा तादात्म्य की अवस्था में कवि की मनोदशा और सहृदय की मनोदशा का भेद मिट जाता है और दोनों की अनुभूति एक समान हो जाती है। चित्त में ममत्व-परत्व या स्वकीय-परकीय भावों की संकुचित सीमायें समाप्त हो जाती हैं। जिस प्रकार कोई सुकोमल मन वाला व्यक्ति किसी के दु:ख और पीड़ा को देखकर सिहर उठता है। लगता है जैसे उसकी सारी चेतना पीड़ित व्यक्ति में प्रवेश कर गई है। वैसी ही स्थिति सहृदय प्रेक्षक की होनी चाहिए। इस योग्यता से सहृदय काव्य-नाट्य के पात्र के सुख-दु:ख को अपने कोमल मन से मानसिक स्तर पर अनुभव करता करता चलता है।

नाट्यशास्त्र में भरत 'प्रेक्षक' के तन्मयीभाव को स्पष्ट करते हैं कि-"नाटक में सन्तोष का अभिनय देखकर जो सन्तोष का अनुभव करे, शोक में शोक का अनुभव करे, क्रोध में क्रोध का और भय में भय का अनुभव करें उसे श्रेष्ठ प्रेक्षक मानना चाहिये।" यही समान अनुभव तन्मयीभाव या तादात्म्य है। अत: स्पष्ट है कि जिन दर्शकों में सहृदयता है वे ही नाटक आदि से आनन्द का अनुभव कर सकते हैं।

सहृदय की योग्यता पर विचार करने के बाद यह जानना भी आवश्यक है कि किसी काव्य के पाठक या नाटक के दर्शक में सहृदयता की योग्यता आती कैसे है?

इस सम्बन्ध में आचार्यों का मानना है कि सहृदय की पूर्वोक्त योग्यता एक-दो दिन में नहीं आती। इसके लिये काव्यानुशीलन का दीर्घ और निरन्तर अभ्यास आवश्यक है। जब बहुत समय तक निरन्तर काव्य-नाट्य का पठन-पाठन और अवलोकन चलता रहता है, तब पाठक, श्रोता या दर्शक के हृदय में एक ऐसी योग्यता का संचार होता जिसे सहृदयता कहते हैं। इसके बल पर वह नाटकीय कथानक और पात्रों से तन्मयीभाव हो जाने के कारण हृदय संवाद करता है।

अभ्यास के साथ-साथ जन्मजन्मान्तर का पुण्य भी आवश्यक है। पुण्य की जगह पापात्मक दोष की प्रचुरता होने पर 'सहृदयता' का भाव नहीं जग सकता। यदि यह प्रतिभा कवि में रहती है तो वह उच्चकोटि का कवि बनाती है और यदि श्रोता या प्रेक्षक में होती है तो उसे काव्य-नाट्य का सहृदय रसज्ञ बनाती है। इससे श्रोता में काव्य पाठ को सुनकर और प्रेक्षक में मंचित किये गये भावों में प्रवेश करने की क्षमता का विकास होता है। सहृदय अपनी प्रतिभा शक्ति से काव्यार्थ को इस प्रकार समझता है कि उसे लगता है कवि का सारा शब्द चित्र प्रत्यक्ष रूप से आँखों के सामने उपस्थित है।

यद्यपि लोक में व्यक्ति परायी चित्त वृत्तियों और मनोभावों का ज्ञान उसकी चेष्टाओं और हाव-भाव देखकर बिना बताये जान लेते हैं किन्तु उनके साथ व्यक्ति का तादात्म्य नहीं हो पाता। नाट्य से अभिव्यक्त होने वाली दर्शक की चित्त वृत्ति प्रतीति की संकुचित सीमाओं में नहीं बँधती। वहाँ "यह तेरा भाव है" या "यह मेरा भाव है" इस प्रकार की तुच्छ स्वार्थपरता नहीं होती। रसज्ञ की व्यक्तिगत सीमायें उस समय शिथिल हो जाती हैं। मन पूरी तरह भाव में

लीन होकर चरम शान्ति का अनुभव करता है। नाट्य प्रयोग की दृष्टि से इसे रसना व्यापार कहते हैं। उस समय दर्शक साधारणीभूत चित्त वृत्ति को ग्रहण करता है। अत: कहा जा सकता है कि सहृदयता ही रसानुभव की कसौटी है जिसमें सहृदयता नहीं वह रसानुभव में समर्थ नहीं।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति पाठक तो हो सकता है लेकिन सहृदय नहीं। **सहृदय लौकिक विषयों के द्रष्टा और श्रोता से भिन्न परिष्कृत रुचि सम्पन्न वह व्यक्ति है, जो तेजस्वी, कल्पनाशाली, सुकुमार हृदय होने से नाटकीय वस्तु के साक्षात्कार की सामर्थ्य रखता है।**

टिप्पणी

पाठगत प्रश्न 8.1

1. सहृदय का क्या अर्थ है?
2. सहृदयता से क्या अभिप्राय है?
3. कवि या काव्यकर्त्ता सहृदय कैसे है?
4. क्या प्रत्येक व्यक्ति सहृदय है?
5. सहृदय की कौन सी विशेषता उसे सामान्य पाठक दर्शक वर्ग से विशिष्ट बनाती है?
6. क्या सहृदयता के अभाव में रसास्वाद सम्भव है?
7. सहृदय का समानार्थी सर्वाधिक उपयुक्त शब्द आपको कौन-सा लगता है?
8. सहृदय की कसौटी पर विश्लेषण कर आप स्वयं को एक उपयुक्त संज्ञा दीजिए।
9. सहृदय की योग्यता से आप क्या समझते हैं?
10. चित्त की विशदता का क्या अर्थ है?
11. हृदय संवाद क्या है?
12. क्या हृदय संवाद सभी का होता है?
13. तन्मयी भवन योग्यता को स्पष्ट करें।
14. तादात्म्य और तन्मयी भवन दोनों का सम्बन्ध क्या है?
15. नाटक के सम्बन्ध में प्रेक्षक क्या है?

टिप्पणी

8.3 रस और सहृदय का सम्बन्ध

अब तक आप नाटक के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रस, सहृदय और साधारणीकरण की अवधारणा से परिचित हो चुके हैं।

पूर्व पाठ में हमने यह जाना था कि रस स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की मिश्रित प्रक्रिया है। नट अपने अभिनय के द्वारा रंगमञ्च पर इनको अपने कुशल अभिनय के माध्यम से प्रदर्शित करता है, जिससे सहृदयों को आस्वाद मिलता है। यही आस्वाद रस है। यह प्रक्रिया वैसी ही जैसे स्वादिष्ट व्यञ्जनों के अनुभव की होती है। जैसे एक कुशल रसोइया मसाले, नमक, चीनी, हींग, दही आदि विविध पदार्थों को मिला कर अन्न-शाक आदि से स्वादिष्ट व्यंजन तैयार करता है और भोजनकर्ता उसके खट्टे-मीठे तिक्त आदि रसों का अनुभव करके आनन्दित होता है। नट कुशल रसोइये के समान है। स्थायीभाव शाक, अन्न आदि के समान हैं। विभाव आदि अन्न को परिष्कृत करने वाले मसाले आदि के समान हैं। सहृदय भोजनकर्ता के समान है और शृंगारादि मधुर तिक्त आदि रसों के समान हैं। काव्यास्वाद का आनन्द उनके स्वादजन्य हर्ष के समान है।

रसानुभूति के लिये नाटक में कलात्मकता और दर्शक में सहृदयता होना आवश्यक है। नाटक की कलात्मकता और रम्यता के बिना दर्शक उसमें उन्मुख नहीं होंगे। प्रेक्षक में सहृदयता नहीं हैं तो उसे कितना ही कलात्मक नाटक दिखाया जाये उसके साथ तादात्म्य नहीं हो सकेगा। इसलिये रसानुभूति के ये दो महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं।

रससूत्र के व्याख्याकारों ने विभाव, अनुभाव और सञ्चारियों के साथ स्थायी भाव के सम्बन्ध और रसनिष्पति के अर्थ को स्पष्ट करने के साथ ही इस प्रश्न का उत्तर खोजने का भी प्रयास किया है कि रस की अनुभूति किसको होती है?

सामान्यत: नाटक का सम्बन्ध तीन व्यक्तियों के साथ है- अनुकार्य, अनुकर्ता और सहृदय।

अनुकार्य- कवि जिन लोकगत चरित्रों का वर्णन करता है, वे 'अनुकार्य' कहलाते हैं। जैसे- रामायण के राम, अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त, शकुन्तला, कण्व आदि के चरित्र अनुकार्य है। ये नट के द्वारा अनुकरण के योग्य होने से अनुकार्य कहे जाते हैं।

अनुकर्ता- नाटक के अभिनय के समय वास्तविक दुष्यन्त, शकुन्तला, कण्व आदि रंगमंच पर उपस्थित नहीं होते, अपितु उनकी वेषभूषा और हाव-भाव का अनुकरण करने वाला नट रंगमंच पर उपस्थित होता है। मूलपात्रों का अभिनय करने से नट को अनुकर्ता कहते हैं।

सहृदय- रंगशाला में उपस्थित सहृदय प्रेक्षक ही अनुकर्ता का अभिनय देखकर आनन्द का अनुभव करते हैं। इसलिये रस के अनुभव का सम्बन्ध सहृदय प्रेक्षक से है। उसी के लिये

कवि नाटक की रचना करता है उसी को आनन्दित करने के लिये अभिनेता नाटक का मंचन करता है।

रस का आधार स्थायी भाव है और स्थायी भाव सदैव सहृदय के हृदय में वासना रूप में विद्यमान रहता है। स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत होता है। जिसकी स्थिति सहृदय का हृदय है इस प्रकार सहृदय की उपस्थिति में रस होगा और सहृदय की अनुपस्थिति में रस भी विद्यमान नहीं रहेगा। इस प्रकार रस और सहृदय का परस्पर अकाट्य अभिन्न सम्बन्ध है। सहृदय के अभाव में रस और रस के अभाव में सहृदय की सहृदयता कदापि सम्भव नहीं। यदि रस को सहृदय का प्राण और सहृदय।

पाठगत प्रश्न 8.2

1. रस और सहृदय के सम्बन्ध से आप क्या समझते हैं?
2. सिद्ध कीजिए कि सहृदय की कल्पना रस के अभाव में सम्भव है?
3. अनुकार्य, अनुकर्ता और सहृदय के पारस्परिक भेद को सिद्ध करें।
4. सहृदय और रस सम्बन्ध का विवेचन आपके मस्तिष्क को किस तथ्य पर केन्द्रित करता है विचार करें।

8.4 सहृदय और साधारणीकरण

पूर्व में विचार की गई साधारणीकरण की प्रक्रिया का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सहृदय से है और यह भी स्पष्ट हो गया है कि रस का सम्बन्ध सहृदय के साथ ही है, अनुकार्य और अनुकर्ता के साथ नहीं। नाटक, काव्य आदि के आस्वादन से सहृदय हर्षित होते हैं। नाटक आदि के अवलोकन और काव्य का श्रवण करने के उपरान्त जब विभावादि की और स्वयं सहृदय की व्यक्तिगत सीमायें हट जाती हैं तब उसके चित्त में अपने ही भाव उद्‌बुद्ध हो जाते हैं जिनका अनुभव करके वह आनन्द का अनुभव करता है। यह अवस्था तन्मयता की है, जिसके बिना रसानुभूति सम्भव नहीं है।

यहाँ यह विचारणीय है कि- **यह तन्मयता कैसे सम्भव है?** रंगमंच पर नट-नटी आदि राम-सीता, शिव-पार्वती आदि के रूप में दिखाई देते है। राम द्वारा सीता के प्रति प्रकट किए गए प्रेममय दृश्य देखकर दर्शक को शृंगार रूप आनन्द कैसे अनुभव हो सकता है? लोक में राम-सीता आदि दर्शक के लिये आदरणीय हैं, उनके प्रति आदर भाव नाटक के दर्शकों में रति भाव कैसे जगा सकता है?

टिप्पणी

सर्वप्रथम भट्टनायक ने साधारणीकरण के माध्यम से इस प्रश्न का समाधान करने और रस और सहृदय के सम्बन्ध की व्याख्या का प्रयास किया, जिसे कुछ परिष्कार के साथ आचार्य अभिनवगुप्त ने भी ग्रहण किया।

भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद में रस और सहृदय के सम्बन्ध की स्पष्ट व्याख्या नहीं हो पायी थी। इस मत में मुख्य रूप से रस की उत्पत्ति अनुकार्य अर्थात् वास्तविक राम-सीता में मानी गई है किन्तु दर्शक नट को रामादि मानता है इसलिये उसे लगता है कि रामरूप नट में रस है।

शंकुक का मत अनुमितिवाद है। वे रस की अनुमिति मानते हैं। नट में वास्तव में रस नहीं होता अपितु दर्शक उसके स्वाभाविक अभिनय कौशल से इतना अधिक प्रभावित हो जाते हैं कि उसमें रस नहीं होने पर भी उसकी चेष्टाओं को देखकर उसमें रति आदि का अनुमान कर लेते हैं। जिस प्रकार कहीं धुँआ देखकर द्रष्टा वहाँ आग होने का अनुमान कर लेता है। ठीक उसी प्रकार दर्शक भी नट की चेष्टाओं को देखकर उसमें रस का अनुमान करते हैं।

उत्पत्तिवाद में सबसे बड़ी समस्या यह थी कि जब नाटक खेला जाता है, वहाँ वास्तविक राम-सीता उपस्थित ही नहीं हो सकते तब नाट्यरस का उनके साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

अनुमितिवाद में कुछ सीमा तक अनुकार्यगत रस की समस्या का समाधान करने का प्रयास किया गया। यहाँ रामादि में रस को न मानकर नट में दर्शक द्वारा किया गया अनुमान रस रूप में माना गया। इस सिद्धान्त में भी यह समस्या बनी रही कि दर्शक किसी दूसरे के भावों का अनुमान करके क्यों आनन्दित होगा? लोक व्यवहार में देखा जाता है कि दूसरे के भावों को देखकर या अनुमान करके लज्जा, घृणा, क्रोध आदि तो आते हैं आनन्द नहीं।

इस समस्या का समाधान करते हुये भट्टनायक ने यह समझाने का प्रयास किया कि रस की उत्पत्ति अनुकार्य में नहीं हो सकती क्योंकि नाटक के अभिनय के समय में वे होते ही नहीं है। अनुकर्तागत रस का अनुमान भी नहीं किया जा सकता क्यों कि रस वास्तविक रूप से वहाँ होता ही नहीं है। वह अपने अभ्यास कौशल से उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत करता है वे वास्तविक जैसे लगते हैं। यदि नट में रस मान भी लिया जाये तो एक समस्या आ जाती है कि यदि नट अभिनय काल में रसानुभव करने लगेगा तो अभिनय नहीं कर पायेगा।

इस समस्या का भट्टनायक ने साधारणीकरण की विचारधारा द्वारा हल किया। साधारणीकरण की प्रक्रिया के द्वारा यह समझाने का प्रयास किया गया कि नाटक देखते समय सर्वप्रथम राम-सीता आदि अपने विशेष रूप में ही प्रतीत होते हैं लेकिन दूसरे ही क्षण नाटक की कलात्मकता, संगीत आदि के कारण दर्शक रामादि के व्यक्तिगत बोध को भूलने लगते हैं।उनको राम-सीता आदि सामान्य युवक-युवती के रूप में भासित होते हैं। जब सभी का विशेष भाव समाप्त हो जाता है तब दर्शक के निर्मल हृदय में अपना भाव जग जाता है और वह उसी में आनन्द लेने लगता है। इस अवस्था को भट्टनायक रस की भुक्ति कहते है।

इस प्रक्रिया को समझाने के लिये उन्होंने कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। जैसे सर्वप्रथम नाटक देखकर रामादि का विशेषरूप जिस माध्यम से प्रतीत होता है उसे वे **अभिधा** व्यापार कहते है। जिस माध्यम से रामादि का साधारणीकरण होता है उसे वे **भोजकत्व** व्यापार कहते हैं। जिससे सत्त्व का उद्रेक होकर अपने हृदयगत भावों का ग्रहण किया जाता है उसे वे **भावकत्व** व्यापार कहते है। सत्त्वगुण का उद्रेक चित्त में निर्मलता का संचारक है। इसप्रकार अभिधा के साथ-साथ भावकत्व और भोजकत्व व्यापार भी रसानुभव की प्रक्रिया में विद्यमान होते है।

अब पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि साधारणीकरण किसका होता है? उत्तर के रूप में यहाँ तीन पक्ष सम्भावित हैं-

1. साधारणीकरण विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का होता है।
2. साधारणीकरण विभावादि के साथ स्थायी भावों का भी होता है।
3. साधारणीकरण विभावादि, स्थायी भावों और सहृदय सभी का होता है।

भट्टनायक प्रथमपक्ष को स्वीकार करते हैं। उसके अनुसार साधारणीकरण की प्रक्रिया में विभाव अनुभाव और संचारियों का विशेषत्व समाप्त हो जाता है और वे सामान्य प्रतीत होने लगते हैं, अर्थात् राम-सीता आदि की व्यक्तिविशेष के रूप में प्रतीति न होकर सामान्य नायक-नायिका के रूप में प्रतीति होती है, जिससे प्रत्येक दर्शक की उनके साथ तन्मयता हो जाती है । रंगमंच पर स्थित पात्र का भाव दर्शक का भाव बन जाता है। काव्य-नाट्य में सबसे पहले रामादि विभावों की प्रतीति होती है। उसके बाद एक विशेष प्रक्रिया जिसे वे भावकत्व व्यापार कहते हैं उससे विभाव आदि और स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है।

साधारणीकरण से पहले दर्शक सीता, राम, दुष्यन्त, शकुन्तला आदि को व्यक्ति विशेष के रूप में ही ग्रहण करते हैं, किन्तु सीता, राम आदि का विशेषत्व समाप्त हो जाता है तथा वे सामान्य प्रतीत होने लगते हैं। स्पष्ट है कि आचार्य भट्टनायक विभाव आदि के सामान्य हो जाने को साधारणीकरण मानते हैं। विभाव आदि के अन्तर्गत आलम्बन, उद्दीपन ,अनुभाव और सञ्चारी भाव सभी आते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार सहृदय और साधारणीकरण सम्बन्ध

आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों को प्रामाणिक नहीं माना। अपितु रस की अभिव्यक्ति व्यञ्जना व्यापार से मानी है। इनका मानना है कि साधारणीकरण की प्रक्रिया में केवल विभावादि का ही साधारणीकरण नहीं होता अपितु स्थायी भाव और सहृदय का भी होता है। चूँकि विभावादि स्थायी भाव के कारण हैं इसलिये उनका साधारणीकरण होने पर स्थायीभाव का भी साधारणीकरण हो जाता है।

साधारणीकरण की प्रक्रिया में सहृदय की अवस्था का निरूपण करते हुये अभिनव कहते हैं कि साधारणीकरण हो जाने पर विभावादि देश और काल की सीमा से परे हो जाते है। विभावादि से जिस रति आदि स्थायी भावों का पोषण होता है वे भी ममत्व, परत्व और तटस्थ भावनाओं से परे हो जाते हैं। अर्थात् राम की सीता के प्रति प्रदर्शित प्रीति मेरी है, शत्रु की है अथवा उदासीन की है; न तो इस सम्बन्ध की स्वीकृति होती है और मेरे, शत्रु के अथवा उदासीन की नहीं है, इस सम्बन्ध का निराकरण भी नहीं होता है। यही अवस्था साधारणीकरण है। इस अवस्था में भाव की अनुभूति तो होती है, किन्तु यह भाव किसका है, उस सम्बन्ध का कोई बोध नहीं रहता है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण के दो स्तर हैं-

1. पहले स्तर पर विभावादि का व्यक्तिविशेष से सम्बन्ध छूट जाता है।

2. दूसरे स्तर पर सामाजिक में स्वयं के व्यक्तित्व का बोध भी समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार विभावादि के साथ-साथ स्थायी भाव का साधारणीकरण भी होता है और साथ ही सामाजिक की अनुभूति का भी साधारणीकरण हो जाता है। जिससे विभावादि के प्रति ममत्व-परत्व की भावना से सहृदय विलग हो जाता है।

साधारणीकरण के होने पर ही रस सहृदय के चित्त में अभिव्यक्त हुआ करता है। सहृदयों के चित्त में रति आदि स्थायी भाव सूक्ष्म वासना के रूप से पहले से विद्यमान होते हैं। साधारणीकरण होने पर युवक-युवती आदि रति आदि भाव के कारण के रूप में नहीं अपितु रति आदि के विभावन,अनुभावन, संचरण की योग्यता उत्पन्न करने से अलौकिक विभाव, अनुभाव और संचारी का रूप धारण कर लेते हैं। इन विभावन, अनुभावन और संचरण से ही काव्य-नाटय में रामादि अनुकार्यों साधारणीकरण हो जाता है। इस अवस्था में सहृदय सामाजिक अपनी व्यक्तिगत सीमाओं से परे अपरिमित भाव का हो जाता है और उसके द्वारा अनुभव किये जाते हुये रति आदि भाव भी सामान्य रूप से प्रतीत हुआ करते हैं। सभी सहृदय उन भावों का समान रूप से आस्वादन करते हैं।

यह आस्वादन ब्रह्मानन्द के समान किसी विलक्षण आनन्द का अनुभव मात्र है, जिसे प्रकट करने में कोई शब्द समर्थ नहीं होता है केवल अनुभव ही होता है। यही अनुभूति रस है।

आगे चल कर विश्वनाथ ने रसानुभव में अभिनवगुप्त की साधारणीकरण की मान्यता का अनुसरण किया। विश्वनाथ ने रति आदि भावों के साथ ही आश्रयालम्बन के साथ सहृदय के अभेद पर अधिक बल दिया है। जैसे समुद्रलंघन के प्रति उत्साह हनुमान् का है लेकिन साधारणीकरण के कारण स्वयं के व्यक्तिगतबोध को छोड़कर दर्शक स्वयं को हनुमान् से अभिन्न मानता हुआ समुद्रलंघन विषयक उत्साह का अनुभव करके प्रसन्न होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी माना कि सहृदय काव्य-नाट्य का बार-बार मनन करता है जिससे विभाव अनुभाव आदि का साधारणीकरण हो जाता है। साधारणीकरण को प्राप्त विभाव आदि

मिलकर व्यञ्जना नामक एक अलौकिक व्यापार से उस आनन्द पर पड़े अज्ञान रूपी पर्दे को हटा देते हैं,जो की सहृदय के हृदय में ही विद्यमान था। अज्ञान का नाश होते ही सहृदय अपने-पराये की सीमाओं से ऊपर उठकर अपने व्यक्तिगत रूप को भी छोड़ देता है और अपने ही वास्तविक आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार स्वयं की आत्मा और रस में भेद नहीं रहता।

टिप्पणी

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्ययक है कि काव्य का विषय विशेष ही होता है, सामान्य नहीं। कवि अपने विशेष पात्रों के माध्यम से पिता, पुत्र, पति, पत्नी, मित्र, शत्रु आदि विशेष रूपों का ही अंकन करता है। परन्तु साधारणीकरण विशेष को सामान्य बना देता है। जिनके साथ सहृदय के हृदय का तादात्म्य हो जाता है। सहृदयता के बल पर काव्य-नाट्य में तन्मय होकर अपना विशेष भाव भी भूल जाता है। इस प्रकार कवि, सहृदय, पात्र ,भाव सभी का साधारणीकरण होता है। राम-सीता या शिव-पार्वती का लोकगत आदरणीय रूप भी विस्मृत हो जाता है। उनके भाव साधारणीकरण के बल पर सहृदय के अपने भाव बन जाते हैं । इस प्रकार सहृदय अपने ही भावों का अनुभवकर्ता बनता है, किसी अन्य के भावों का नहीं। यह अनुभव भी अभिव्यक्ति के रूप में होती है। इसके किये सहृदय को प्रयास नहीं करना पडता। जैसे मेघ का आवरण हटते ही सूर्य अपने स्वरूप से उद्भासित होता है उसी प्रकार चित्त में रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव से जो उस पर जो स्वकीय-परकीय भावों का आवरण पड़ा था, सत्त्वगुण के प्रबल होने से वह हट जाता है और आनन्द रूप रस स्वतः उसकी चेतना में अभिव्यक्त हो जाता है।

8.5 नाट्य में गुण तथा साधारणीकरण

1. नाट्य के देखने अथवा काव्य के पढ़ने से जैसे ही मानव हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है, वैसे ही तत्काल उसकी आत्मा पर रजोगुण और तमोगुण का आवरण हट जाता है और चित्त में सत्त्वगुण प्रबल हो जाता है।
2. सत्त्वगुण की प्रबलता होने पर सहृदय का चित्त सांसारिक राग-द्वेष से मुक्त होकर स्वच्छ दर्पण के समान निर्मल हो जाता है। तब उसके हृदय में रस के अलौकिक आनन्द का अनुभव वैसे ही होता है जैसे निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्ब।
3. सहृदय के चित्त की स्थिति साधारणीकृत हो जाती है।
4. सत्त्वगुण की प्रबलता से उस समय सहृदय में स्वयं को जगत् से हटाकर नाट्य-काव्य के विभावादि साथ तन्मय होने की शक्ति आ जाती है। उस का चित्त योगी के चित्त के समान एकाग्र हो जाता है। जैसे योगी चित्त की एकाग्र अवस्था में जगत् से विमुख होकर अपने हृदय में स्वयं से अभिन्न परमात्मा का साक्षात्कार करता है, उसीप्रकार सहृदय अपने हृदय में स्वयं से अभिन्न रस का साक्षात्कार करता है।
5. रस अखण्ड स्वरूप है। रसानुभूति की अखण्डता में सहृदय की चेतना का पूर्ण तन्मयीभाव

रहता है, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव की पृथक् अनुभूति पृथक् न होकर एकान्वित होती है और उसमें मात्रा भेद या कोटियाँ नहीं होती।

6. जब सहृदय का काव्य के पात्रों के साथ पूर्ण तन्मयीभाव हो जाता है,तब वह स्व, पर, तटस्थ की भावना से मुक्त हो जाता है। इसलिए उससमय रसानुभव के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान नहीं रहता।

7. काव्य से सभी को अनिर्वचनीय आनन्द नहीं होता है इसका कारण यह है कि रति आदि की वासना या सूक्ष्म संस्कार के बिना रसास्वाद नहीं होता। यह वासना जन्मजन्मान्तर के संस्कार से प्रकट होती है।

साधारणीकरण किसी एक रस अवयव का न होकर विभावादि का होता है, जिसके अन्तर्गत आलम्बन,उद्दीपन,अनुभाव और सञ्चारीभाव स्थायी सभी सम्मिलित हैं। विभावादि के साधारणीकरण के द्वारा ही सहृदय का भी साधारणीकरण हो जाता है। इस प्रकार साध ारणीकरण का विषय भी सहृदय ही है। सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि सहृदयता के अभाव में साधारणीकरण की प्रक्रिया सम्भव नहीं है और साधारणीकरण के

पाठगत प्रश्न 8.3

1. साधारणीकरण का सर्वप्रथम उल्लेख किसने किया?
2. साधारणीकरण की आवश्यकता क्यों पड़ी?
3. तन्मयता क्या है?
4. क्या केवल विभाव आदि का ही साधारणीकरण होता है?
5. सहृदय के साधारणीकरण से आप क्या समझते हैं?
6. साधारणीकरण के दो स्तर कौन आचार्य स्वीकार करते हैं?
7. आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण बताओ।
8. सहृदय का साधारणीकरण कैसे सम्भव है?
9. जगन्नाथ साधारणीकरण किसका स्वीकार करते हैं?
10. सहृदय के अपने-पराये की सीमाओं का त्याग या अज्ञान नाश से उत्पन्न आनन्द क्या है?

आपने क्या सीखा

- सहृदय का सामान्य अर्थ है- समान हृदय वाला अर्थात् सहृदय वह व्यक्ति है जो कवि या नाटक से तादात्म्य स्थापित कर रसानुभूति करने में समर्थ है।
- चित्त की विशदता, स्वहृदयसंवादभाजकता, वर्णनीय तन्मयीभवनयोग्यता आदि सहृदय की योग्यता हैं। इन्हें सहृदय की विशेषता भी कहा जा सकता है। जो सहृदय को सामान्य द्रष्टा या पाठक से विशेष बनातीं हैं। इस प्रकार संवेदनशील, सुयोग्य व प्रतिभाशाली व्यक्ति जो काव्यानुशीलन करके काव्यानन्द प्राप्त करता है, सहृदय कहलाता है।
- रस का सहृदय के साथ घनिष्ठ अनुपूरक सम्बन्ध है। नाटक का मुख्य ध्येय रस प्राप्ति है और सहृदय का सम्बन्ध रस से है।
- साधारणीकरण के द्वारा विभावादि का विशेषत्व समाप्त हो जाता है और वे सामान्य प्रतीत होकर रस का विषय बन जाते हैं। नाटक द्वारा प्रस्तुत वस्तु के सम्बन्ध में सामाजिक की व्यक्तिगत आसक्ति मित्र, शत्रु तथा उदासीन भाव से असंबद्ध अथवा मुक्त प्रतीत होती है वस्तु की व्यक्ति से यह असमबद्धता ही उस वस्तु का साधारणीकरण है।
- सर्वप्रथम साधारणीकरण पर विचार आचार्य भट्टनायक ने किया।
- साधारणीकरण विभावादि के साथ-साथ सहृदय का भी होता है। सहृदय के अभाव में साधारणीकरण और साधारणीकरण के अभाव में रसास्वाद निर्थक है।

पाठान्त प्रश्न

1. सहृदय से क्या तात्पर्य है?
2. सहृदय की योग्यता को सविस्तार समझाओ।
3. रस और सहृदय के सम्बन्ध को किसी उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट कीजिए।
4. साधारणीकरण को स्पष्ट कीजिए।
5. साधारणीकरण और सहृदय की रसानुभूति के मध्य तादात्म्य की भूमिका स्पष्ट करते हुए दोनों के सम्बन्ध पर प्रकाश कीजिए।

6. आचार्य अभिनवगुप्त सम्मत सहृदय और साधारणीकरण सम्बन्ध क्या है?

7. सहृदय और साधारणीकरण रस के अनिवार्य तत्त्व हैं सिद्ध कीजिए।

8. प्रस्तुत पाठ सहृदय, साधारणीकरण और रस को आपके लिए किस प्रकार ग्राह्य बनाता है इस विषय में लिखिए।

टिप्पणी

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

8.1

1. समान हृदय वाला
2. 'सहृदय वह व्यक्ति है जो काव्य नाटक आदि से आनंद प्राप्त करने की क्षमता रखता है।'
3. कवि की संवेदना के समान हो जाने से वह भी सहृदय है।
4. जी नहीं
5. सहृदय संसार के राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदि भावों को काव्य-नाटक में वर्णित भावों से विचलित न होकर इसमें रसास्वादन करता है।
6. नहीं
7. रसिक
8. सुमनस् प्रेक्षक
9. चित्त की विरादता, स्वहृदय संवाद भाजकता, वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता
10. हृदय की निर्मलता
11. एक व्यक्ति ने जिस बात को जैसे जाना है, दूसरे के द्वारा वैसे ही अनुभव करना।
12. नहीं
13. कवि के द्वारा जिस वस्तु का वर्णन किया जाता है सहृदय उस वर्णन में इतना डूब जाता है कि उसे उसके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता।
14. तन्मयीभाव अथवा तादात्म्य की अवस्था में कवि की मनोदशा का भेद मिट जाता है।

15. नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक में संतोष का अभिनय देखकर जो संतोष का अनुभव करें, शोक में शोक का अनुभव करे, क्रोध में क्रोध का और भय का अनुभव करे उसे प्रेक्षक मानना चाहिए।

8.2

1. जिस प्रकार रसोइया मसालों आदि से स्वाष्टि भोजन बनाता है और भोजनकर्ता खट्टे, मीठे, तीखे रसों का अनुभव कर आनंद होता है उसी प्रकार कवि विभावादि मसालों से रचना करता है और भोजनकर्ता सहृदय शृंगार आदि रसों के आस्वादन से आनन्दित होता है।

2. नहीं

3. अनुकार्य- कवि जिन लोकगत चरित्रों का वर्णन है, वे अनुकार्य है।

   अनुकर्ता-मूलपात्रों का अभिनय करने वाले नट को अनुकर्ता कहते हैं।

   सहृदय- रंगशाला में उपस्थित सहृदय प्रेक्षक की अनुकर्ता का अभिनय देखकर आनंद का अनुभव करते हैं।

4. स्थायीभाव की समानता

8.3

1. भट्टनायक

2. रसानुभूति के लिए

3. तमन्यता, लीन हो जाना, विषय में खो जाना

4. हाँ

5. साधारणीकरण का सहृदय से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है रसानुभूति भी सहृदय को ही होती है।

6. भट्टालोल्लट और शंकुक

7. साधारणीकरण होने पर सहृदय विभावादि देश काल की सीमा से परे हो जाता है।

8. नहीं

9. भट्टनायक का।

10. साधारणीकरण

मॉडयूल-4

भारतीय नाटकों का परिचय

इस मॉड्यूल में भारतीय नाटकों से प्रमुख नाटकों का चयन कर पूर्व में दिए गए सैद्धांतिक पक्ष के अनुप्रयोग को शिक्षार्थियों के सामने प्रस्तुत किया गया है।

9. प्रतिमानाटक

10. नागानंद

11. कुंदमाला

12. भारत दुर्दशा

9

प्रतिमानाटक

संस्कृत नाटककारों की श्रेणी में महाकवि भास एक ऐसे नाटककार हैं जिन्होंने अपनी नाट्य शैली से संस्कृत रंगमंच की परंपरा को समृद्ध किया है। स्वयं महाकवि कालिदास भी भास की नाटक कला से अत्यंत प्रभावित थे। मालविकाग्निमित्रम् नाम के नाटक में वे भास की प्रशंसा भी करते हैं। महाकवि भास के व्यक्तित्व के विषय में अत्यधिक जानकारी नहीं मिलती है। उनके द्वारा लिखे गए नाटक और प्राचीन कवियों के ग्रंथ का अध्ययन करने के पश्चात उनका समय काल निर्धारित किया गया है। भास स्वयं अपने नाटकों में अपने परिचय के विषय में नहीं लिखते। उनका लक्ष्य अपने लेखन से प्रसिद्धि प्राप्त करना नहीं था बल्कि अपने नाटक के माध्यम से दर्शकों का मनोरंजन करना था। भास के 13 नाटक प्राप्त होते हैं जिनमें से प्रतिमानाटक के बारे में हम इस पाठ में चर्चा करेंगे।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- कवि भास के विषय में जानते हैं;
- प्रतिमानाटक नाटक का सामान्य परिचय जानते हैं;
- प्रतिमानाटक नाटक की कथावस्तु को जानते हैं;
- प्रतिमानाटक नाटक के पात्रों का चरित्र चित्रण जानते हैं; और
- प्रतिमानाटक नाटक की रंग संभावनाओं को जानते हैं।

9.1 भास का सामान्य परिचय

भास का स्थिति काल विद्वानों के बीच विवादास्पद रहा है। किसी भी अन्य दूसरे संस्कृत नाटककार के संबंध में इतनी क्षमता प्राप्त नहीं होती। विभिन्न विद्वान छठी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर दसवीं शताब्दी के बीच में भास का समय निर्धारित करते हैं किंतु यदि सभी विद्वानों के मतों का अध्ययन किया जाए तो भास का समय ईसा पूर्व पांचवी-चौथी शताब्दी निश्चित किया जाता है।

वर्ष 1909 में महामहोपाध्याय पंडित टी. गणपति शास्त्री ने भास के नाटक चक्र के अंतर्गत उनके 13 नाटकों का प्रकाशन किया था। इस आधार पर भास द्वारा लिखित 13 नाटक हैं। भास ने मुख्य रूप से अपने कथानक को रामकथा, महाभारत और लोक से ग्रहण किया है। यदि हम उनके नाटकों का अध्ययन करेंगे तो पाएंगे कि-

1. प्रतिमानाटक और अभिषेकनाटक की मूल कथा राम कथा पर आधारित है।
2. इसी प्रकार मध्यमव्यायोग, दूतघटोत्कच, कर्णभारम, दूतवाक्यम, उरुभंगम, पंचरात्रम एवं बाल चरितम की कथा महाभारत से उन्होंने ग्रहण की है।
3. प्रतिज्ञयौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्तम, अविमारक तथा दरिद्र चारुदत्त की कहानी उन्होंने लोक की प्रेरणा से ली है।

9.2 प्रतिमानाटक का परिचय

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है प्रतिमा नाटक की मूल कथा प्रतिमा के इर्द-गिर्द बुनी गई है। नाटक के तीसरे अंक में प्रतिमागृह की घटना का वर्णन महाकवि भास ने किया है। राम के वन जाने के बाद जब भरत ननिहाल से अयोध्या वापस लौट रहे होते हैं, तभी प्रतिमागृह में वे अपने पूर्वजों की प्रतिमाओं के मध्य महाराजा दशरथ की प्रतिमा को देखकर आशंका से भर उठते हैं। उन्हें अपने पिता के ना होने का आभास होता है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि रामायण की मूल कथा में ऐसा कोई प्रसंग नहीं मिलता है जिसमें प्रतिमागृह के घटनाक्रम का वर्णन हो। महाकवि भास अपनी कल्पना से प्रतिमागृह के इस घटनाक्रम को बुनते हैं और बिना किसी व्यक्ति द्वारा सूचना दिए ही भरत द्वारा अपने पिता की मृत्यु का आभास होना दिखलाते हैं। इससे हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि भास ने अपनी कल्पना से इस कथा को रचा हैं, भले ही इसका आधार रामकथा है। प्रतिमागृह की कल्पना से इस नाटक का नाम प्रतिमान नाटक रखा गया है।

टिप्पणी

पाठगत प्रश्न 9.1

1. भास का समय काल क्या है?

   ....

2. भास के नाटकों की संख्या कितनी है?

   ....

3. भास के नाटकों के कथानक के स्रोत क्या हैं?

   ....

4. प्रतिमानाटक की मूल कथा क्या है?

   ....

5. अविमारक का कथानक कहाँ से लिया गया है?

   ....

9.3 प्रतिमानाटक की कथावस्तु

भास ने प्रतिमानाटक में कथावस्तु को सात अंकों में विभक्त किया है। प्रत्येक अंक में वर्णित कथा इस प्रकार है:-

पहला अंक

प्रथम अंक के शुरुआत में महाराजा दशरथ की आज्ञा से राम की राज्य अभिषेक की तैयारियां चल रही होती हैं। नाटक में हम इस अवसर पर वाद्य यंत्रों के साथ मांगलिक गान और मांगलिक कृतियों के आयोजन को देखते हैं। तभी अचानक राज्याभिषेक की यह तैयारियां रुक जाती हैं। सखियों के माध्यम से सीता को यह जानकारी मिलती है कि राज्य अभिषेक रुक गया है क्योंकि महारानी कैकेयी ने अपने बेटे भरत के लिए राजपद और राम के लिए 14 वर्ष के वनवास का वचन महाराजा दशरथ से मांगा है। यह भी जानकारी मिलती है कि महाराज दशरथ कैकेयी के इन वचनों को सुनकर मूर्छित होकर गिर पड़े हैं। इसके पश्चात राम सीता के पास आते हैं और इस समाचार को सत्य बतलाते हैं। तभी लक्ष्मण भी क्रोधित होकर वहां पहुंचते हैं और कहते हैं कि मैं इस संसार को स्त्रियों से हीन कर दूंगा क्योंकि इस पूरी घटना के पीछे एक स्त्री कैकेयी का हाथ है। लक्ष्मण की बात को सुनकर राम अत्यंत उदारता के

साथ उन्हें समझाते हैं। और लक्ष्मण को शांत होने के लिए कहते हैं। इसके बाद राम सीता और लक्ष्मण को वन की ओर जाने के निर्णय से अवगत कराते हैं। सीता और लक्ष्मण भी राम के साथ वन जाने के लिए उन से निवेदन करते हैं। आरंभ में राम उन्हें अनुमति नहीं देते लेकिन अंततः उन्हें उन दोनों का यह निवेदन स्वीकार करना पड़ता है। पहले अंक के अंत में राम सीता और लक्ष्मण वन की ओर प्रस्थान करते हैं।

दूसरा अंक

दूसरे अंक में महामंत्री सुमंत्र राम, सीता और लक्ष्मण के बिना ही अयोध्या लौटते हैं। इसके बाद महाराजा दशरथ का मूर्छित होना और अंत में राम के वियोग में प्राण त्याग देने की कथा वर्णित है। राम, लक्ष्मण और सीता के वन चले जाने से प्रजा बहुत ही दुःखी हैं। राम के वन जाने से राजा दशरथ अधीर अवस्था में गृह में पड़े हुए हैं। कौशल्या और सुमित्रा दशरथ को धैर्य धारण करने की सलाह दे रही हैं। राम, सीता और लक्ष्मण को वन छोड़ने के लिए सुमंत्र गए हुए हैं। दशरथ को अब भी उम्मीद है कि सुमंत्र राम सीता और लक्ष्मण को समझा-बुझाकर अयोध्या ले आएंगे लेकिन स्थिति इससे विपरीत है। सुमंत्र खाली हाथ वन से लौटते हैं। दशरथ उन्हें देखकर निराशा में डूब जाते हैं और उनकी बची हुई आशा भी खत्म हो जाती है। सहसा वह अचेत हो जाते हैं और होश आने पर बार-बार राम सीता और लक्ष्मण की के बारे में पूछते हैं। दूसरे अंक में मुख्य रूप से महामंत्री सुमत्र और दशरथ के बीच संवाद है जिसमें भास ने करुण रस का भरपूर प्रयोग किया है। पुत्र के वियोग में दुःखी एक पिता के हृदय का मार्मिक चित्रण भास ने इस अंक में किया है। राम के वियोग में दशरथ को यह आभास होने लगता है कि उनकी मृत्यु निकट है और उन्हें अपने साथ ले जाने के लिए उनके पूर्वज आ गए हैं। आखिर में इस दुख को सहते हुए अयोध्या नरेश अपने प्राण त्याग देते हैं। उनके प्राण त्याग से ही यह अंक समाप्त हो जाता है।

तीसरा अंक

तीसरे अंक में भरत अपने ननिहाल से लौट रहे होते हैं और रास्ते में पड़ने वाले देवकुल में अपने पिता दशरथ की प्रतिमा को देखकर आशंकित होते हैं। उन्हें यह आशंका होती है कि पिता की मृत्यु हो गई और वे मूर्छित हो जाते हैं। राम को वापस लाने के लिए अपने मंत्रियों के साथ जाने के लिए भरत उत्सुक हैं। अंक के आरंभ में अयोध्या से बुलावा आने पर भरत ननिहाल से अयोध्या वापस लौटते हैं। यात्रा की थकान मिटाने के लिए वे प्रतिमागृह के पास रुकते हैं। वहाँ का पुजारी देवकुलिक उन्हें इस प्रतिमा गृह का परिचय कराता है और बताता है कि इक्ष्वाकु वंश के जो भी राजा अब तक हुए हैं उनकी प्रतिमा इस प्रतिमा गृह में स्थित हैं। पुजारी महाराज दिलीप रघु और अज की यशोगाथा का वर्णन भी भरत के सम्मुख करता है। सहसा भरत की नजर महाराज दशरथ की प्रतिमा पर पड़ती है और उसे देखते ही भरत का मन आशंकित हो जाता है। उन्हें अपने पिता की मृत्यु का अनुमान हो जाता है। यह अनुमान होते ही वे मूर्छित हो जाते हैं। तभी उनकी माताओं का भी प्रवेश होता है। उनके स्पर्श से भरत

चेतन हो जाते हैं और होश में आते ही वह देवकुलिक से पूरा वृतांत पूछते हैं। उन्हें पता चलता है कि जो भी घटित हुआ है उसका कारण उनकी माता कैकयी हैं। वह अपनी माता की निंदा करते हैं। अयोध्या पहुंचने पर वशिष्ठ आदि भरत के राज्य अभिषेक का प्रस्ताव रखते हैं जिन्हें अस्वीकार कर भरत अपने मंत्रियों और सहयोगियों के साथ राम को अयोध्या वापस लाने के लिए प्रस्थान करते हैं। इसी के साथ तीसरे अंक का समापन हो जाता है। इस अंक में भारत ने भरत के भाई के प्रति प्रेम त्याग और समर्पण की भावना को दिखलाया है।

चौथा अंक

चौथे अंक में भरत अपने मंत्री सुमंत्र के साथ वन में जाकर राम से मुलाकात करते हैं और उनसे अयोध्या वापस चलने का निवेदन करते हैं। लेकिन राम उन्हें समझा कर वापस भेजना चाहते हैं। आखिर में अपने बड़े भाई की बात का सम्मान करते हुए भरत इस शर्त पर वापस लौटते हैं कि जब वन से वापस अयोध्या श्री राम आएंगे तब उन्हें अपना राज सिंहासन स्वीकार करना होगा। अंक के आरंभ में भरत अपने महामंत्री सुमंत्र के साथ रथ पर चढ़कर दंडक वन की ओर चलते हैं। राम के पास पहुंचते हैं और राम भरत को देखकर भावुक होते हैं। राम लक्ष्मण और सीता के सामने भरत अपनी माता कैकेयी द्वारा किए गए कार्य को बुरा बतलाते हैं। वे श्रीराम से कहते हैं कि वह अयोध्या वापस लौट चलें। राम भरत को समझाते हैं कि उन्होंने अपने पिता के वचन को पूरा करने का निश्चय किया है। तब भारत श्रीराम से सीता और लक्ष्मण के साथ वन में रहने की अनुमति पाने की याचना करते हैं। राम भारत की दशा को भलीभांति समझते हैं और उन्हें उनकी प्रजा और अन्य जनों के कर्तव्य का पालन करने की सलाह देते हैं। आखिरकार राम के समझाने पर भरत वापस लौटते हैं किंतु इस शर्त के साथ कि जब श्री राम 14 वर्ष बाद वन से अयोध्या लौटेंगे तो वे अपना राज्य स्वीकार कर लेंगे। इन 14 वर्षों के दौरान भारत शासन संभालने के लिए उनसे अपनी चरण पादुका मांगते हैं। राम इसे स्वीकार करते हैं और उसके बाद भारत अपने मंत्रियों और प्रिय जनों के साथ अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हैं। इसी के साथ चौथा अंक समाप्त हो जाता है।

पांचवा अंक

पांचवे अंक में रावण द्वारा अपनी बहन शूर्पणखा के नाक काटे जाने और खरदूषण के वध का बदला लेने के लिए छल से सीता के हरण किए जाने का प्रसंग है। पांचवे अंक की शुरुआत में राम अपने पिता दशरथ का वार्षिक श्राद्ध करने के लिए विचार में डूबे हुए हैं। सीता उन्हें धीरज बंधाती हुई कहती हैं कि उनके पिता का श्राद्ध भरत पूरे विधि विधान से करेंगे। तभी अचानक अतिथि के रूप में कपट वेषधारी रावण का आगमन होता है। सन्यासी के वेश में रावण को देखकर राम उनका सम्मान करते हैं। रावण राम से स्वर्णमृग के पिंडदान से पिता के श्राद्ध कराने की इच्छा व्यक्त करता है। कभी स्वर्ण मृग के रूप में मारीच वहां प्रकट होता है। लक्ष्मण किसी कारणवश वहां नहीं है। इसलिए राम स्वयं ही इस मृग को पकड़ने के लिए चल पड़ते हैं। सीता को अकेली जानकर रावण अपना वास्तविक रूप धर

कर उनका अपहरण कर लेता है। सीता रोती है, बिलखती हैं। और इसे सुनकर गिद्धों का राजा जटायु उन्हें बचाने आता है। भास द्वारा इस अंक में राम कथा में किंचित परिवर्तन करके सीता के ऊपर स्वर्ण मृग की लालच वाले प्रसंग को पूरी तरीके से खारिज कर दिया है और अपनी कल्पना से उन्होंने इस प्रसंग को रचा है।

छटा अंक

छठवें अंक के आरंभ में सीता को बचाने के लिए आए गिद्धराज जटायु के साथ रावण का भयंकर युद्ध होता है। आखिर में जटायु रावण के हाथों घायल होकर वीरगति प्राप्त करता है। रावण सीता को लंका ले जाने में सफल होता है। वहीं दूसरी ओर राम और लक्ष्मण सीता की खोज कर रहे होते हैं। तभी सीता के अपहरण का वृतांत दो तपस्वी कुमार बताते हैं। इसके बाद राम और सुग्रीव के बीच मित्रता होती है और राम लक्ष्मण कुछ दिन किष्किंधा में बिताते हैं। इसी बीच पुनः भरत अपने मंत्री सुमंत्र को भेजकर श्री राम की सुध बुध लेते हैं। वहां पहुंचकर सुमंत को सीता हरण का समाचार मिलता है। वह वापस लौटते हैं और भरत से निवेदन करते हैं। इसी समय कैकयी महाराज दशरथ को मुनि से मिले श्राप से भरत को भी अवगत कराती हैं और अपने ऊपर लगे आरोप का निराकरण करती हैं। कैकेयी भरत को राम की मदद करने के लिए भी कहती हैं। भरत अपने बड़े भाई राम की सहायता करने और रावण के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके राम के पास सेना के साथ पहुंचने की तैयारी करते हैं। इस अंक में वर्णित प्रसंग भी श्री राम कथा से भिन्न है। महाकवि भास ने अपनी कल्पना से कई परिवर्तन किए हैं।

सातवाँ अंक

सातवें अंक के आरंभ में भरत अपनी सेना के साथ राम के सहयोग के लिए पहुंचने की तैयारी करते हैं लेकिन वहां पहुंचने से पहले ही भरत को तपस्वी के द्वारा रावण पर राम की विजय की सूचना मिलती है। तपस्वी उन्हें यह भी बताते हैं कि विभीषण का लंकानरेश के रूप में अभिषेक करके राम तपोवन पहुंच चुके हैं। रावण के वध से जनमानस बहुत प्रसन्न है। यह शुभ समाचार सुनकर भरत वन पहुंचकर राम से मिलते हैं और वहीं अयोध्या के राजा के रूप में उनका राज्याभिषेक करते हैं। माता कैकेयी भी बहुत खुश हैं और अयोध्या वापस आने के बाद राम के राज्याभिषेक की कामना व्यक्त करती हैं। राम इसे स्वीकार कर लेते हैं। इसके बाद वह पुष्पक विमान पर चढ़कर अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हैं। इसी के साथ सातवें अंक का समापन हो जाता है। भास भरत वाक्य के साथ सभी के मंगल की कामना व्यक्त करते हैं।

पाठगत प्रश्न 9.2

1. प्रतिमानाटक में कितने अंक हैं?

....

2. प्रतिमागृह का वर्णन किस अंक में है?

....

3. सीता हरण का प्रसंग किस अंक में है?

....

4. कैकयी महाराज दशरथ को मुनि से मिले श्राप की चर्चा किस अंक में करती हैं?

....

9.4 प्रतिमानाटक के पात्र

महाकवि भास ने अपने नाटक प्रतिमानाटक में रामकथा के प्रमुख पात्र राम, सीता, भरत, लक्ष्मण, दशरथ, कौशल्या, कैकेयी आदि का वर्णन किया है। यहां हम प्रतिमानाटक में वर्णित प्रमुख चरित्रों के विषय में अध्ययन करेंगे।

राम

प्रतिमानाटक के प्रमुख नायक राम हैं। यदि हम नाट्य शास्त्र की दृष्टि से नायक वर्ग में राम का आंकलन करें तो वे धीरोदात्त प्रकृति के नायक हैं। इस धीरोदात्त नायक के सभी गुण राम में हमें मिलते हैं। धनंजय ने अपने ग्रंथ दशरूपक में भी धीरोदात्त नायक के संबंध में कहा है- जो शोक से अप्रभावित हो, गंभीर स्वभाव वाला हो, दूसरे को क्षमादान देने वाला हो, अपनी प्रशंसा ना करने वाला हो, सुख-दुख जैसी परिस्थितियों में हमेशा स्थिर स्वभाव में रहे, अहंकारी ना हो, धैर्य धारण करने वाला हो और अपने कार्य को दृढ़ता से पूर्ण करने वाला हो वह धीरोदात्त नायक होता है। प्रतिमा नाटक के संदर्भ में बात करें तो राम में यह सभी गुण हमें दिखाई देते हैं। जब उन्हें पता चलता है कि कैकेयी द्वारा महाराज दशरथ से उनके लिए 14 वर्ष का वनवास का वचन लिया गया है तो वे दुखी नहीं होते हैं। अपने भाई लक्ष्मण के क्रोध को वह शांत कराते हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि राम गंभीर हैं और धैर्य धारण करने वाले हैं।

सीता

सीता प्रतिमानाटक की मुख्य नायिका हैं। वह सुकोमल स्वभाव की हैं। उदार प्रवृति की हैं। पहले ही अंक में वल्कल वस्तुओं को देखकर सीता अपनी चेटियों से उन वस्तुओं को धारण करने की बात कहती हैं। यह उनके सरल स्वभाव का परिचायक है। वे अपनी परिचारिकाओं के साथ उदार व्यवहार करती हैं। हास-परिहास के समय वे अपने राजकुल की वधु होने का आभास नहीं कराती है। प्रतिमानाटक में सीता को एक आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया गया है जो सुख-दु:ख में भी अपने पति का साथ देती हैं।

भरत

भरत प्रतिमानाटक के प्रमुख पात्र हैं। त्यागशीलता इनकी प्रमुख चारित्रिक विशेषता है। भरत त्याग और तपस्या की प्रतिमूर्ति हैं। उन्हें राज्य सुख की लालसा नहीं है। जब उन्हें पता चलता है कि उनकी माता कैकेयी ने राम को वनवास दिया है और उनके लिए राज सिंहासन की मांग की है जिसके कारण भैय्या राम को वनवास जाना पड़ा, तो वह कठोर वाणी में अपनी माता के इस कृत्य का विरोध करते हैं और बिना समय गवाएं वह राम को अयोध्या वापस लाने का यत्न करते हैं। उनका हृदय निष्कपट और निश्छल है। वन में राम को देखते ही उनकी आंखों से अश्रु धारा बहती है। अपने बड़े भाई के बिना राज सुख उन्हें नहीं सुहाता। भरत के चरित्र में अपने बड़े भाई राम के प्रति श्रद्धा और प्रेम की पराकाष्ठा दिखाई देती है।

लक्ष्मण

भास ने प्रतिमा नाटक में लक्ष्मण के चरित्र में कुछ परिवर्तन किए है। जहाँ एक ओर रामायण में वर्णित लक्ष्मण बहुत ही क्रोधी स्वभाव के भातृप्रेमी वीर और उत्साही दिखलाए गए हैं, वहीं प्रतिमानाटक में भास ने उन्हें सरल सहज लेकिन उग्र स्वभाव का दिखलाया है। रामायण की तरह ही वे भातृप्रेमी और आज्ञाकारी हैं। राम की आज्ञा के बिना वे कोई कार्य नहीं करते। कैकेयी से आहत होकर भी वे राम की आज्ञा न मिलने पर धनुष में बाण नहीं चढ़ाते। वह अपने बड़े भाई राम को अत्यंत प्रिय हैं। भरत की ही तरह लक्ष्मण ने भी सुखों का त्याग किया है। अपने भाई के लिए वे राज्य सुख को त्याग कर वन की ओर निकल पड़ते हैं, यह उनके त्याग का ही परिणाम है।

दशरथ

दशरथ प्रतिमानाटक में वचन पालक राजा के रूप में दिखलाए गए हैं। राम उन्हें प्राण प्रिय हैं। कैकेयी जब उनसे राम के लिए 14 वर्ष का वनवास मांगती है तो वे अपने वचन पालन के संकल्प के कारण मना नहीं कर पाते। असहाय होकर उन्हें अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी पड़ती है। चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनी संतान से अत्यंत प्रेम करते हैं।

कैकेयी

कैकयी प्रतिमानाटक की प्रमुख स्त्री पात्र हैं। इस पूरे नाटक का कथानक कैकेयी के ही द्वारा मांगे गए दो वचनों पर ही केंद्रित है। रामायण की कथा में कैकेयी का जो चरित्र बतलाया गया है उसे भास अपनी कल्पना से कुछ परिवर्तित करते हैं। रामायण की कथा में कैकेयी पुत्र प्रेम के मोह में पड़कर राम के लिए वनवास और भरत के लिए राजपद राज्यासन की मांग करती है लेकिन प्रतिमानाटक में मुनि के श्राप के कारण ऐसा घटित हुआ है, ऐसा भास बतलाते हैं। भास ने कैकेयी के चरित्र को संशोधित कर प्रस्तुत किया है।

पाठगत प्रश्न 9.3

1. राम की चारित्रिक विशेषता क्या है?

   ....

2. भरत के विषय में बतलाइये?

   ....

3. प्रतिमानाटक में वर्णित सीता के बारे में बतलाइए?

   ....

4. मूल कथा की कैकेयी और प्रतिमानाटक की कैकेयी में क्या अंतर है?

   ....

9.5 प्रतिमानाटक की रंग संभावनाएँ

संस्कृत नाटककारों की श्रृंखला में भास की अपनी एक विशिष्ट पहचान है। वे संस्कृत नाटककारों में प्रथम हैं और कालिदास जैसे नाटककार खुले मन से उनकी प्रशंसा करते हैं। भास के नाटकों में विविधता और अनेकता के साथ-साथ नाटककार के नाट्यशिल्प और उसकी मौलिकता का परिचय मिलता है। भले ही नाटकों में नाट्यशास्त्र में वर्णित रूपक विधान का पालन उन्होंने पूर्णतया न किया हो लेकिन फिर भी उनके नाटकों में आकर्षण और रोचकता की कमी नहीं है। भास के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपने नाटकों में अभिनय के लिए पर्याप्त स्थान देते हैं। पाठ्य (संवाद) का कम से कम प्रयोग अभिनय के लिए अधिक स्थान प्रदान करता है। आंगिक, वाचिक और सात्विक यह तीनों अभिनय भास के रूपकों में मिलते हैं। एकांकी रूपक की शुरुआत भी भास ही करते हैं।

कथावस्तु की दृष्टि से भले ही भास ने पुराण, इतिहास, रामायण, महाभारत, कृष्ण कथा का सहारा लिया हो लेकिन अपनी रचनात्मकता और लोक धर्मिता के साथ वे अपनी कल्पना से कथानक को रंगमंच के अनुकूल बना देते हैं। कथानक की बनावट इस प्रकार रखते हैं कि रंगमंच पर प्रदर्शन कहीं भी अवरुद्ध ना हो। उनके नाटकों में प्रत्येक पात्र उतना ही संवाद करता है जितनी आवश्यकता है। उनकी संवाद योजना से कथानक को एक गति मिलती है। यही कारण रहा है कि केरल के नाट्य निर्देशक के.एन. पणिक्कर नाट्यशास्त्र और लोक की दृश्टि से पाठेतर-पाठ के माध्यम से लिखित पाठ में निहित कई छवियों को उद्घाटित करते हैं और मंचन को एक नया आयाम प्रदान करते हैं।

आपने क्या सीखा

- भास संस्कृत नाटककारों में प्रथम हैं जिन्होंने रामायण, महाभारत, लोक परंपरा से कथाओं को ग्रहणकर उन्हें अपनी कल्पना से रूपकों में प्रयोग किया है।
- भास का रचना काल चौथी-पाँचवी शती ईसा पूर्व है। स्वयं कालिदास भी भास की लेखनी की प्रशंसा करते हैं।
- प्रतिमानाटक भास के द्वारा रचित सात अंक का नाटक है।
- प्रतिमानाटक में राम के राज्याभिशेक से आरंभ कर, रावण वध तथा वन से लौटकर राज्याभिषेक तक की कथा है।
- भास ने ईक्ष्वाकु कुल के मृत राजाओं की प्रतिमाओं को देवकुल में रखे जाने के प्रसंग को प्रधानता देकर इस नाटक का नाम 'प्रतिमानाटकम्' रखा है।
- पहले अंक में राम के राज्याभिषेक की तैयारी, कैकेयी द्वारा राम को 14 वर्ष का वनवास और भरत को राज गद्दी का मांगा जाना और राम, लक्ष्मण और सीता के वनगमन की घटना है।
- दूसरे अंक में राम के वियोग में राजा दशरथ के प्राण त्याग देने की कथा वर्णित है।
- तीसरे अंक में भरत अपने ननिहाल से लौट रहे होते हैं और रास्ते में पड़ने वाले देवकुल में अपने पिता दशरथ की प्रतिमा को देखकर आशंकित होते हैं। उन्हें पिता की मृत्यु का ज्ञान होता है। वे राम को वापस लाने वन की ओर जाते हैं।
- चौथे अंक में भरत अपने मंत्री सुमंत्र के साथ वन में जाकर राम से मुलाकात करते हैं और उनसे अयोध्या वापस चलने की निवेदन करते हैं लेकिन राम उन्हें समझा कर वापस भेजना चाहते हैं। आखिर में अपने बड़े भाई की बात का सम्मान करते हुए भरत

इस शर्त पर वापस लौटते हैं कि जब वन से वापस अयोध्या श्री राम आएंगे तब उन्हें अपना राज सिंहासन स्वीकार करना होगा।

- पांचवें अंक में रावण द्वारा अपनी बहन शूर्पणखा के नाक काटे जाने और खर दूषण के वध का बदला लेने के लिए छल से सीता के हरण किए जाने का प्रसंग है।
- छठवें अंक के आरंभ में सीता को बचाने के लिए आए गिरधर आज जटायु के साथ रावण का भयंकर युद्ध होता है और आखिर में जटायु रावण के हाथों घायल होकर वीरगति प्राप्त करता है। राम का सीता के अपहरण के बारे में जानना, सुग्रीव से मिलना और भरत द्वारा राम की सहायता के लिए सेना को तैयार करने की घटना है।
- सातवें अंक के आरंभ में भरत अपनी सेना के साथ राम के सहयोग के लिए पहुंचने की तैयारी करते हैं लेकिन वहां पहुंचने से पहले ही भरत को तपस्वी के द्वारा रावण पर राम की विजय की सूचना मिलती है। वे कैकयी के साथ वन जाते हैं और राम का वहाँ राज्याभिशेक करते हैं।
- राम, लक्ष्मण, भरत, सीता, दशरथ, कैकयी इस नाटक के प्रमुख पात्र हैं।
- भास ने इस नाटक में रामायण की मूलकथा में अपनी कल्पना से कुछ परिवर्तन किये हैं।

पाठान्त प्रश्न

1. प्रतिमानाटक की मुख्य कथा क्या है?
2. प्रतिमानाटक के रचनाकार भास के बारे में बतलाइये?
3. प्रतिमानाटक में भरत की चारित्रिक विषेशता क्या है?
4. प्रतिमानाटक की कथा और रामायण की मूल कथा में क्या अंतर है?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

9.1

1. चौथी से पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व
2. भास के 13 नाटक हैं।

टिप्पणी

3. भास के नाटकों के कथानक का स्रोत रामायण, महाभारत और लोक हैं।

4. प्रतिमानाटक की मूलकथा में राम के राज्याभिषेक, वनवास, सीताहरण और रावण वध के बाद अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठने तक की कहानी है।

5. अविमारक का कथानक लोक में प्रचलित कृष्ण कथा से लिया गया हैं।

9.2

1. प्रतिमानाटक में सात अंक हैं।

2. प्रतिमागृह का वर्णन तीसरे अंक में है।

3. सीता हरण का प्रसंग पाँचवे अंक में है।

4. कैकेयी महाराज दशरथ को मुनि से मिले श्राप की चर्चा छठे अंक में करती हैं।

9.3

1. राम एक आज्ञाकारी, क्षमाशील, उदार, दृढ़ निश्चयी, अहंकार से रहित, भाइयों से प्रेम करने वाला, वीर और बुद्धिमान पुरुष के रूप में चित्रित किए गए हैं।

2. भरत भातृप्रेमी हैं और त्याग तथा समर्पण की मूर्ति के रूप में दिखलाए गए हैं।

3. सीता को एक आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया गया है जो सुख दुख में भी अपने पति का साथ देती हैं।

4. मूल कथा में कैकेयी ने पुत्रमोह में पड़कर दो वचन दशरथ से मांगे थें जबकि प्रतिमानाटक में मुनि के श्राप के कारण वे ऐसा करती हैं।

10

नागानंद

पूर्व पाठ में हमने प्रतिमानाटक के विषय में जाना है। इस पाठ में हम हर्षवर्धन रचित 'नागानंद' रूपक के विषय में चर्चा करेंगे।

संस्कृत नाटकों के इतिहास में सातवीं शताब्दी का दौर अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। इसी दौर में सम्राट हर्षवर्धन का उल्लेख मिलता है। हर्षवर्धन उन महान शासकों में से एक हैं जो एक तरफ कुशल शासक, उदार हृदय और विद्वान तथा कवि थे। वहीं दूसरी ओर दृश्य काव्य की प्रस्तुति और प्रदर्शन में भी उनके विशेष रूचि थी। हर्ष ने तीन रूपक लिखे हैं– प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानंद। इनमें से प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिका हैं तथा नागानंद नाटक है।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप–

- कवि श्रीहर्ष के विषय में जानते हैं;
- नागानन्द नाटक का सामान्य परिचय जानते हैं;
- नागानन्द नाटक की कथावस्तु को जानते हैं;
- नागानन्द नाटक के पात्रों का चरित्र चित्रण जानते हैं; और
- नागानंद नाटक की रंग संभावनाओं को जानते हैं।

10.1 हर्ष का सामान्य परिचय

नागानंद नाटक के रचयिता श्री हर्षवर्धन के काल निर्धारण के लिए अनुमान की आवश्यकता नहीं है। हर्ष ने लंबे समय तक उत्तरी भारत पर शासन किया है। प्रमाणित तथ्यों के आधार पर हर्ष का शासनकाल 606 ईस्वी से 646 ईस्वी तक निश्चित किया जाता है। बाणभट्ट के हर्ष चरित के अनुसार हर्ष के पिता का नाम प्रभाकर वर्धन तथा माता का नाम यशोमती था। यशोमती ने जेष्ठ पुत्र राज्यवर्धन को 588 ईसवी में जन्म दिया। राज्यवर्धन के पश्चात हर्षवर्धन की बड़ी बहन राज्यश्री का जन्म 2 वर्ष पश्चात हुआ और राज्यवर्धन के 3 वर्ष बाद श्री हर्ष का जन्म हुआ। 16 वर्ष की आयु तक हर्षवर्धन एवं राज्यवर्धन ने शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा प्राप्त कर ली थी। राज्यश्री ने भी नृत्य, गीत आदि कलाओं की शिक्षा ग्रहण की थी। राज्यश्री जब युवती हुई तो प्रभाकर वर्धन ने उसका विवाह मौखरी वंश के क्षत्रिय राजा अवंती वर्मा के पुत्र ग्रह वर्मा के साथ कर दिया।

प्रभाकर वर्धन ने अपने जेष्ठ पुत्र राज्यवर्धन का राज्य अभिषेक किया किंतु राज्यवर्धन की आकस्मिक मृत्यु के बाद हर्षवर्धन राज्य सिंहासन पर बैठे। 606 ईस्वी से 648 ईस्वी तक हर्षवर्धन ने एकछत्र राज्य किया। हर्षवर्धन की ही राज्यसभा में महाकवि बाणभट्ट उनके आश्रित कवि रहे हैं और उन्होंने अपने काव्य हर्षचरित में हर्षवर्धन को नायक बनाया।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि हर्ष के तीन रूपक प्राप्त होते हैं- प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानंद। रचना क्रम की दृष्टि से प्रियदर्शिका नाटिका हर्ष की पहली रचना है। इस रचना में नाट्यकला का स्वरूप थोड़ा कम परिष्कृत दिखाई देता है। इस नाटिका की कथा संरचना और घटना के संयोजन पर अभिज्ञानशाकुंतलम् तथा मालविकाग्निमित्रम् का स्पष्ट प्रभाव है। दूसरी रचना रत्नावली नाटिका है जो नाट्यशास्त्रकारों के बीच काफी लोकप्रिय रही। इस नाटिका में हर्ष की नाट्य कला का चरम विकास दिखाई देता है। नाट्य प्रयोग में प्रौढ़ता, भाषा में सुंदरता, कल्पना-शक्ति का प्रयोग और चरित्र चित्रण की उत्कृष्टता सभी दृष्टियों से रत्नावली एक श्रेष्ठ नाटिका साबित होती है। नाटक के जानकारों ने कथावस्तु, नाट्य के तत्वों, नायक-नायिका आदि के उदाहरण के लिए कई बार रत्नावली के चरित्रों का प्रयोग करते हैं। श्रृंगार रस का भरपूर प्रयोग हर्ष ने अपनी इस नाटिका में किया है।

पाठगत प्रश्न 10.1

1. श्री हर्ष कौन हैं?

   ....

2. राज्यवर्द्धन कौन था?

....

3. श्री हर्ष द्वारा लिखित दो नाटिका कौन-सी हैं?

....

4. अभिज्ञानशाकुंतलम् तथा मालविकाग्निमित्रम् का प्रभाव किस नाटिका पर है?

....

10.2 नागानंद की कथावस्तु

नागानंद नाटक में कथानक को 5 अंकों में विभक्त किया गया है। भगवान बुद्ध ने अपने अनुयायियों को बहुजन हिताय का संदेश दिया था। बुद्ध से जुड़ी हुई कई जातक कथाएँ लोक में प्रचलित थीं। उन्हीं कथाओं में से एक कथा जीमूतवाहन की भी है। इस कथा का विस्तार कालांतर में संस्कृत, प्राकृत और लोक परंपरा में हुआ था। लोक परंपरा में जीमूतवाहन को एक बोधिसत्व के रूप में स्वीकारा गया है। जिसकी करुण कथा लोक कल्याण के लिए कल्पवृक्ष दान करने से आरंभ होकर आखिर में अपना शरीर भी दान कर देने के साथ पूरी होती है। हर्ष ने इसी कथा को नांगानंद का आधार बनाया है। नाटक की मुख्य कथा जीमूतवाहन नाम के विद्याधर राजपुत्र और मलयावती नाम की सिद्ध राजकन्या के प्रेम और विवाह तथा जीमूतवाहन के द्वारा अपने प्राणों की बलि से शंखचूड़ नाम के नाग के जीवन को बचाने के प्रयत्न को केंद्र में रखकर बुनी गई है। नाटक की कथा अंक के अनुसार इस तरह है-

अंक 1

इस अंक में जीमूतवाहन देवी के मंदिर में गीत गाती हुई मलयवती पर आसक्त हो जाता है। इससे पहले भी स्वप्न में मलयवती ने जीमूतवाहन को देखा था और उस पर आसक्त हो चुकी थी।

अंक 2

जीमूतवाहन और मलयवती एक दूसरे के प्रेम में व्याकुल होते हैं और मलयवती का भाई मित्रावसु उन दोनों का विवाह कराने का प्रयत्न करता है। अंततः उन दोनों का विवाह हो जाता है।

अंक 3

तीसरे अंक में जीमूत वाहन और मलयावती के विहार का चित्रण है।

अंक 4

जीमूत वाहन समुद्र के तट पर हड्डियों का एक समूह देखता है। मित्रावसु उसे बताता है कि यह नागों की हड्डियां हैं जिन्हें प्रतिदिन गरुण के द्वारा खाया जाता है। एक स्त्री का विलाप सुनकर जीमूतवाहन उसके पास जाता है। उसके पूछने पर स्त्री बताती है कि आज उसके बेटे शंख चूर्ण को गरुड़ आहार बनाने वाला है। जीमूतवाहन उस स्त्री को सांत्वना देता है और शंखचूड़ की जगह लाल कपड़े पहन कर वध्यशिला पर जाकर बैठ जाता है। गरुड़ आता है और उसे उठाकर ले जाता है।

अंक-5

गरुड़ के चोंच से बार-बार जीमूत वाहन की देह घायल हो जाती है। खून से सने होने के बाद भी जीमूतवाहन शांत और निश्चल रहता है। गरुड़ को यह देखकर आश्चर्य होता है। और जब उसे वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है तो वह अत्यंत पश्चाताप करता है। जीमूतवाहन के माता पिता और पत्नी भी उस जगह पहुंचकर जीमूतवाहन की हालत देखकर करुणा से विलाप करते हैं। मलयवती की हृदय विदारक प्रार्थना से द्रवित होकर गौरी प्रकट होती है और मरते हुए जीमूतवाहन को जीवनदान देती हैं। जीमूतवाहन के त्याग और परोपकार की भावना से प्रभावित होकर गौरी अमृत वर्षा करके सर्पों को भी पुनः जीवित कर देती है और अंत में गरुड़ भविष्य में कभी सर्पों को ना खाने की प्रतिज्ञा करता है। इसी सुखद अंत के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

श्री हर्ष द्वारा कथासरित्सागर में वर्णित जीमूतवाहन की मूल कथा में कुछ परिवर्तन किए गए हैं। जैसे-

1. मूल कथा में जीमूतवाहन लोक कल्याण के लिए कल्पवृक्ष का दान करते थें और शत्रुओं के द्वारा अपने राज्य पर आक्रमण करने के कारण माता-पिता के साथ मलयाचल पर्वत चले जाते हैं लेकिन नाटक में जीमूतवाहन माता-पिता के वन चले जाने के बाद उनकी सेवा के लिए राज्य सुख छोड़कर वन को जाते हैं। नाटककार ने माता पिता के प्रति उनकी प्रेम भक्ति को दिखाने के लिए यह परिवर्तन किया है।

2. मूल कथा में जीमूत वाहन अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा यह पता लगा लेता है कि उसके अपने ही बंधुओं के द्वारा आक्रमण किया जा रहा है जबकि नाटक में श्री हर्ष शत्रु रूप में मतंग की कल्पना करते हैं और मित्रावसु के द्वारा आक्रमण की सूचना देते हैं।

टिप्पणी

3. इसी प्रकार मूल कथा में जीमूतवाहन गौरी मंदिर जाकर वहां मलयवती को देखता है और उसकी सखी के द्वारा उसका पूरा परिचय प्राप्त करता है। लेकिन श्रीहर्ष ने नाटक में नायक नायिका के मध्य अल्प समय के लिए दर्शन करा कर यह विच्छेद कर दिया है। इस योग के कारण दूसरे अंक में श्रृंगार रस के अनुकूल परिस्थितियां बनती हैं।

4. नायिका के नाम से अपरिचित होने के कारण मित्रावसु के द्वारा लाए गए मलयावती के साथ विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। इस अस्वीकार के कारण मलयावती अपनी आत्महत्या करने के लिए उन्मत्त हो जाती है। यहां श्री हर्ष ने अपनी कल्पना से मनोरम दृश्य गढ़ा है।

इस प्रकार श्रीहर्ष ने जीमूतवाहन की मूल कथा में किंचित परिवर्तन कर चरित्र के गुणों को और भी प्रभावी बनाने की कोशिश की है।

पाठगत प्रश्न 10.1

1. नागनंद नाटक में कितने अंक हैं?

   ....

2. जीमूतवाहन कौन है?

   ....

3. मित्रावसु कौन है?

   ....

4. शंखचूर्ण कौन है?

   ....

10.3 नागनंद नाटक के पात्र

नागनंद नाटक में जीमूतवाहन, मलयवती, मित्रावसु, गरूड़ मुख्य भूमिका में हैं। श्री हर्ष ने पात्रों के चित्रण में अपनी नाट्य निपुणता का परिचय दिया है।

जीमूतवाहन

नागानंद नाटक का नायक जीमूत वाहन धीरोदात्त प्रवृत्ति का नायक है। वह अत्यंत गंभीर, क्षमाशील, अपनी बड़ाई ना करने वाला, स्थिर चित्त, अहंकार न करने वाला और दृढ़व्रती है। नाट्यशास्त्र में इस प्रकार के नायक को धीरोदात्त कहा गया है। नाटक में जीमूतवाहन को विजय की आकांक्षा से रहित दिखाया गया है। नाटक में जीमूतवाहन कहता है कि पिता के सामने भूमि पर बैठा हुआ व्यक्ति जैसा जो शोभित होता है क्या वैसा सिंहासन पर बैठा हुआ शोभित हो सकता है? पिता के चरण दबाते हुए पुत्र को जो सुख मिलता है क्या वह राज्य में मिल सकता है? पिता के खाने से बचे हुए पदार्थ को खाने से जो सुख मिलता है क्या वह तीनों लोको के भोग से भी मिल सकता है? पिता का त्याग करने वालों के लिए राज्य तो केवल भ्रम मात्र है। क्या उसमें कुछ लाभ है? इस कथन से जीमूतवाहन के युद्ध में विजय की आकांक्षा के किसी भाव का दर्शन नही होता।

जीमूतवाहन अशांत प्रकृति का नायक नहीं है। यदि वह अशांत प्रवृत्ति का होता तो वह मलयवती से प्रेम न करता। मलयवती से प्रेम इस बात का प्रमाण है कि वह अशांत नायक नहीं है। उसके हृदय में प्राणियों के लिए करुणा भाव है। वास्तव में जीमूत वाहन अनेक गुणों के साथ हमारे समक्ष एक आदर्श नायक के रूप में उपस्थित होता है। मूल रूप से उसके चरित्र में 2 गुण प्रमुख हैं। पहला तो यह कि वह अपने माता पिता के प्रति पूर्णत समर्पित है और दूसरा परोपकार की भावना उसमें कूट-कूट कर भरी हुई है। जीमूतवाहन स्वयं नाटक में कहता है कि जीवन तभी आनंदकारी है जबकि वह माता पिता की भक्ति करते हुए ही बीते। जीमूत वाहन एक ऐसा चरित्र है जो अपने माता-पिता की सेवा के लिए राज्य सुख और वैभव छोड़कर जंगल में निवास करता है। मित्रा बसु जीमूतवाहन के गुणों का वर्णन करते हुए कहता है कि वह विद्या धर्म के राजवंश में श्रेष्ठ है, बुद्धिमान हैं, सज्जनों में आदर का पात्र है, सुंदर है, पराक्रमी है, विद्वान है, विनम्र व्यवहार वाला युवा और प्राणियों की रक्षा के लिए तत्पर व्यक्ति है।

मलयवती

नागानंद नाटक की नायिका मलयवती है। हालांकि पूरे नाटक में मलयवती की कोई विशेष भूमिका दिखाई नहीं देती है लेकिन उसका चरित्र हमें प्रभावित करता हुआ अवश्य दिखाई देता है। हर्ष ने मलयवती को एक आदर्श हिंदू नारी के रूप में चित्रित किया है। उसके लिए उसका पति ही सब कुछ है। वह सुंदर है। मलयवती के इसी रूप सौंदर्य को देखकर नायक जीमूतवाहन आश्चर्यचकित रह जाता है और कह उठता है कि यदि यह स्वर्ग लोक की स्त्री है तो इंद्र की हजारों आंखें सफल हो गई हैं। यदि यह विद्याधारी है तो हमारी जाति अन्य समस्त जातियों को जीतने वाली है और यदि यह सिद्धों के कुल की है तो इससे सिद्ध लोग तीनों ही लोकों में प्रसिद्ध हो जाएंगे। जीमूतवाहन के साथ ही विदूषक भी मलयवती के रूप

सौंदर्य की प्रशंसा करता है मलयवती में एक और विशेष गुण हैं कि वह वीणा वादन में अत्यंत निपुण है। स्वयं नायक जीमूतवाहन उसके गायन और वादन से अभिभूत है मलयवती मां गौरी की भक्त हैं और सखी द्वारा गौरी की आलोचना को बर्दाश्त नहीं कर पाती है और उसका जवाब देती है। एक पुत्र वधू के रूप में भी उसका चरित्र महत्वपूर्ण है। वह अपने सास-ससुर की सेवा में ही सारा समय व्यतीत करती है। जब मलयवती को जीमूतवाहन के आत्मसमर्पण की घटना का पता चलता है तो वह मूर्छित हो जाती है। जीमूतवाहन की मृत्यु के बाद उसे आजीवन भार स्वरूप लगने लगता है और वह उसी समय चिता बनाकर सती हो जाने के लिए तैयार हो जाती है। वह अपनी भक्ति से मां गौरी को प्रसन्न कर जीमूतवाहन को जीवनदान दिलाती है। वास्तव में मलयवती का चरित्र एक भारतीय आदर्श नारी के रूप में दिखाई देता है जो अन्य स्त्रियों के लिए प्रेरणादायक हैं।

मित्रावसु

मित्रावसु सिद्धराज विश्ववावसु का पुत्र है। वह मलयवती का भाई और जीमूतवाहन का मित्र है। मित्रावसु जीमूतवाहन के गुणों से अत्यंत प्रभावित है। इसी के प्रयासों के द्वारा जीमूतवाहन और मलयवती एक होते हैं और परिणय सूत्र में बंधते हैं।

पाठगत प्रश्न 10.3

1. जीमूतवाहन के चरित्र में मुख्य गुण कौन-कौन से हैं?

   ....

2. मलयावती का चित्रण किस रूप में किया गया है?

   ....

10.4 नागनंद की रंग संभावनाएँ

नाट्यशास्त्र में आचार्य भारत ने मनोरंजन और शिक्षण दृश्य काव्य के दो मुख्य उद्देश्य बताए हैं। श्रीहर्ष के पूर्व जो भी रूपक संस्कृत नाटक की परंपरा में मिलते हैं उनमें श्रृंगार और वीर रस की प्रमुखता रही है। यदि हम भास के नाटकों को देखें तो उनके नाटकों में रामायण, महाभारत और लोक से प्राप्त आख्यान के दर्शन होते हैं। उनके पश्चात कालिदास रचित नाटकों में श्रृंगार रस का पूर्ण अनुप्रयोग दिखलाई देता है। श्रीहर्ष एक ऐसे नाटककार हैं जिन्होंने अपने नाटक नागानंद में दो धर्मों के बीच सुंदर समन्वय स्थापित किया है। जीमूतवाहन की कथा आज भी ''जीउत'' नाम से बिहार क्षेत्र में प्रचलित है। सातवीं शताब्दी में श्रीहर्ष नागनंद

नाटक के माध्यम से परोपकार की ओर दर्शकों को उन्मुख कराते हैं। कथासरित्सागर से जीमूतवाहन की कथा लेकर 5 अंकों में विरचित नाटक का लेखन करते हैं। नाट्यशास्त्र में रूपक विधान के अंतर्गत नाटक की जो प्रमुख विशेषता बतलाई गई है उसमें नाटक में 5 या 10 अंक होने चाहिए। नायक धीरोदात्त होना चाहिए। प्रमुख रस श्रृंगार होना चाहिए। किंतु श्रीहर्ष के इस नाटक नागानंद में वीर रस की प्रधानता दिखलाई देती है और वीर रस में भी दानवीर मुख्य है। श्रृंगार रस का परिपाक केवल जीमूतवाहन और मलयावती के प्रणय प्रसंग को लेकर प्रयुक्त हुआ है। अपने इस नाटक के माध्यम से श्री हर्ष परोपकार की भावना को रेखांकित करते हैं और जीमूतवाहन चरित्र से सीख लेने की बात करते हैं। समय-समय पर नागानंद नाटक के विभिन्न भाषाओं में अनुवाद भी किए गए और रंगमंच पर उसका प्रदर्शन भी किया गया। आधुनिक रंगमंच में भी नागानंद के प्रदर्शन के कई उल्लेख मिलते हैं। श्रीहर्ष ने अपनी नाट्यशिल्प में अभिनय के लिए भरपूर स्थान छोड़ा है। अपनी कल्पना से वह अभिनेता के लिए मनोरंजक परिस्थितियां पैदा करते हैं। अपनी सहज शैली से वे नाटक को सुगम और सुबोध बनाते हैं। उनके नाटक शिल्प की यही विशेषता रंग कर्मियों को नागानंद के प्रदर्शन की ओर आकर्षित करती है।

आपने क्या सीखा

- हर्ष का समयकाल सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।
- हर्ष राजा के साथ-साथ कलाप्रिय और नाटककार भी थें।
- हर्ष ने तीन रूपक लिखे हैं- प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानंद।
- प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिका है तथा नागानंद नाटक है।
- प्रियदर्शिका पर अभिज्ञान शाकुंतलम् तथा मालविकाग्निमित्रम् का प्रभाव है।
- नागानंद नाटक में कथानक को 5 अंकों में विभक्त किया गया है।
- नागानंद नाटक की कथा कथासरित्सागर में वर्णित जीमूतवाहन की कथा से ली गई है।
- नाटक की मुख्य कथा जीमूतवाहन नाम के विद्याधर राजपुत्र और मलयवती नाम की सिद्ध राजकन्या के प्रेम और विवाह तथा जीमूतवाहन के द्वारा अपने प्राणों की बलि से शंखचूड़ नाम के नाग के जीवन को बचाने के प्रयत्न को केंद्र में रखकर बुनी गई है।
- पहले अंक में जीमूतवाहन और मलयवती के बीच प्रेम का वर्णन है।

- दूसरे अंक में जीमूतवाहन और मलयवती के विवाह का वर्णन है।
- तीसरे अंक में जीमूतवाहन और मलयवती के विहार का चित्रण है।
- चौथे अंक में जीमूतवाहन द्वारा शंखचूड़ नामक नाग के प्राण बचाने के लिए स्वयं को बलिदान कर देने की कथा है।
- पांचवे अंक में जीमूतवाहन का गरुड़ की चोंच से रक्त रंजित होने, गरुड़ द्वारा पश्चाताप करने की कथा है।

पाठान्त प्रश्न

1. नागानन्द की मुख्य कथा क्या है?
2. श्रीहर्ष के बारे में आपने क्या जाना?
3. जीमूतवाहन चरित्र के बारे में बतलाइए?
4. नागानन्द नाटक और जातक कथाओं के बीच क्या संबंध है?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

10.1

1. हर्ष का शासनकाल 606 ईस्वी से 646 ईसवी तक रहा है। वे शासक के साथ-साथ संस्कृत नाटककार भी थे।
2. राज्यवर्द्धन हर्ष के ज्येष्ठ भाई थें।
3. श्री हर्ष द्वारा लिखित दो नाटिका प्रियदर्शिका और रत्नावली है।
4. प्रियदर्शिका पर अभिज्ञानशाकुंतलम् तथा मालविकाग्निमित्रम् का प्रभाव है।

10.2

1. नागानन्द नाटक में 5 अंक हैं।
2. जीमूतवाहन नागानन्द नाटक का नायक है।

3. मित्रावसु जीमूतवाहन का मित्र और नायिका मलयवती का भाई है।

4. शंखचूर्ण नाग है जिसके प्राणों को बचाने के लिए जीमूतवाहन स्वयं को गरुड़ को सौंप देता है।

10.3

1. जीमूतवाहन के चरित्र में मुख्य गुण हैं-मातृ-पितृ प्रेम और परोपकार।

2. मलयावती को भारतीय आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया गया है।

11

कुंदमाला

प्रिय शिक्षार्थी पूर्व पाठ में हमने श्रीहर्ष रचित नागानंद नाटक के विषय में पढ़ा है। इस पाठ में हम दिङ्नाग रचित कुन्दमाला नाटक पर चर्चा करेंगे।

वाल्मीकि रामायण से सीता निर्वासन की कथा को लेकर कई नाटककारों और कवियों ने रचनाएं लिखी है। भवभूति ने भी अपने नाटक उत्तररामचरितम् के लिए इसी कथा को आधार बनाया है। इसी कथानक को आधार बनाकर संस्कृत नाट्य परंपरा में दिंङनाग द्वारा कुंदमाला नाटक की रचना की गई है। भवभूति के उत्तर रामचरित और दिंङनाग के कुंदमाला में दृष्टिकोण का बहुत अंतर है। कुंदमाला नाटक नांदी और प्रस्तावना के आधार पर भास के निकट स्थित होती है। जिस प्रकार से भास ने अपने नाटकों के लेखन के लिए नाट्य तकनीक का प्रयोग किया है, ठीक उसी प्रकार दिंङनाग भी कुंदमाला में प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं। 'छाया दृश्य' की युक्ति कुंदमाला को अन्य संस्कृत नाटकों से भिन्न और विशिष्ट बनाती है।

भवभूति के उत्तररामचरितम् में सीता को आदर्श चरित्र के रूप में प्रस्तुत करते हुए अतिश्योक्ति का भरपूर प्रयोग किया है। लेकिन दिंङनाग अपने नाटक कुंदमाला में सीता को आम स्त्री की तरह दिखलाते हैं। भवभूति की सीता आदर्शवाद की प्रतिमूर्ति है किंतु दिंङनाग की सीता वाल्मीकि के अत्यंत निकट है। वाल्मीकि के बाद कुंदमाला ही एक ऐसा नाटक है जिसमें सीता को मानवीय रूप में दिखलाया गया है।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- कुंदमाला नाटक के रचनाकार कवि दिंङनाग का परिचय जानते हैं;
- कुंदमाला नाटक के कथावस्तु को जानते हैं;

- कुंदमाला नाटक के पात्रों का चरिच चित्रण जानते हैं;
- कुंदमाला नाटक में प्रयुक्त नाट्ययुक्तियों को जानते हैं; और
- कुंदमाला नाटक के सैद्धांतिक अनुप्रयोग को जानते हैं।

11.1 कुंदमाला का सामान्य परिचय

प्राचीन ग्रंथों की खोज में दक्षिण भारत के विद्वानों की प्रमुख भूमिका रही है। भास के नाटक भी दक्षिण भारत में प्राप्त होते हैं। कुंदमाला भी एक ऐसा नाटक है जो दक्षिण भारत के विद्वानों के प्रयास से प्राप्त हुआ है। अब तक कुंदमाला की छः हाथों से लिखी प्रतियाँ मिलती हैं। कुंदमाला का प्रकाशन सबसे पहले 1923 में मद्रास में हुआ था। अपनी सरल भाषा और हृदय को छू जाने वाले कथानक के कारण इतने कम समय में ही इस नाटक ने पाठकों के मध्य अपना स्थान बना लिया है।

कुंदमाला के लेखक दिङनाग का समय काल 1000 ई. निर्धारित किया गया है। कुंदमाला की प्रकृति और इस नाटक में जो धार्मिक और सामाजिक बिंब मिलते हैं उसके आधार भी पर भी रचनाकार की स्थिति इसी कालखंड में निर्धारित की गई है। दिङनाग सुदूर दक्षिण के अरारालपुर के निवासी थें। नाटक की प्रस्तावना से भी उनके निवास स्थान का उल्लेख मिलता है। देवी-देवताओं पर उनकी पूर्ण आस्था थी। नाटक में शिव की स्तुति और उनकी महिमा का बखान उन्होंने खुले मन से किया है। दिङ्नाग को संगीत से विशेष प्रेम था। संगीत के अतिरिक्त वीणा वादन में भी उनकी विशेष रूचि थी। नाटक में भी उन्होंने कई स्थानों पर संगीत के प्रभाव का वर्णन किया है। दिङ्नाग व्याकरण, ज्योतिष, दर्शन, आयुर्वेद और नाट्यशास्त्र पर पूरा अधिकार रखते थे। वे सदा वन और आश्रमों के सरल जीवन के विषय में ही बतलाते हैं जिससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि कुंदमाला के लेखक दिङ्नाग धार्मिक और एकांत में निवास करने वाले व्यक्ति थे।

11.2 कुंदमाला के प्रमुख पात्र

नाटक के पात्रों की सूची इस प्रकार है-

(पुरुष पात्र)

सूत्रधार :- नाटक का संयोजक

राम :- नायक

लक्ष्मण :- राम के छोटे भाई

कुश :- राम के ज्येष्ठ पुत्र

लव :- राम के छोटे पुत्र

वाल्मीकि :- महान ऋषि, रामायण के प्रवर्तक

सुमंत्र :- राजा का रथ वाहक

कौशिक :- विदूषक

कण्व :- वाल्मीकि का शिष्य और राम के बचपन के साथी

बादरायण :- वाल्मीकि का दूसरा शिष्य

(स्त्री पात्र)

सीता :- नायिका, राम की पत्नी

यज्ञवेदि :- आश्रम कन्या

वेदवती :- आश्रम कन्या और सीता की सखी

मुनि कन्या :- आश्रम कन्या

कुंदमाला नाटक में राम, सीता, लक्ष्मण, कुश, लव तथा वाल्मीकि मुख्य पात्र हैं। कथा के अनुरूप दिङनाग ने बहुत ही सुंदर तरीके से इन चरित्रों का चित्रण किया है।

राम

कुंदमाला के नायक राम धीरोदात्त प्रवृत्ति के नायक हैं। वह स्वाभाव से विनयशील, त्यागी, अहंकार रहित, स्थिरचित्त, गंभीर और दृढ़व्रती हैं। राजा होने के बाद भी राम अपनी प्रजा इच्छाओं का मान करते हैं। उनकी न्याय प्रियता के बारे में ऋषि मुनि भी प्रशंसा करते नहीं थकते। अपने कुल को कलंकित होने से बचाने के डर से वे प्राणों से भी प्रिय सीता का परित्याग करने में संकोच नहीं करते। राम अपनी भावना से कहीं अधिक कर्तव्य को उच्च मानते हैं। मानव की भाँति अपनी पत्नी सीता का परित्याग कर वे शोक से घिरे हुए हैं लेकिन फिर भी एक आदर्श राजा की तरह प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यों के पालन को अपना आदर्श मानते हैं।

सीता

कुंदमाला नाटक की नायिका सीता है। वह राम की धर्मपत्नी है। दिङ्नाग नें कुंदमाला की नायिका को एक आदर्श नारी के रूप में दिखलाया है। सीता अपना सर्वस्व बलिदान कर देने की भावना, चरित्र में पवित्रता, साहस और सहनशीलता के गुणों से युक्त हैं। उन्हें इस बात का गर्व है कि उनके पति एक आदर्श राजा हैं और प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यों का बिना किसी स्वार्थ के पालन करते हैं। सीता विश्वास करती हैं कि राम उनके प्रति अटूट प्रेम करते

हैं। अपनी सखियों से भी वे राम के प्रति निंदा सुनने का विरोध करती हैं। उन्हें अपने पति पर इतना विश्वास है कि वह अपनी सखी वेदवती से दूसरी स्त्री का हाथ थामने की बात को लेकर कहती हैं कि आर्य का हृदय मेरा है, भले ही वह किसी और का हाथ थाम लें। उनकी सखियाँ भी सीता के इस विश्वास को देखकर चकित होती हैं।

लक्ष्मण

लक्ष्मण राम के प्रिय भाई हैं। स्वभाव से वह आज्ञाकारी हैं और राम की आज्ञा को ही सर्वोपरि मानते हैं। वे राम के लिए अपनी इच्छाओं का भी बलिदान करने को हमेशा तैयार रहते हैं। इच्छा ना होने पर भी वह बड़े भाई की आज्ञा को मानकर सीता को वन में छोड़ने आते हैं। सीता के लिए उनके हृदय में अपार दुख है। वे सीता को वन में छोड़ते हुए अत्यंत ग्लानि का अनुभव करते हैं और कहते हैं कि अगर मैं लंका युद्ध में मारा जाता तो अच्छा होता। वे राम को दुखी देखकर दुखी हो जाते हैं और दु:ख दूर करने के लिए प्रयास करते हैं। मूलत: लक्ष्मण कोमल हृदय के हैं लेकिन परिस्थितियों के कारण उन्हें कठोर होना पड़ता है।

कुश तथा लव

कुश तथा लव राम के पुत्र हैं। इनका जन्म प्रवास के दौरान सीता के गर्भ से हुआ था। दोनों जुड़वा भाई हैं। स्वभाव से दोनों ही चंचल, शीलवान और धैर्यवान हैं। दोनों का रूप सौंदर्य हृदय को हर लेने वाला है और अपने सौंदर्य के कारण वे सभी आश्रम वासियों के लिए आकर्षण का केंद्र हैं। दोनों में स्वाभिमान की भावना कूट-कूट कर भरी है। वे शिष्टाचार का पालन करना जानते हैं।

वाल्मीकि

वाल्मीकि कुंदमाला के एक मुख्य पात्र हैं। नाटक का पूरा घटनाक्रम उन्हीं के इर्द-गिर्द घूमता है। सभी घटनाएँ उन्हीं के आश्रम में घटित होती हैं। वाल्मीकि स्वभाव से दयावान, सिद्ध और महान महर्षि हैं। जब वे अपने शिष्यों से वन में रोती हुई किसी स्त्री का समाचार सुनते हैं, तो झट से उस और दौर पड़ते हैं। सीता की दशा देखकर उसके संरक्षण का भार अपने ऊपर लेते हैं। राम स्वयं भी वाल्मीकि के सामने अपना सिर नवाते हैं। वाल्मीकि न्याय प्रिय हैं और न्याय का पालन कराने के लिए प्रचंड रूप भी धर सकते हैं। बिना किसी कारण के सीता का परित्याग करने को लेकर वह राम की भर्त्सना करते हैं।

पाठगत प्रश्न 11.1

1. कुंदमाला के लेखक कौन हैं?

....

2. पहली बार कुंदमाला का प्रकाशन कब हुआ?

....

3. दिङनाग का समयकाल क्या है?

....

4. दिङनाग का निवास स्थान कहाँ था?

....

5. कुंदमाला में वर्णित मुख्य पात्र कौन हैं?

....

6. कुंदमाला की मुख्य कथा क्या है?

....

7. कुंदमाला में राम किस प्रवृत्ति के नायक हैं?

....

8. कुंदमाला में सीता को किस रूप में चित्रित किया गया है?

....

9. कुश और लव कौन हैं?

....

10. वाल्मीकी के विषय में बतलाइए?

....

11.3 कुंदमाला नाटक की कथावस्तु

कुंदमाला नाटक में कुल छः अंकों में कथानक को वर्णित किया गया है। नाटक के लिए दिङनाग ने वाल्मीकि रचित 'रामायण' के उत्तरकांड को ही अपना मुख्य आधार बनाया है जिसमें सीता निर्वसन की कथा है। किंतु दिङनाग अपनी शक्ति से कथा का सुखांत करते हैं।

प्रथम अंक

प्रथम अंक के आरंभ में नांदी पाठ के अंतर्गत श्री गणेश की स्तुति प्राप्त होती है जिसमें सूत्रधार दर्शकों की रक्षा के लिए शिव की जटाओं से प्रार्थना करके सभासदों को नाटक और उसके रचनाकार का परिचय ही करा रहा होता है कि तभी अचानक नेपथ्य में या यवनिका के पीछे से लक्ष्मण के शब्द सुनाई देते हैं। सूत्रधार से दर्शकों को पता चलता है कि रावण की अशोक वाटिका में लंबे समय तक रहने के कारण सीता के चरित्र पर कई प्रश्न खड़े हुए हैं और लोक निंदा के भय से घबराकर राम ने गर्भवती सीता का परित्याग कर दिया है। लक्ष्मण उन्हें छोड़ने वन की ओर जा रहे हैं। इसके साथ कथा की स्थापना संपन्न होती है। वृक्षों और लताओं के जाल से घिरे हुए गंगा के तट के वनों में रथ नहीं जा पाता। इस कारण सीता और लक्ष्मण गंगा के किनारे-किनारे धीरे-धीरे पैदल ही चल रहे हैं। गर्भवती होने के कारण सीता जल्दी ही थक जाती हैं और एक पेड़ की छाया में बैठ जाती हैं। विश्राम करने के उपरांत लक्ष्मण सीता को बतलाते हैं कि श्रीराम ने लोक अपवाद के डर से उनका त्याग कर दिया है। सीता को जब यह कठोर समाचार मिलता है तो वह आहत होकर मूर्छित हो जाती हैं। होश में आने के बाद वह लक्ष्मण से बिना किसी कारण के परित्याग का विरोध करती हैं और आत्महत्या करने के लिए तैयार हो जाती हैं। लक्ष्मण सीता को सांत्वना देते हैं और कहते हैं कि राम उनके चरित्र पर संदेह नहीं करते और ना ही सीता के लिए उनके हृदय में प्रेम कम हुआ है। वह रावण की अशोक वाटिका में लंबे समय तक रही हैं। इसलिए उनके चरित्र के बारे में अफवाह फैलने के कलंक से वे अपने कुल को बचाए रखने के लिए उनका परित्याग कर रहे हैं। राजमहल में रहते हुए भी वे वनवासी की तरह ही रहेंगे। आजीवन वे किसी और से विवाह नहीं करेंगे। लक्ष्मण सीता को दुखी होकर आत्महत्या करने से भी रोकते हैं। वे कहते हैं कि अगर वे ऐसा करेंगी तो रघुकुल का क्या होगा? सीता राम के लिए संदेश भेजती हैं कि वे अपने स्वास्थ्य को लेकर सचेत रहें और अपने कर्तव्य से कभी ना हटें। सीता को वन में अकेले छोड़कर जाते हुए लक्ष्मण वन के देवताओं, ऋषियों, लोकपालों, पर्वत और गंगा से प्रार्थना करते हैं कि वे सभी सीता की रक्षा करें। वहीं दूसरी ओर महर्षि वाल्मीकि अपने शिष्यों से एक रोती हुई अबला के बारे में सुनते हैं और तत्काल उस जगह पहुंचते हैं। वहाँ उन का परिचय सीता से होता है और वह अपने योग शक्ति से सीता के विषय में पता करते हैं। वह सीता का भार अपने ऊपर लेते हैं। उन्हें आश्रम में ले जाते हैं और यहीं सीता माँ गंगा से प्रार्थना करती हैं कि अगर कुशलतापूर्वक उनका प्रसव हो गया तो वे हर दिन भगवती गंगा को एक कुंदमाला भेंट किया करेंगी।

दूसरा अंक

दूसरे अंक के आरंभ में दो आश्रम की कन्याओं के मध्य चल रहे संवाद से पता चलता है कि सीता नें महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में दो पुत्रों को जन्म दिया है जिनका नाम लव और कुश है। अब वह 10 वर्ष के हो गए हैं और वाल्मीकि के द्वारा लिखा गया रामायण पढ़ते है। यह भी पता चलता है कि राम ने अष्वमेध यज्ञ का आयोजन किया है और वाल्मीकि आदि

ऋषियों को आमंत्रित किया है। यह सारी जानकारी प्रवेशक के माध्यम से दर्शकों को मिलती है। सीता आश्रम में दुख में डूबी हुई हैं। उनकी सखी वेदवती उन्हें सांत्वना देती है और राम ने उन पर जो अत्याचार किया है उसके लिए उन्हें दुखी होने से रोकती हैं। सीता के मन में राम के लिए अब भी अनुराग है। उन्हें विश्वास है कि राम अभी भी उनसे वैसा ही प्रेम करते हैं। वह अपनी सखियों से राम के लिए अपराधी, निर्दय जैसे शब्द सुनना पसंद नहीं करती हैं और सखी वेदवती के कथन का विरोध करती हैं। वेदवती उनसे कहती है कि राम अश्वमेध यज्ञ का आयोजन कर रहे हैं और इस यज्ञ में वह किसी दूसरी स्त्री का हाथ पकड़ेंगे। तब सीता करुण वाणी में कहती हैं- मेरा राम के हृदय पर अधिकार हैं उनके हाथ पर नहीं। वेदवती उसे अब भी सांत्वना देती है कि उसके वन के दिन अब पूरे हो गए। तभी अचानक नेपथ्य से एक ऋषि की आवाज सुनाई देती है कि सभी आश्रमवासी अश्वमेध यज्ञ के लिए नैमिष वन में पहुंचे। यह सूचना मिलते ही सीता कुश और लव के साथ प्रस्थान के लिए तैयारी करने हेतु वहाँ से चल पड़ती हैं।

तृतीय अंक

तीसरे अंक के आरंभ में प्रवेशक के द्वारा पता चलता है कि सीता, कुश और लव नैमिष वन में पहुँच गए हैं। राम लक्ष्मण नैमिष वन में स्थित वाल्मीकि के आश्रम की ओर जा रहे हैं। रास्ते में राम बिना कारण सीता का परित्याग करने को लेकर दुखी दिखाई दे रहे हैं। लक्ष्मण उनसे बात करते हुए आगे बढ़ रहे हैं। लक्ष्मण राम के मन को शांत करने के लिए उनका ध्यान गोमती नदी के सुंदर चित्र की ओर आकर्षित करते हैं। राम और लक्ष्मण की दृष्टि नदी की धारा में बहते हुए एक कुंद पुष्प की माला पर पड़ती है। राम उस माला को देखते ही पहचान लेते हैं कि यह माला सीता के हाथों से बुनी गई है। जहाँ से माला आ रही होती है राम और लक्ष्मण उसी ओर सीता की खोज में चल पड़ते हैं। थोड़ी दूर आगे जाने पर लक्ष्मण की नजर किसी स्त्री के पैरों के चिन्ह पर पड़ती है। राम उस चिन्ह को देखकर पहचान लेते हैं कि यह चिन्ह सीता के पांव के हैं। राम और लक्ष्मण उन पद चिन्हों के पीछे पीछे चलते हैं। आगे कठोर भूमि आने पर वह चिन्ह गायब हो जाते हैं। और वे दोनों अपनी थकान को दूर करने के लिए एक लता कुंज में बैठ जाते हैं। वहीं सीता पुष्प तोड़ रही होती हैं और पेड़ की ओट में उन दोनों का संवाद सुनती हैं। राम को अपने लिए दुखी देखकर सीता बड़ी कठिनाई से अपने आप को उनके सामने जाने से रोक पाती हैं। तभी वाल्मीकि के द्वारा भेजे गए ऋषि बादरायण राम और लक्ष्मण को खोजते हुए उस कुंज में पहुँचते हैं। इसी के साथ तीसरा अंक समाप्त हो जाता है।

चतुर्थ अंक

चौथे अंक की शुरुआत में वेदवती नाम की एक आश्रम कन्या अपनी सखी यज्ञवेदी को बतलाती है कि तिलोत्तमा नाम की एक अप्सरा सीता का रूप धर के राम के सामने जाएगी और सीता की तरह ही आचरण करके राम के हृदय में सीता के प्रति प्रेम का आंकलन

करेगी। यज्ञवेदी जब उससे कहती है कि उनकी बातचीत को राम के मित्र कौशिक ने सुन लिया है तो वेदवती तिलोत्तमा को ऐसा करने से रोकने का निर्णय लेती है। इन दोनों के बीच संवाद से यह भी पता चलता है कि वाल्मीकि के प्रभाव से आश्रम की बावड़ी पर खड़ी स्त्री को कोई पुरुष नहीं देख पाएगा और सीता आजकल सारा दिन उसी बावड़ी के किनारे ही बैठी रहती हैं। इस वार्तालाप के बाद वेदवती तिलोत्तमा के पास चली जाती है और यज्ञ वेदी सीता के पास। इसके साथ प्रवेशक समाप्त होता है।

सीता बावड़ी के तट पर अपने 14 वर्ष के वनवास के दौरान चित्रकूट की वनदेवी द्वारा उपहार में दिया गया वस्त्र ओढ़े बैठी हैं और अपने दुखों को याद करके रो रही हैं। यज्ञवेदी उनको शांत कराती है और राज हंसों के जोड़े को दिखाकर उनका मनोरंजन करने का प्रयास करती है। तभी राम के साथ उनका बचपन का साथी कण्व वाल्मीकि के आदेश से वन की सुंदरता दिखाकर राम का मनोरंजन करने के लिए आता है। जब कण्व राम को अकेले छोड़कर चला जाता है तो राम धुएँ से आंख में होने वाले जलन को दूर करने के लिए बावड़ी में मुंह धोने के लिए जाते हैं। तभी वहाँ उन्हें सीता का प्रतिबिंब दिखाई देता है। सीता को सामने न पाकर वे मूर्छित हो जाते हैं। तभी सीता उन्हें छू कर होश में लाती हैं। राम सीता से सामने आने के लिए प्रार्थना करते हैं। सीता उन्हें उत्तर भी देती हैं। जब राम अपने प्रयास में सफल नहीं होते तो वह फिर से मूर्छित हो जाते हैं। सीता इस बार अपने आँचल से हवा करती हैं और उन्हें होश में लाती हैं। राम होश में आते ही सीता के द्वारा ओढ़े हुए वस्त्र खींच लेते हैं और पहचान लेते हैं कि वह सीता ही हैं। वह बड़े आदर से उसे ओढ़ लेते हैं और अपना शाल गिरा देते हैं जिसे सीता उठा लेती हैं। शाम होते ही सीता वापस आश्रम की ओर लौट जाती हैं। राम इस पूरी घटना पर आश्चर्यचकित होकर विचार कर ही रहे होते हैं कि तभी विदूषक आकर उन्हें वेदवती और तिलोत्तमा के बीच हुए संवाद के बारे में बतलाता है। राम को इस बात से यह विश्वास हो जाता है कि तिलोत्तमा ने ही उनके साथ यह उपहास किया है।

पंचम अंक

अगले दिन प्रातः काल विदूषक तपस्वियों को एकत्र करता है। और राम को अपने साथ सभा मंडप की ओर ले जाता है। राम पूर्व घटित घटना के बारे में सोच रहे होते हैं। उनका मन यह विश्वास नहीं कर पाता कि वह सब एक छलावा था। क्योंकि सीता के प्रतिबिंब को देखने से उनके मन में एक नई चेतना जाग उठी थी। सीता ही बार-बार उन्हें स्मरण हो रही थीं। विदूषक उन पर दोष लगाता है कि वे केवल अपनी वाणी से ही सीता को चाहते हैं, हृदय से नहीं। नहीं तो वह उनका त्याग क्यों करते? राम अपने को निर्दोष साबित करते हैं। तपस्वियों के आने का समय निकट होता है। राम विदूषक को बाहर देख कर आने के लिए कहते हैं। जैसे ही विदूषक बाहर जाता है तो तपस्वियों को देखकर वह राम से कहता है कि बाहर बिल्कुल राम-लक्ष्मण की आकृति वाले दो बालक खड़े हैं जो वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण कथा सुनाने के लिए आए हैं। राम यह सुनते ही द्रवित हो जाते हैं और जल्दी ही उन्हें भीतर लाने का आदेश देते हैं। कुश और लव को देखकर उनके मन में विचित्र भाव उठने लगते

हैं। उनकी आंखों में आँसू आ जाते हैं। राम उन्हें सिंहासन पर अपनी गोद में बिठा लेते हैं और प्रेम पूर्वक उन्हें अपने गले से लगाते हैं। उन्हें देखकर वह सोचते हैं कि अगर सीता ने भी पुत्र को जन्म दिया होगा तो उनकी संतान भी अब इसी उम्र की होगी। तभी अचानक विदूषक चिल्लाता है कि राम लव कुश को नीचे उतारें क्योंकि जो भी रघुवंशियों के अलावा उस सिंहासन पर बैठता है उसका सिर चूर-चूर हो जाता है। राम तुरंत ही उन्हें नीचे उतार देते हैं और यह देखकर हैरान होते हैं कि राज सिंहासन पर बैठने के बाद भी उन्हें कोई आघात नहीं पहुँचा। वे उनसे पूछते हैं। दोनों जुड़वा भाई हैं। वे कहते हैं कि हम सूर्यवंशी हैं और हमारे गुरु महर्षि वाल्मीकि हैं। वह यह भी बताते हैं कि उनकी माता उनके पिता को निर्दय नाम से पुकारती हैं। उनकी माता को वाल्मीकि वधू और दूसरे आश्रमवासी देवी कहते हैं। इन सभी बातों से राम को यह अनुमान हो जाता है कि यह दोनों सीता की संतान हैं। अब उनका मन और भी अशांत हो जाता है। तभी अचानक नेपथ्य से आवाज आती है कि लव कुश रामायण का गाना शुरू करो और राम रामायण सुनने के लिए मित्रों के साथ वहाँ इकट्ठे होने के लिए संदेश भेजते हैं। इसके साथ पाँचवा अंक समाप्त हो जाता है।

छठा अंक

सभा मंडप में एकत्र हो जाने पर राम की अनुमति से कुश और लव दशरथ के विवाह से लेकर सीता के निर्वासन तक की रामायण कथा सुनाते हैं। राम के मन में संदेह आता है कि संभवत सीता की मृत्यु हो जाने के कारण वाल्मीकि ने इसके आगे की कथा नहीं कही होगी। आगे के प्रसंग को जानने के लिए वे कण्व को बुलाते हैं। कण्व उन्हें बतलाता है कि कुश और लव राम की ही संतान हैं। यह समाचार सुनते ही राम लक्ष्मण कुश तथा लव मूर्छित हो जाते हैं। तभी वाल्मीकि के साथ सीता का प्रवेश होता है। वे दोनों सभी को होश में लाते हैं। वाल्मीकि राम को सीता की अग्नि परीक्षा ले लेने के बाद भी कुछ लोगों के कहने से उसका परित्याग करने को लेकर कड़े शब्दों में डाँटते हैं और उसके बाद सीता को अपने चरित्र के विषय में प्रमाण देने के लिए आदेश देते हैं। सीता भरी सभा में प्रार्थना करती हैं कि पृथ्वी देवी प्रकट होकर सबके सामने कहें कि सीता सच्चरित्र और पतिव्रता है या नहीं। सीता के तेज से पृथ्वी देवी अवतरित होती हैं और सीता के चरित्र के विषय में राम को आश्वस्त करती है। राम सीता को स्वीकार कर लेते हैं। राम लक्ष्मण के कहने पर पर पुत्र कुश को राज्य का उत्तराधिकारी बनाते हैं और लव को युवराज पद पर बैठाते हैं। इसी के साथ नाटक समाप्त होता है।

11.4 कुंदमाला का सैद्धांतिक अनुप्रयोग

दिङनाग ने अपने नाटक कुंदमाला में सरल और रंगमंच के अनुकूल शैली का प्रयोग किया है। भावों को अभिव्यक्त करने में उनके द्वारा प्रयुक्त नाट्य युक्तियाँ सफल साबित होती हैं। उनकी भाषा में क्लिश्टता नहीं है और संवादों को सरल और सरस बनाने के लिए वह लंबे संवादों का प्रयोग नहीं करते हैं। संवादों में अभिनय के लिए भरपूर रिक्त स्थान है। दूसरे संस्कृत

नाटककारों की तरह वह कृत्रिम शैली का प्रयोग नहीं करते। वे चरित्र को बढ़ा चढ़ाकर नहीं प्रस्तुत करतें। राम, सीता, लक्ष्मण, लव और वाल्मीकि को एक आम मनुष्य की तरह दिखाते हैं। कथानक के आधार पर उनकी तुलना भवभूति से अक्सर की जाती है किंतु भवभूति और दिङनाग में काफी अंतर है। भले ही दोनों एक ही कथानक को आधार बनाकर अपना नाटक लिखते हैं लेकिन फिर भी नाटक के ट्रीटमेंट को लेकर दोनों में काफी अंतर है। दिङनाग द्वारा नाटक में प्रयुक्त युक्तियाँ नाटक को रोचक और आकर्षक बनाती हैं।

दिङनाग के संवादों को अगर हम देखें तो उनकी अपनी अलग विशेषता है। दृश्य काव्य के लिए संवाद प्राण की तरह होते हैं। यह संवाद ही कथानक को गति प्रदान करते हैं। रंगमंच के लिए यह नितांत आवश्यक गुण है कि संवाद सरल और समझ में आने योग्य हों। लंबे संवादों से दर्शकों के अंदर बोझिलता का भय होता है और साथ ही साथ यह लंबे संवाद भावों के प्रभाव को भी बाधित करते हैं। इसीलिए दिङनाग अपने नाटक कुंदमाला में किसी भाव का लंबा-चौड़ा वर्णन नहीं करतें, केवल मार्मिक रूप से उसकी अभिव्यक्ति कर देते हैं। आरंभ से अंत तक संवाद छोटे और रोचक हैं। इसीलिए दिङनाग का नाटक कुंदमाला रंगमंच के अधिक निकट जान पड़ता है।

अंततः हम यह कह सकते हैं कि कुंदमाला एक करुण रस प्रधान नाटक है। दिङनाग ने बहुत ही सुंदरता के साथ करुण रस की अभिव्यक्ति की है। उनके इस नाटक को पढ़ते और देखते हुए पाठक और दर्शक सहजता के साथ सीता और राम के साथ अपनी सहानुभूति स्थापित कर लेते हैं। उनका दु:ख दर्शक का दु:ख हो जाता है। इस प्रकार कुंदमाला संस्कृत साहित्य का एक ऐसा नाटक है जो सीता निर्वासन की कथा को आधार बनाता है किंतु उसे जस का तस नहीं प्रयोग करता। बल्कि कवि दिङनाग अपनी कल्पना से उस कथानक के अंत को सुखांत में परिवर्तित कर देते हैं और रंगमंच के शिल्प को ध्यान में रखकर नाटक का लेखन करते हैं।

पाठगत प्रश्न 11.2

1. कुंदमाला नाटक में कुल कितने अंक हैं?

   ....

2. प्रथम अंक के आरंभ में क्या होता है?

   ....

3. कुश और लव के जन्म की सूचना किस अंक में मिलती है?

   ....

टिप्पणी

4. छाया युक्ति का प्रयोग किस अंक में है?

....

5. रामायण कथा किस अंक में वर्णित है?

....

6. क्या कुंदमाला नाटक के अंत में सीता पृथ्वी के गर्भ में समा जाती हैं?

....

आपने क्या सीखा

- कुंदमाला दिङ्नाग द्वारा रचित संस्कृत नाटक है।
- दिङ्नाग का समय काल 1000 ई. निर्धारित किया गया है।
- नाटक की मूलकथा रामायण में वर्णित सीता निर्वसन की कथा है।
- नाटक के नामकरण का आधार तीसरे अंक की एक घटना है जिसमें राम लक्ष्मण गोमती की जलधारा में बहता हुआ एक कुंदमाला देखते हैं। उस माला को देखकर राम सीता को याद कर दु:खी होते हैं। इसी घटना के कारण नाटक का नाम कुंदमाला रखा गया है।
- कुंदमाला नाटक में छ: अंक हैं।
- कुंदमाला नाटक का अंत सुखांत है। इसमें राम और सीता का मिलन हो जाता है।

पाठान्त प्रश्न

1. संस्कृत नाटककार दिङ्नाग के बारे में बतलाइए?
2. कुंदमाला नाटक की मूलकथा के विषय में बतलाइए?
3. कुंदमाला के नामकरण के विषय में बतलाइए?
4. कुंदमाला और उत्तर रामचरितम् की कथा के क्या अंतर है?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

11.1

1. दिङ्नाग
2. वर्ष 1923
3. 1000 ईसवी
4. सुदूर दक्षिण भारत में स्थित अरारालपुर
5. राम, लक्ष्मण, सीता, कुश और लव तथा वाल्मीकि आदि
6. रामायण में वर्णित सीता निर्वासन की कथा
7. धीरोदात्त
8. भारतीय आदर्श नारी के रूप में जिसके हृदय में पति के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा है।
9. राम और सीता के पुत्र
10. वाल्मीकि दयावान और सिद्ध महर्षि हैं जिन्होंने निर्वासन के बाद सीता को अपने आश्रम में संरक्षण प्रदान किया था।

11.2

1. छः अंक
2. प्रथम अंक के आरंभ में लक्ष्मण सीता को वन में छोड़ने के लिए जा रहे हैं।
3. दूसरा अंक
4. चौथा अंक
5. छठे अंक में
6. नहीं।

12

भारत दुर्दशा

हिंदी नाटक साहित्य में भारतेंदु हरिश्चंद्र का नाम सर्वविदित है। उनके द्वारा लिखित नाटक भारत दुर्दशा के माध्यम से हम ब्रिटिश साम्राज्य में भारत की स्थिति का आकलन स्वयं ही कर सकते हैं। भारत दुर्दशा में भारतेंदु अंग्रेजी सत्ता में अंग्रेजों की शोषणकारी नीति और भारत में व्याप्त आंतरिक दुर्व्यसनों को मनोरंजक तरीके से वर्णित करते हैं। प्रतीक नाटकों की तरह वह भी भारत की दुर्दशा के लिए उत्तरदायी कारणों को चरित्रों में प्रस्तुत करते हैं और उन्हीं के द्वारा भारत की दुर्दशा को दर्शकों के समक्ष लाने का यत्न करते हैं।

भारत दुर्दशा का अध्ययन करते हुए हमें तत्कालीन भारत को समझना बहुत ही आवश्यक है। यह नाटक सन् 1880 में भारतेंदु द्वारा लिखा गया था अतएव इस समयकाल के परिप्रेक्ष्य में भारत दुर्दशा का आंकलन किया जाना चाहिए। इस अध्याय में हम भारत दुर्दशा नाटक को जानने व समझने का प्रयास करेंगे। भारतेंदु ने किस प्रकार भारत दुर्दशा के कथानक को बना है यह भी एक रोचक विषय है

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- भारत दुर्दशा नाटक के रचनाकार श्री भारतेंदु हरिश्चंद्र के विषय में जानते हैं;
- भारत दुर्दशा नाटक के कथानक के विषय में जानते हैं;
- भारत दुर्दशा नाटक के पात्रों के चरित्र चित्रण को जानते हैं; और
- भारत दुर्दशा नाटक की शैली को समझते हैं।

12.1 हरिश्चंद्र का सामान्य परिचय

1850 को काशी में जन्मे भारतेंदु हरिश्चंद्र ने मात्र 35 वर्ष में हिंदी नाट्यसाहित्य को एक नवीन आयाम दिया है। अपने योगदान के कारण ही वे हिंदी साहित्य में आधुनिक नाटकों के जनक माने जाते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में ही रचनाएं लिखीं। न केवल नाटक बल्कि निबंध और विचारों के लेखन में भी वे सक्रिय रहे हैं। भारतेंदु ने अपनी रचना शैली से कई नाटककारों को लेखन की प्रेरणा प्रदान की। इसीलिए 1850 से उन्नीस सौ तक का दौर भारतेंदु युग के नाम से जाना जाता है। भारतेंदु को हिन्दी क्षेत्र में नाट्य शुरू करने का श्रेय भी जाता है। पारसी रंगमंच के प्रतिक्रिया स्वरूप उन्होंने आधुनिक रंगमंच का सूत्रपात किया। आज हम उसी का विकसित रूप देखते हैं। उनके लिए रंगमंच केवल मनोरंजन का साधन नहीं था बल्कि सामाजिक चेतना का एक माध्यम था। उन्होंने स्वयं नाटक लिखें और उनमें अभिनय भी किया। उन्होंने नाट्य आरंभ करते हुए कई नाट्य संस्थाएँ भी आरंभ कीं।

भारतेंदु के नाटक

भारतेंदु ने मौलिक और अनूदित दोनों ही प्रकार के नाटक लिखे। उनके मौलिक नाटकों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, सत्य हरिश्चंद्र, प्रेम योगिनी, विषस्य विषमौषधम्, चंद्रावली, भारत दुर्दशा, भारत जननी, नीलदेवी और सती प्रताप जैसे मौलिक नाटक लिखे। इसके अतिरिक्त उन्होंने विद्यासुंदर, रत्नावली, पाखंड विडंबन, धनंजयविजय, मुद्राराक्षस और कर्पूर मंजरी जैसे संस्कृत और बांग्ला नाटकों का भी अनुवाद किया है। शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक मर्चेंट ऑफ वेनिस को भी उन्होंने दुर्लभ बंधु के नाम से अनुवाद किया है।

भारतेंदु की रंगमंच की अवधारणा

भारतेंदु हरिश्चंद्र का रंग संस्कार संस्कृत, अंग्रेजी और बांग्ला के नाट्य साहित्य का मिलाजुला रूप है। भारतेंदु भारतीय नाट्य परंपरा और लोक नाटकों से प्रभावित होकर नाटक की रचना में एक नया मोड़ पैदा करते हैं और समाज के लिए उपयोगी नवीन आधुनिक रंगमंच की परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं। भारतेंदु ने सामाजिक विषयों को अपना आधार बनाया और सामाजिक सांस्कृतिक जागरण के लिए निरंतर प्रयास किया। उन्होंने प्रहसन और नाटकों के माध्यम से हास्य और व्यंग्य द्वारा भारतीयों को जागरूक करने का प्रयास किया है।

12.2 भारत दुर्दशा के प्रमुख पात्र

भारत दुर्दशा 1875 में लिखित है। इसके सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं। भारतेंदु ने भारत की दुर्दशा के लिए जिम्मेदार वृत्तियों को पात्र रूप में निर्मित किया है। उनके इस नाटक का यदि अध्ययन करें तो हमें श्रीकृष्ण मिश्र के नाटक 'प्रबोधचंद्रोदय' का स्मरण हो आता है। पात्रों

की सूची कुछ इस प्रकार है:-

1. भारत :- भारतवर्ष
2. निर्ल्लज्जता :- तत्कालीन समाज में व्याप्त निर्ल्लज्ज आचरण
3. आशा :- दुर्दशा से मुक्ति की उम्मीद
4. भारत दुर्दैव :- भारत की दुर्दशा करने वाला
5. सत्यानाशी फौजदार :- सब कुछ तहस-नहस कर देने वाला
6. रोग :- रोग का इलाज न कराके झाड़ फूंक जैसी प्रवृत्ति
7. आलस्य :- आलसी प्रवृत्ति
8. मदिरा :- शराब आदि के सेवन की नशा प्रवृत्ति
9. अंधकार :- अविद्या से व्याप्त अंधकार
10. सभापति
11. छः सभ्य
    - एक बंगाली
    - एक महाराष्ट्री
    - एडिटर
    - कवि
    - दो देशी महाशय

    } प्रतिनिधि
12. डिस्लॉयल्टी पुलिस
13. भारत भाग्य :- भारत का भाग्य

चरित्र भारत का प्रवेश नाटक के दूसरे अंग में होता है। भारत तत्कालीन भारत का प्रतीक है। भारत के संवाद के द्वारा पता चलता है कि किस तरह अंग्रेज व्यापारियों ने व्यापार के बहाने पूरे देश को हड़प लिया। वह महाभारत के पात्र दुर्योधन की चर्चा करता है और उसे वीर उत्तम कहता है। आखिर भारतीयों ने कैसे इतना बड़ा देश अंग्रेजों के हाथ सौंप दिया। वह भारतीयों की योग्यता, विद्या, सभ्यता, उदारता और स्थिरचित्तता पर सवालिया निशान खड़ा करता है और

अपने आप को बचाने के लिए गुहार लगाता है। वह ईश्वर से अपने आप को इस स्थिति से मुक्त करने की प्रार्थना करता है।

भारत दुर्दैव को भारतेंदु ने क्रूर रूप में आधा क्रिश्चियन, आधा मुसलमान और हाथ में नंगी तलवार लिए हुए दिखाया है। भारत दुर्दैव चरित्र की रूप रचना के पीछे भी भारतेंदु का अपना एक अर्थ है। वे भारत दुर्दैव को इस तरह की वेशभूषा प्रदान करते हैं ताकि पराधीनता को नाटकीय रूप में दिखा सकें। वह एक तरफ अंग्रेजी राज की प्रशंसा भी करता है और दूसरी तरफ उसका विरोध भी करता है। वास्तव में उस दौर में ऐतिहासिक परिवेश भी कुछ इसी प्रकार का था जिसमें भारतीय वर्ग अंग्रेजों की प्रशंसा भी किया करता था और उनका विरोध भी। भारतेंदु इस दोमुंहे बर्ताव पर कटाक्ष करते हैं।

भारत दुर्दैव की सेना में एक से एक योद्धा हैं। आलस्य, धर्म, सूखा, अतिवर्षा, उपाध्याय, अदालत, रोग, मदिरा, अंधकार जैसे जो कि भारत की दुर्दशा करने के लिए अपने आप में काफी हैं। नाटक में एक ऐसा अंक भी है जिसमें उन्होंने प्रतीकों का प्रयोग ना करते हुए यथार्थ पात्रों का इस्तेमाल किया है। जैसे सभापति और 6 सभ्य वाले अंक में इन प्रबुद्ध वर्ग के प्रतिनिधियों के द्वारा वह तत्कालीन भारतीय समाज के बुद्धिजीवी वर्ग पर प्रहार करते हैं क्योंकि ऐसे लोग केवल दावा करते हैं लेकिन असल में उनकी नाकामी से भारत की दुर्दशा हो रही है।

भारत भाग्य भारत का मित्र है और वह भारत की दुर्दशा को देखकर आत्महत्या का मन बनाता है। वह कई बार भारत को जगाने का प्रयास भी करता है लेकिन इसका भारत पर कोई असर नहीं पड़ता और अंतत: भारत भाग्य हार जाता है और मृत्यु को गले लगा लेता है। इन पात्रों के नाम से ही स्पष्ट है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र ने इस नाटक में भारत में सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक विकृतियों को चरित्र बनाया है।

पाठगत प्रश्न 12.1

1. आधुनिक हिन्दी नाटकों के जनक कौन हैं?

   ....

2. भारतेंदु द्वारा लिखित मौलिक नाटक कौन-कौन से हैं?

   ....

3. भारत दुर्दशा कब लिखा गया है?

   ....

4. भारत दुर्दशा के कथानक का मूल आधार क्या है?

....

5. भारत दुर्दशा में पात्रों के चित्रण हेतु क्या युक्ति अपनाई गई है?

....

6. भारत दुर्दशा के मुख्य पात्र कौन-कौन से हैं?

....

12.3 भारत दुर्दशा नाटक की कथावस्तु

भारत दुर्दशा नाटक का मूल कथानक भारतेंदु के समकालीन भारत में व्याप्त अव्यवस्था दुर्व्यसन और शोषणकारी नीतियों से उपजा विचार है। मूल कहानी में भारत दुर्दैव अपनी सेना के साथ भारत पर आक्रमण करता है और उसे असहाय बना देता है। अंत में भारत भाग्य आत्महत्या कर लेता है। प्रतीकात्मक पात्रों के माध्यम से भारतेन्दु भारतवासियों को गुलाम भारत की करुणामयी स्थिति से अवगत कराने का प्रयास करते हैं और उनमें अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम और सांस्कृतिक चेतना जागृत करने का यत्न करते हैं। उन्होंने इस कथानक को 6 अंकों में लिखा है जो इस प्रकार है-

प्रथम अंक

प्रथम अंक में एक योगी मंच पर प्रवेश करता है और लावणी गायन की शुरुआत करता है। इसी गायन के सहारे वह भारत के प्राचीन गौरव कथाओं का उल्लेख करता है। बुद्ध, हरिश्चंद्र, नहुश, राम, युधिष्ठिर, कृष्ण, अर्जुन, भीम और कर्ण आदि को याद कर वह भारत के अतीत को दर्शकों के सामने लाता है। साथ ही वह भारत की वर्तमान दुर्दशा के बारे में भी संवाद करता है। वह कहता है कि अब मुझसे भारत की यह दशा देखी नहीं जाती है। उस दौर में आधुनिकीकरण के साथ भारतीय लोगों में धन की लूट की लालसा थी। इस अंक में भारतेंदु गायन के सहारे भारत की वर्तमान दुर्दशा से दर्शकों को अवगत कराते हैं।

दूसरा अंक

दूसरे अंक में टूटे-फूटे मंदिर, कौवें, घूमते हुए कुत्ते और सियार, बिखरी हुई हड्डियाँ दिखाई देती हैं। भारत मंच पर आता है और अपना दुख व्यक्त करता है। वह कहता है कि जिस देश के लोग अपनी मातृभूमि के लिए मर मिटते थे। वहीं के लोगों की आज कैसी दुर्दशा है। हमने तो सोचा था कि अंग्रेजों का राज्य होने के बाद हम अपने दु:खी मन को पुस्तक पढ़कर बहलाएंगे और सुखी-सुखी जीवन बिताएंगे। लेकिन यहाँ भी हमें निराशा ही हाथ लगी है। अंक के आखिर में वह ईश्वर को याद करने की कोशिश करता है लेकिन याद नहीं कर पाता और

डर के मारे बेहोश हो जाता है। तभी निर्लज्जता और आशा आती हैं और भारत को अपने साथ ले जाती हैं।

तृतीय अंक

तीसरे अंक में फौज का डेरा दिखाई पड़ता है। भारत दुर्दैव का आगमन होता है। वह बहुत ही सुंदरता से भारत की दुर्दशा का पूरा चित्र उपस्थित करता है। अंग्रेजी ब्रिटिश हुकूमत के दोशों को वह प्रशंसा में लपेटकर वर्णन करता है। अकाल, महंगाई, रोग, सूखा, फूट-बैर, प्लेग आदि संबोधन भी आते हैं। भारत दुर्दैव के फौजदार सत्यानाश का आगमन होता है। वह भी अपनी तारीफ करता है। इसके बाद भारत के आंतरिक दोष को सैनिकों के रूप में वर्णित किया गया है जिसमें पहले स्थान पर धर्म हैं जिसकी ओट में भारत की बहुत दूर्गति हुई है। मत-मतांतर की अधिकता, वर्ण व्यवस्था में आपसी खींचतान, बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध, वृद्ध विवाह, बहु विवाह और समुद्र यात्रा निषेध जैसे कई देशों ने भारत की दुर्दशा में बहुत मदद की है। इसमें उल्लेख किया गया है कि कैसे करोड़ों देवी-देवताओं के होने के बाद भी हिंदू पीर और गाजी मियां की पूजा करते हैं, नमाज पढ़कर निकलते हुए मुसलमानों से बच्चे का झाड़ा फुंक करवाते हैं। इसके बाद संतोष और बेगारी की बारी आती है। थोड़ा कमाना, थोड़ा खाना, संतोषं परं सुखम् यह बात इस देश में नीति की तरह रही है। भारत में रोटी दाल का जुगाड़ कर लेना ही यहां का परम पुरुषार्थ है। इस प्रकार से भारत के राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक कारणों को भारतेंदु इस अंक में वर्णित करते हैं।

चतुर्थ अंक

चौथे अंक में भारत दुर्दशा आलस्य, रोग, मदिरा और अंधकार को भारत में भेजता है। रोग अपनी प्रशंसा करता है और भारतीय लोगों की मूर्खता पर हँसता है। वह कहता है कि भारत में रोग की दवा न कराकर लोग झाड़-फूंक में ही अपने प्राण गवा देते हैं। वैद्य शास्त्र प्रगतिशील नहीं है और इसके चलते लोगों की संख्या भारत में बढ़ रही है। अफीम खाने वालों और मदिरा पीने वालों की भारत में कमी ही नहीं है। आलस्य तो इसमें निवास ही करता है। इसके बाद अज्ञान रूपी अंधकार मंच पर आता है और भारत भेजा जाता है। वह अपने संवादों में कहता है कि भारत अविद्या प्रेमी है। वह शिक्षा, अध्ययन-अध्यापन, इनको केवल जीविका का एक साधन समझता है और इसी तंत्र से स्नातक और स्नातकोत्तर किए हुए नवयुवक अपने को प्रकांड विद्वान समझकर किसी व्यवसाय की ओर जाने को अपना अपमान समझते हैं। यह पूरा वर्णन हमें चौथे अंक में मिलता है।

पंचम अंक

पांचवें अंक में एक सभा का दृश्य है जिसमें एक सभापति है और उसके 6 सभ्य सदस्य हैं। इनमें से एक बंगाली, एक मराठी, दो स्वदेशी, एक कवि और एक पत्र संपादक है। सभा का मूल मकसद है- भारत दुर्दैव की चढ़ाई को रोकना। इस सभा में बंगाली सभ्य बहुत ही

मजाकिया ढंग से गोलमाल मचाकर भारत को दुर्दैव से बचाने की राय देता है। वह दूसरा उपाय देता है कि स्वेज नहर को पिसान से पाट दिया जाए। कवि नायिका बनकर और अंग्रेजों की तरह स्वांग करके अपनी रक्षा करना चाहता है। संपादक अपने लेखनकला (आर्टिकलबाजी) की प्रशंसा में ही लगा रहता है। महाराष्ट्री सभ्य स्वदेशी वस्त्र पहनकर मशीन के व्यवसाय को बढ़ाने और सार्वजनिक संस्थाएं बनाने का उपदेश देता है। देसी सभ्य कुछ नहीं बता पाता और केवल चापलूसी प्रेम दिखाते हुए दूसरों का मजाक उड़ाता है। लेकिन एक देशी विद्या की उन्नति, एकता, कला शिक्षण की ओर भी लोगों का ध्यान खींचता है। इसी समय डिस्लॉयल्टी पुलिस आती है और उन सब को अपने साथ ले जाती है।

छठा अंक

छठे अंक के आरंभ में भारत भाग्य आता है और भारत के प्राचीन ऐतिहासिक गौरव और वर्तमान दशा के बारे में करुण विलाप करता है। एक समय था जब भारत पूरे संसार का केंद्र था और इसकी समानता करने में कोई देश सक्षम नहीं था लेकिन पता नहीं क्या हुआ कि भारत नें खुद को मिट्टी में मिला लिया। गुलामी, ईर्ष्या, द्वेष जैसे संसार के कलंकों से कलंकित होते हुए भी यह अभी तक मिटा नहीं है। ऐसे शक्तिहीन देश को हमेशा के लिए मिट जाना अच्छा है। इस तरह वर्तमान दशा का विलाप करते हुए भारत भाग्य आत्महत्या कर लेता है और इसी के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

पाठगत प्रश्न 12.2

1. भारत दुर्दशा के प्रथम अंक में योगी क्या करता है?

....

2. भारत दुर्दशा में कुल कितने अंक हैं?

....

3. भारत दुर्दशा में कौन-कौन से आंतरिक देश जिम्मेदार हैं?

....

4. चौथे अंक में दुर्दैव किन्हें भारत पर आक्रमण के लिए भेजता है ?

....

5. सभा का दृश्य किस अंक में है?

....

6. अंत में क्या होता है ?

....

12.4 भारत दुर्दशा नाटक की शैली

भारतेंदु स्वयं रंगकर्मी थें और नाटकों में अभिनय किया करते थें। उन्होंने कई नाटक कम्पनियों की स्थापना की और उनके माध्यम से दर्शकों की रुचि को साहित्यिक मूल्यों की ओर आकर्षित किया। भारतेंदु ने जिन नाटकों का लेखन किया है उन्हें रंगकर्म के मंचन को ध्यान में रखकर ही किया है। भारतेंदु जिस समय नाट्य लेखन कर रहे थें उस समय की अभिव्यक्ति के लिए वे संस्कृत नाट्य विधा को अधूरा पा रहे थे। पश्चिम रंगमंच भी देशी भावना को अभिव्यक्त करने के लिए पूर्ण नहीं था। इसलिए भारतेंदु ने लोकनाट्य रूपों का सहारा लिया। हालांकि यदा-कदा वे संस्कृत नाट्य और पश्चिमी नाट्य तत्वों का प्रयोग करते हुए भी दिखाई देते हैं। भारतेंदु जिस समय के लिए नाटक लिख रहे थें वह समय ब्रिटिश राज का समय था। भारत अपनी खोई हुई स्वतंत्रता पाने और सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना के लिए संघर्षरत था। ऐसे में अपने नाटकों को रुचिकर बनाते हुए भारतेंदु ने मनोरंजन के तत्वों का भी समावेश किया। गीतों और गजलों के प्रयोग में भी वे असावधानी नहीं बरतते।

विशेषकर भारत दुर्दशा नाटक के संदर्भ में वह यथार्थ रूप में भारत को दुर्बल कर रहे कारणों को पात्र में ढालकर इस नाटक का ढांचा खड़ा करते हैं। यदि हम भारत दुर्दशा नाटक के संवादों को गौर से देखें तो तत्कालीन समय की कई महत्वपूर्ण घटनाओं पर भारतेंदु अपने विचार व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। इस नाटक में प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग करने के कारण चरित्रों के संघर्ष में कुछ अभाव अवश्य दिखाई पड़ता है लेकिन उस अभाव को भारतेंदु गीतों और बोलचाल की भाषा के माध्यम से पूरा करते हैं। इस नाटक में ना तो सूत्रधार है और ना ही कोई भरत वाक्य है। अंत दुःखद है जिसमें भारत भाग्य आत्मघात कर लेता है। भारतेंदु एक ऐसे रंगमंच के प्रबल पक्षधर थे जो समसामयिक हो और आधुनिकता की बात करे। भारतेंदु की महत्ता इसलिए भी और महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि भारतेंदु की इस दृष्टि को अन्य नाटककारों ने भी अपनाया है। भारत दुर्दशा ही नहीं बल्कि अपने सभी नाटकों में भारतेंदु आधुनिकता के विचार समाहित करते हुए चलते हैं लेकिन भारत दुर्दशा में यह आधुनिकता और भी ज्यादा मुखर होकर सामने आती है।

पाठगत प्रश्न 12.3

1. भारतेंदु के रंगमंच की अवधारणा क्या थी?

....

टिप्पणी

2. भारतेंदु के तत्कालीन समाज की क्या विशेषता थी?

....

3. भारत दुर्दशा में चरित्र संघर्ष में कमी का क्या कारण हैं?

....

आपने क्या सीखा

- भारतेंदु हरिश्चंद्र ने मात्र 35 वर्ष में हिंदी नाट्यसाहित्य को एक नवीन आयाम दिया है। अपने योगदान के कारण ही वे हिंदी साहित्य में आधुनिक नाटकों के जनक माने जाते हैं।
- भारत दुर्दशा नाटक सन् 1875 में भारतेंदु द्वारा लिखा गया था।
- भारतेंदु के मौलिक नाटक हैं- वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, सत्य हरिश्चंद्र, प्रेम योगिनी, विषस्य विषमौषधम्, चंद्रावली, भारत दुर्दशा, भारत जननी, नीलदेवी और सतीप्रताप आदि।
- उन्होंने प्रहसन और नाटकों के माध्यम से हास्य और व्यंग्य द्वारा भारतीयों को जागरूक करने का प्रयास किया है।
- भारतेंदु ने अपनी रचना शैली से कई नाटककारों को प्रभावित किया है। इसीलिए 1850 से 1900 तक का दौर भारतेंदु युग के नाम से जाना जाता है।
- भारतेंदु हरिश्चंद्र की रंग शैली संस्कृत, अंग्रेजी और बांग्ला के नाट्य साहित्य का मिलाजुला रूप है।
- भारत दुर्दशा नाटक का मूल कथानक भारतेंदु के समकालीन भारत में व्याप्त अव्यवस्था दुर्व्यसन और शोषणकारी नीतियों से उपजा विचार है।
- भारत दुर्दशा छः अंकों का नाटक है।
- मूल कहानी में भारत दुर्दैव अपनी सेना के साथ भारत पर आक्रमण करता है और उसे असहाय बना देता है। अंत में भारत भाग्य आत्महत्या कर लेता है।
- प्रतीकात्मक पात्रों के माध्यम से भारतेन्दु ने भारतवासियों को गुलाम भारत की करुणामयी स्थिति से अवगत कराया है।

टिप्पणी

पाठान्त प्रश्न

1. भारतेंदु हरिश्चंद्र की नाट्य चेतना क्या थी?
2. भारत दुर्दशा की मूल कथा क्या है?
3. भारत दुर्दशा के चरित्रों के विषय में बतलाइए?
4. भारत दुर्दशा में प्रतीकात्मकता के बारे में लिखिये?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

12.1

1. भारतेंदु हरिश्चंद्र
2. वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति, सत्य हरिश्चंद्र, प्रेम योगिनी, विषस्य विषमौषधम्, चंद्रावली, भारत दुर्दशा, भारत जननी, नीलदेवी और सतीप्रताप आदि
3. सन् 1875 में
4. तत्कालीन भारत की दुर्दशा
5. प्रतीकात्मक
6. भारत, भारत दुर्दैव, रोग, आलस्य, अंधकार, निर्लज्जता और आशा, भारतभाग्य आदि।

12.2

1. वह अपने लावणी गायन के सहारे भारत के प्राचीन गौरवशाली इतिहास और वर्तमान दशा का वर्णन करता है।
2. छः अंक
3. मत-मतांतर की अधिकता, वर्ण व्यवस्था में आपसी खींचतान, बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध, वृद्ध विवाह, बहु विवाह और समुद्र यात्रा निषेध जैसे कई दोष
4. आलस्य, रोग, मदिरा और अंधकार आदि।

5. सभा का दृश्य पांचवें अंक में है।
6. नाटक के अंत में भारत भाग्य की आत्महत्या से दुखांत होता है।

12.3

1. आधुनिक
2. स्वतंत्रता पाने और सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना के लिए संघर्षरत
3. प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग

मॉडयूल-5

रंगमंच : तकनीक और अभिकल्पना

इस मॉड्यूल में रंगमंच तकनीक तथा अभिकल्पना से शिक्षार्थियों का परिचय करवाया गया है।

13. रंगमंच : परिचय तथा प्रकार

14. रंग संगीत

13

रंगमंच : परिचय तथा प्रकार

क्या आप रंगमंच कला के विषय में जानते हैं? यदि नहीं तो यह पाठ आपके लिए रुचिकर होगा। जब कोई रंगमंच के बारे में बात करता है तो अक्सर हम उसे अभिनय के प्रदर्शन से जोड़कर देखते हैं। यह सही भी है क्योंकि रंगमंच अभिनय के बिना अधूरा है। रंगमंच के साथ ही कुछ और भी संज्ञाओं को इसी संदर्भ में जोड़कर इस्तेमाल किया जाता है जैसे-नाटक, नाट्य, थियेटर, प्ले, ड्रामा, रूपक इत्यादि। लेकिन क्या आप जानते हैं कि इन शब्दों में कुछ मूलभूत अंतर है? इसे जानने के लिए हमें रंगमंच की संस्कृति को जानना-समझना बहुत ही जरूरी है। अक्सर हम फिल्मों से प्रभावित होकर अभिनय करने की राह चुनते हैं और इसकी शुरुआत रंगमंच के साथ करते हैं। ऐसे कई जाने-माने अभिनेता हैं जिन्होंने लंबे समय तक रंगमंच पर अभिनय किया है। ऊपरी तौर पर भले ही फिल्म और रंगमंच पर अभिनय एक सा लगे पर दोनो में ही कुछ तकनीकी अंतर है। इसे समझने के लिए हमें फिल्म और रंगमंच दोनो की ही प्रक्रिया को समझना आवश्यक होता है। इस पाठ में हम रंगमंच को जानने व समझने का प्रयत्न करेंगे। आप यहाँ रंगमंच के उद्भव व विकास के बारे में जानेंगे। इसके साथ ही हम यह भी चर्चा करेंगे कि रंगमंच का आदिकालीन स्वरूप क्या था? किस प्रकार भारत में नाट्यशास्त्र जैसे ग्रंथ की रचना की गई। इस बात पर भी बल दिया जाएगा कि आधुनिक रंगमंच कैसे आरंभ हुआ और उसकी क्या विशेषता है।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- रंगमंच का सामान्य परिचय जानते हैं;
- रंगमंच के उद्भव और विकास को जानते हैं;

- नाट्यमंडप को जानते हैं;
- आदिकालीन रंगमंच के स्वरूपों को जानते हैं;
- नाट्यशास्त्र में उल्लेखित रंगमंच को जानते हैं;
- रंगमंच के प्रकारों को जानते हैं; और
- समकालीन भारतीय रंगमंच का सामान्य परिचय जानते हैं।

13.1 रंगमंच का सामान्य परिचय

प्राय: नाटकों के प्रदर्शन के लिए हम रंगमंच शब्द का प्रयोग करते हैं। 'रंगमंच' मुख्यत: दो शब्दों से मिलकर बना है– रंग और मंच। यहाँ रंग, मंच की विशेषता बतलाने के संदर्भ में प्रयोग किया गया है। मंच का सामान्य अर्थ है– एक ऊँचा स्थान जहाँ पर खड़े होकर कोई अभिनेता नाटक की प्रस्तुति करता है। लेकिन जब मंच के साथ रंग विशेषण जुड़ जाता है तो यह एक विशेष अर्थ ग्रहण कर लेता है। रंग का सामान्य अर्थ है वर्ण (Colour)। इस तरह रंगमंच का अर्थ है– वह मंच जहाँ नाट्य प्रस्तुति की जाय। अभिनेता जब स्वयं को बाहर और भीतर से जीवन के विभिन्न रंगों (भावों) से रंगकर मंच पर उपस्थित होता है तो उस प्रदर्शन के साथ मंच रंगमंच बन जाता है। इसलिए भारतीय विद्वानों ने नाट्य प्रदर्शन के स्थान को रंगमंच कहा है। हमारे भारतीय रंगचिंतन परंपरा में रंगमंच शब्द केवल प्रेक्षागृह के लिए नहीं बल्कि उसके साथ-साथ पूरी प्रदर्शन प्रक्रिया के अर्थों को भी अपने आप में समाए हुए है।

आज हम 'रंगमंच' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी भाषा के शब्द Theatre के पर्याय के रूप में भी करते हैं जिसका अर्थ है– सीनरी स्पेस यानि दृश्य स्थल। Theatre शब्द का प्रयोग वास्तुकला के संदर्भ में उन स्थानों के लिए भी प्रयोग किया जाता है जहाँ एक ओर नाट्य प्रस्तुतियाँ की जाती हैं और दूसरी ओर दर्शकों के बैठने की व्यवस्था होती है। इस प्रकार रंगमंच को हम नाटक के लिए बनाए गए प्रेक्षागृह के संबंध में प्रयोग करते हैं।

आज वर्तमान युग में हम रंगमंच से जुड़े कई और शब्दों का भी प्रचलन देखते हैं जैसे-रंगकर्मी, रंगकलाकार, नाटक, नाट्य, ड्रामा, प्ले आदि। रंगमंच पर काम करने वाला प्रत्येक कलाकार रंगकर्मी कहलाता है चाहे वह अभिनेता हो, निर्देशक हो या फिर बैक स्टेज में काम करने वाला। नाटक वह है जिसे एक नाटककार प्रस्तुति के लिए स्क्रिप्ट के रूप में तैयार करता है। अंग्रेजी में इसके लिए ड्रामा शब्द का प्रयोग किया जाता है। रंगमंच: परिचय तथा प्रकार जब वह स्क्रिप्ट प्रदर्शित होती है तो उसे नाट्य कहा जाता है। अंग्रेजी में उसे प्ले कहते हैं। इस प्रकार वर्तमान में जब हम 'रंगमंच' कहते हैं तो उसका मतलब नाटक के प्रदर्शन की पूरी प्रक्रिया से होता है।

रंगमंचः प्रेक्षागृह

भारतीय प्राचीन साहित्य में 'रंग' शब्द का प्रयोग कई जगहों पर मिलता है। आचार्य भरत नें 'नाट्यशास्त्र' में 'रंग' शब्द का कई बार प्रयोग किया है। 'रंग' शब्द के प्रयोग से ही रंगशीर्ष, रंगपीठ, रंगभूमि संस्कृत में उत्पन्न हुए। इस संदर्भ में 'रंग' का अर्थ आमोदस्थली, सभाभवन, नृत्यगान और अभिनय दिया गया है। यह जरूर है कि आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में रंगमंच शब्द नहीं मिलता और ना ही बाद के नाट्य विषय में लिखे गए ग्रंथों में।

वास्तव में ब्रिटिश शासन के दौरान अंग्रेजों द्वारा अपने मनोरंजन के लिए कई ऑडिटोरियम बनाए गए जिनमें ऑपेरा की प्रस्तुतियाँ हुआ करती थीं। इन ऑडिटोरियम को थियेटर कहा जाता था। बाद में इन प्रेक्षागृहों में रहकर नाट्य मंडली निरंतर प्रस्तुति करने लगी। पारसी थियेटर ने भी आरंभ में प्रेक्षागृह में अपनी प्रस्तुतियाँ कीं किंतु बाद में उन्होंने देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में अपनी प्रस्तुति करनी शुरू कीं। एक स्थायी ऑडिटोरियम के बजाय उन्होंने अस्थायी रंगमंच बनाए। इस तरह धीरे-धीरे ऑडिटोरियम के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला जीमंजतम हिंदी में 'रंगमंच' संज्ञा से अब नाट्य प्रस्तुति के पूरे प्रदर्शन के लिए प्रयोग किया जाने लगा।

रंगमंचः प्रदर्शन कला

कोई भी नाटक रंगमंच पर ही पूर्णता को प्राप्त करता है। आज 'रंगमंच' या जीमंजतम शब्द के लिए 'नाटक' शब्द भी प्रचलित है। 'नाटक' सामान्यतः 'नट' धातु से उत्पन्न माना जाता है। 'नट' का अर्थ नाचना, अभिनय करना और अनुकरण करना भी माना गया है। 'नट' का एक अर्थ अभिनेता भी है। इसी 'नट' से ही 'नाट्यम्' शब्द भी बना है जिसका अर्थ नाचना, अनुकरणात्मक चित्रण, स्वांग भरना, हाव-भाव प्रदर्शन और अभिनय करना है। इसी से बने 'नाटकम्' अथवा नाटक शब्द का अभिप्राय बनता है-ऐसी काव्य रचना जिसका अभिनय किया जाता है।

आज हम जिस रंगमंच को जानते हैं वह केवल प्रेक्षागृह के बोध तक ही सीमित नहीं है। अगर हम लोक नाटकों की ओर देखें तो ऐसे कई नाट्य हमें दिखाई देते हैं जो एक सुसज्जित प्रेक्षागृह की अपेक्षा समाज के बीच गली नुक्कड़ और मेलों में होते हैं। ऐसे में 'रंगमंच' का सीधा संबंध प्रदर्शन कला से स्थापित होता है। रंगमंच अर्थात एक ऐसी कला जिसमें एक नाट्य मंडली नाटक का प्रदर्शन करती है जिसमें नाटककार, अभिनेता, निर्देशक, डिजायनर और नेपथ्य के कलाकार होते हैं।

13.2 रंगमंच का उद्भव और विकास

मनुष्य और कला का रिश्ता सृष्टि के जन्म की कहानी से बहुत गहराई से जुड़ा है। सृष्टि की सबसे सुंदर और कलात्मक कृति है- मनुष्य। और समय के साथ-साथ उन्नति करते हुए इसी

मनुष्य ने रंगमंच जैसी कला को जन्म दिया है। यह तो अवश्य है कि रंगमंच की परंपरा एकाएक आरंभ नहीं हुई बल्कि मनुष्य जीवन के विकास के साथ धीरे-धीरे विकसित हुई है। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि समस्त कलाओं का समन्वित रूप रंगमंच है। ऐसे में सभी कलाओं, शिल्पों आदि के जन्म लेने व कुछ विकसित होने के बाद ही रंगमंच प्रकाश में आया होगा। इसमें कोई संदेह नहीं है।

दैवीय अवधारणा

अगर साहित्य को आधार बनाएँ तो 500 सदी ईसा पूर्व आचार्य भरत द्वारा लिखे गए नाट्यशास्त्र में नाट्योत्पत्ति की कथा सामने आती है। जिसमें उल्लेख है कि ब्रह्माजी नें चारों वेदो के तत्वों से पंचमवेद अर्थात नाट्य की सृष्टि की हैं। इससे हमें पता चलता है कि वेदों की रचना के बाद नाट्य की उत्पत्ति हुई है। इस कथा के अनुसार- जब सतयुग बीत चुका था और त्रेतायुग प्रारंभ हो चुका था और प्रजा काम और लोभ के वशीभूत ग्राम्य धर्म में प्रवृत्त होने लगी थी। तब इन्द्र आदि देवताओं ने पितामह ब्रह्माजी से निवेदन किया कि हे देव! हम ऐसा मनोविनोद का साधन चाहते हैं जो देखने तथा सुनने योग्य हो। देवताओं को 'एवमस्तु' कह और इन्द्र को विदा कर ब्रह्माजी ने चारों वेदों का स्मरण किया। ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय व अथर्ववेद से रस ग्रहण कर नाट्यवेद की रचना की। नाट्यवेद की उत्पत्ति के बाद ब्रह्माजी ने इंद्र से इसे प्रयोग करने को कहा किंतु देवराज इंद्र ने नाट्य प्रयोग को ग्रहण करने, धारण करने व प्रयोग करने में देवताओं को अक्षम बताकर किसी ऐसे ऋषि को दिये जाने की प्रार्थना की जो इसके प्रयोग में समर्थ हो। तब ब्रह्माजी जी ने भरत मुनि से कहा कि आप इसका प्रयोग करें। ब्रह्माजी से आज्ञा पाकर भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रों के साथ इसका प्रयोग किया। इस प्रकार नाट्य की उत्पत्ति हुई।

आधुनिक अवधारणा

आधुनिक अवधारणा के अनुसार- पहले मनुष्य अस्तित्व में आया। इसके बाद उसकी आवश्यकताओं ने समाज की नींव रखी। पहले परिवार, फिर घर, भोजन, कृषि, प्राकृतिक

शक्तियों पर आस्था, कर्मकांड, अनुष्ठान, धर्म और तत्पश्चात कला आई। इसके साथ ही रंगमंच ने सहज रूप में अपना आकार लिया। रंगमंच के उद्भव की कहानी यहीं से आरंभ होती है।

आधुनिक अवधारणा में रंगमंच की उत्पत्ति के बिंदु मानव सभ्यता के विकास के साथ तलाशे गए हैं। हम जानते हैं कि पुरापाषाण काल तक आते-आते मनुष्य का समाज कबीले के रूप में विकसित हो चुका था। जंगली जानवरों का शिकार भूख मिटाने का प्रमुख माध्यम था। वे शिकार करते थें और पूरा कबीले के साथ उसे पकाकर खाते। यही परिस्थिति सामूहिक रूप से अभिव्यक्ति का माध्यम बना और यहीं कला प्रदर्शन ने जन्म लिया। इस दौर में मनुष्य के पास आज की तरह भाषा नहीं थी, वह केवल ध्वनियों और शारीरिक हाव-भाव से अपनी अभिव्यक्ति किया करता था। रंगमंच पर अभिनय की शुरुआत उस दिन हुई होगी जब आग के चारों ओर बैठे कबीले के लोगों ने अपने अनुभवों को एक दूसरे से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया होगा। शिकार की पूरी घटना को अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत किया होगा। एक व्यक्ति शिकारी बना होगा और दूसरा शिकार। इसी के साथ रंगमंच की अवधारणा विकसित हुई होगी। शनैः-शनैः अभिव्यक्ति और प्रदर्शन की यह घटना शिकार नृत्य, आदिमजातीय अनुष्ठानों के रूप में विकसित हुई। अगर हम आज भी बस्तर व अन्य जनजातीय इलाकों में होने वाले नृत्यों को देखें तो इस बात की पुष्टि हो जाती है।

कृषि के साथ मानव सभ्यता में भारी परिवर्तन आया। शिकार के स्थान पर खेती उनका मुख्य व्यवसाय हो गया और इसी के साथ लोक कलाओं का उदय हुआ। संस्कार, नृत्य, गीत, चित्रकला, कथा, गाथा आदि विकसित हुए। इसी काल में रंगमंच एक स्वतंत्र कला के रूप में अस्तित्व में आया। 'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ में हमें इसी स्वतंत्र रंगमंच कला के बारे में पता चलता है।

13.3 नाट्यमण्डल

नाट्यमण्डप एक ऐसा स्थल होता है जहाँ नाटकों का प्रदर्शन किया जाता है। इसकी योजना इस प्रकार की जाती है कि नाट्यदल सुविधापूर्वक अपने कार्यों को संपन्न कर सके व दर्शक भी दर्शक दीर्घा में बैठकर नाटक को भली-भांति देख व सुन सके। इसे प्राय: प्रेक्षागृह, नाट्यगृह, ऑडिटोरियम व रंगमंच के नाम से भी जाना जाता है। यहाँ हम भारतीय प्राचीन नाट्यमण्डप व वर्तमान में प्रचलित नाट्यमंडपों के विषय में जानेंगे।

नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रेक्षागृह

अभिनेता द्वारा मंच पर अभिनय प्रदर्शन किया जाता है। प्रभावी प्रदर्शन हेतु दृश्यता व श्रवणता को ध्यान में रखते हुए आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' के दूसरे अध्याय में नटों द्वारा अभिनय हेतु प्रयोग किये जाने वाले प्रेक्षागृह का विस्तृत वर्णन किया है। भरत ने मापन के आधार पर इन्हें- ज्येष्ठ, मध्यम व कनिष्ठ में वर्गीकृत कर उनके निर्माण के विधि-विधान का उल्लेख किया है। रंगशाला हेतु रंगभूमि का चयन, उसका मापन, मंच व दर्शक दीर्घा की योजना, भूमि पूजन विधि आदि पर प्रकाश डाला है। इसी के आगे वे तृतीय अध्याय में रंगपूजन की विधि बतलाते हैं।

आचार्य भरत ने तीन प्रकार के नाट्यमंडपों के विषय में बतलाया है:

1. विकृष्ट (अर्थात आयताकार)
2. चतुरस्त्र (अर्थात वर्गाकार)
3. त्रयस्त्र (अर्थात त्रिभुजाकार)

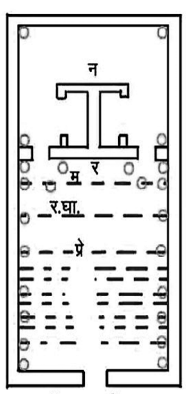

पूर्व विकृष्ट

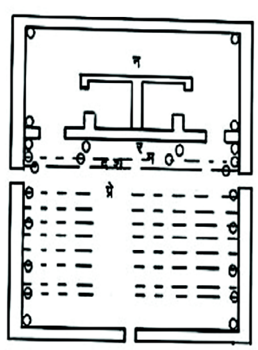

पूर्व 2 चतुरस्त्र(वर्गाकार)

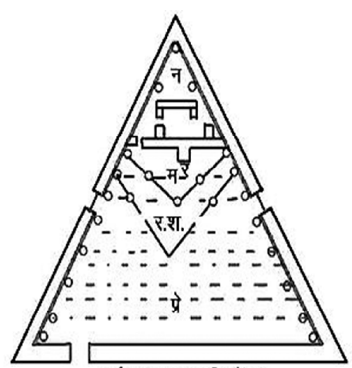

पूर्व 3 अयस्त्र (तिकोना)

इसके पश्चात उन्होंने पुन: इन तीनों के तीन-तीन भेद किये हैं-

1. ज्येष्ठ
2. मध्यम
3. अवर

नाट्यशाला को मध्य से विभाजित कर आधा भाग दर्शकों के लिए 'प्रेक्षागृह' तथा अन्य आधे भाग में 'रंगमण्डप' का विधान बतलाया गया है। नाट्य मंडप के पिछले भाग में 'नेपथ्य' होता था। नेपथ्य के आगे 'रंगपीठ' व 'रंगशीर्ष' होता था। नेपथ्य से मंच पर आने-जाने हेतु दरवाजे होते थें। मंच के दायें-बायें 'मत्तवारिणी' की स्थापना की जाती थी। दर्शक दीर्घा की रचना 'सीढ़ीनुमा' बनाई जाती थी ताकि दर्शक दृश्य को अच्छी तरह से देख व सुन सकें।

आधुनिक रंगमंच में प्रचलित नाट्यगृह

आधुनिक रंगमंच में नाट्य मंडप को लेकर भी कई प्रयोग हुए। आजकल अनेक प्रकार के मंचों का चलन है। आधुनिक रंगमंच के साथ ही मुक्ताकाशी (खुले आकाश के नीचे बने प्रेक्षागृह), प्रोसीनियम थियेटर, स्टूडियो थियेटर, चक्रिल रंगमंच, कहीं-कहीं सड़क नुक्कड़ पर बिना किसी मंच के नाटक और प्रायोगिक रंगमंच का प्रचलन शुरू हुआ। उदाहरण के लिए- भारतेंदु हरिश्चंद्र का नाटक 'अंधेर नगरी' प्रेक्षागृह में पूरे उपकरण के साथ भी प्रदर्शित हुआ है, मुक्ताकाशी मंच पर भी हुआ है और सड़कों पर राह चलते लोगों के बीच भी। बादल सरकार का 'जुलूस' नाटक भी इसी प्रकार रंगशालाओं के अतिरिक्त मैदानों और और नुक्कड़ो पर अधिक सफलता से मंचित हुआ। नाटक 'होरी' का मंचन सचमुच के खेत और झोंपड़ी आदि बनाकर मुक्ताकाशी में हुआ। पुराने किले के खंडहरों में- 'अंधा युग', 'तुगलक' 'रजिया सुल्तान' आदि नाटक मुक्ताकाशी मंच पर प्रकाश, ध्वनियों व सभी उपकरणों से युक्त होकर सफलता के साथ मंचित हुए हैं। फिरोजशाह कोटला के ऐतिहासिक मैंदानों भी 'अंधायुग' का सफल प्रदर्शन हुआ।

वर्तमान में प्रयोगधर्मी रंगमंच का प्रभाव शनैः-शनैः बढ़ रहा है। पुराने परंपरागत साज-सज्जा का जमाना समाप्त हो गया है। रंगोपकरणों के बिना भी मंच पर मात्र अभिनय से नाटक प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

13.4 आदिकालीन रंगमंच का स्वरूप

जैसा हमने पूर्व में रंगमंच की उत्पत्ति के संबंध में प्रचलित दैवीय उत्पत्ति और आधुनिक अवधारणा में जाना कि किस प्रकार मनुष्य के प्रागैतिहासिक सभ्यता के साथ-साथ कला के उद्‌भव के बीज तलाशे गए हैं। क्या रंगमंच अपने आदिम स्वरूप में ही एक स्वतंत्र कला के रूप में अस्तित्व में आया? संभवतः नहीं। रंगमंच अपने पूर्ण आकार में बहुत बाद में आया। अब प्रश्न यह उठता है कि फिर आदिकालीन रंगमंच का स्वरूप कैसा था? इसे वैज्ञानिक सोच के साथ जाना-समझा जा सकता है। इसे समझने के लिए एकमात्र आधार है- हमारी जनजातीय

कलाएँ। जी हाँ, विश्व के विविध जनजातीय सभ्यताओं में प्रचलित नृत्य, संगीत और चित्रकलाओं के माध्यम से हम आदिकालीन रंगमंच की कल्पना कर सकते हैं। यहाँ हम कुछ विशेष बिंदुओं की चर्चा करने जा रहे हैं जिससे आप इस बात को समझ सकेंगे।

शिकार नृत्य

उस समय की कल्पना करिए जब आदि मानव गुफाओं में रहा करता था और अपनी भूख मिटाने के लिए गुफाओं से निकलकर शिकार करता था। शिकार के लिए उसने पत्थरों, लकड़ियों और जानवरों की हड्डियों से हथियार बनाए। इन हथियारों से वह आसानी से शिकार कर सकता था। धीरे-धीरे समय बीतता गया और अब वह गुफाओं से निकलकर समूह में रहने लगा। उसने जंगलों में अपनी झोपड़ी बनाई और परिवार के साथ रहने लगा। समूह का एक विशेष दल जो युवा था वह शिकार के लिए जाता और उसके द्वारा लाए गए शिकार से कबीले के वृद्ध और बच्चे अपनी भूख शांत करते। शिकार पर जाने के पूर्व वे विजय का अनुष्ठान करते। जानवरों की नजर से बचने के लिए वे उनकी 'खाल' व 'मुखौटों' का प्रयोग करते। बच्चों को शिकार में दक्ष बनाने और अपने मनोरंजन के लिए वे शिकार नृत्य करते। हमें भीमबेठका के शैल गुहा में कई ऐसे शैल चित्र मिलते हैं जो इस तथ्य को पुष्ट करते हैं। बस्तर आदि क्षेत्रों में आज भी प्रचलित शिकार नृत्य को देखा जा सकता है। संभव है इसी परिवेश में रंगमंच की अनायास उत्पत्ति हुई होगी जिसका स्वरूप नृत्य मूलक रहा होगा।

कल्पना कीजिए कि एक दिन शिकारी दल ने किसी विशालकाय जानवर का शिकार किया होगा। शिकार करते हुए कई शिकारी हताहत हुए होंगे। यह घटना आश्चर्यचकित कर देने वाली रही होगी। शिकारी दल उस जानवर को लेकर कबीले में आए होंगे। आग में उस जानवर को पकाते हुए जब सभी कबीले के लोग आग की रोशनी के इर्द-गिर्द बैठे रहे होंगे तब कबीले के किसी व्यक्ति ने जिज्ञासावश उस घटना के बारे में जानने की इच्छा व्यक्त की होगी। शिकारी दल के व्यक्ति ने उस घटना का अभिनय कर कबीले के सामने वह पूरी कहानी व्यक्त की होगी। एक व्यक्ति शिकारी बना होगा और दूसरा जानवर। इस तरह अभिनय कला

टिप्पणी

ने जन्म लिया होगा। उत्साह में आकर कुछ व्यक्तियों ने लकड़ी, हड्डी, पत्थर आदि बजाकर ताल दिया होगा। अभिनेता बने शिकारी ने उस ताल पर नृत्य करते हुए अभिनय किया होगा। यह एक ऐसी अप्रत्याशित प्रदर्शन रहा होगा जिसने दर्शकों को रोमांचित कर दिया होगा।

अनुकरण

अरस्तू ने रंगमंच को 'आर्ट ऑफ इमिटेशन' कहा है। अनुकरण करना मानव स्वभाव का एक प्राकृतिक गुण है। जब मनुष्य जन्म लेता है तो वह अपने आसपास के वातावरण को देख-सुनकर सीखता है। आदिमानव ने भी अपने आसपास के वातावरण को देखा होगा, जानवरों का अनुकरण कर उनके जैसी हरकतें की होंगी। उसे इस कार्य में आनंद आया होगा। रंगमंच के आरंभ से जुड़ी हुई जिस 'शिकार' की कहानी का उल्लेख हमने ऊपर किया वह भी इसी अनुकरण की भावना से जन्मी थी।

धार्मिक भावना

जीवन के संघर्षों से जूझते हुए जब कभी मनुष्य आगे प्रगति की कामना करता है तब वह ईश्वर की ओर उन्मुख होता है। इसके साथ ही वह अपनी धार्मिक भावना को नृत्य, संगीत आदि के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। रंगमंच भी अनायास इस अभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम बनता है। आदिमानव ने भी इसी तरह प्राकृतिक शक्तियों के समक्ष अपना सिर नवाया। विजय की कामना, सुरक्षा की भावना, प्रकृति के क्रोध को शांत करने आदि के लिए अनुष्ठान का मार्ग अपनाया। पूजा नृत्य, बलि, जादू-टोना जैसे कर्मकाण्ड आदिम समाज में उपजें और उसे संपन्न कराने वाले पुरोहित अस्तित्व में आयें। अपने देवता को प्रसन्न करने के लिए इन धार्मिक अनुष्ठानों में समूह नृत्य भी किये जाने लगे। यदि हम आदिवासी नृत्यों को देखें तो उसमें मिलने वाले 'बैगा' चरित्र इसी ओर संकेत करते हैं। कालांतर में यही भावना रंगमंच के लिए भी कथानक का आधार बनी।

कृषि

मानव सभ्यता विकसित हुई और इसी के साथ मनुष्य जंगलों से निकलकर मैदानों में आ गया। उसने कृषि कर फसलों का उत्पादन करना सीखा। जैसे-जैसे कृषि का महत्व उसके जीवन में बढ़ने लगा उसने उससे जुड़े हुए नृत्य, गीत उत्सवों का विकास किया। मौसमों के बदलने पर भी वह उत्सव मनाने लगा। फसलों को बोने व काटने के समय किये जाने नृत्य उत्सवों को आज भी हम लोक में देख सकते हैं। वास्तव में यह दौर लोक के उदय का था। आज भी हम इस उत्सवधर्मिता को देख सकते हैं। छत्तीसगढ़ में 'हरेली' और उड़ीसा में 'नुवाखाई' एक ऐसा ही उत्सव है जो फसलों के बोने व काटने के समय मनाया जाता है।

इस प्रकार हमें आदिकालीन रंगमंच के दो रूप दिखाई देते हैं- आदिम रंगमंच और लोक रंगमंच।

टिप्पणी

पाठगत प्रश्न 13.1

1. रंगमंच से आप क्या समझते हैं?

....

2. नाट्यशास्त्र की रचना कब की गई?

....

3. नाट्यशास्त्र की रचना किसने की है?

....

4. नाट्यशास्त्र में कितने प्रकार के प्रेक्षागृह बतलाए गए हैं?

....

5. प्रेक्षागृह के प्रमुख अवयव कौन-कौन से हैं?

....

6. दिल्ली के पुराने किले में कौन से नाटक किये गए थे?

....

7. आधुनिक प्रेक्षागृह की क्या विशेषता है?

....

8. नाट्योत्पत्ति की कौन सी अवधारणाएँ प्रचलित हैं?

....

9. किसने रंगमंच को 'आर्ट ऑफ इमिटेशन' कहा है?

....

10. आदिकालीन रंगमंच में अनुकरण की क्या भूमिका है?

....

टिप्पणी

11. रंगमंच के विकास में धार्मिक भावना का क्या योगदान है?

....

12. आदिकालीन रंगमंच का स्वरूप कैसा था?

....

13. आदिकालीन रंगमंच को कितने वर्गों में बाँटा गया है?

....

13.5 नाट्यशास्त्र में उल्लेखित रंगमंच

समाज को तो अभिव्यक्ति भी होने लगी। सुख, दु:ख, ईर्ष्या, छल, कपट जैसे मनोविकार भी पैदा हुए। सामूहिक उल्लास ने उत्सवधर्मी आयोजनों को जन्म दिया और व्यक्ति नाचने लगे, गाने लगे, अभिनय करने लगे। यह परंपराएँ सदियों तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहीं। आज भी देश में प्रचलित जनजातीय कलाएँ-नृत्य, गीत, संगीत, नाट्य इन्हीं परंपराओं के चिन्ह सजोए हुए हैं।

नाट्यशास्त्र की रचना भारतीय रंग परंपरा की एक महत्वपूर्ण घटना है। कई हजार वर्ष पूर्व की नाट्य परंपरा का समुचित रूप इस ग्रंथ में लिखा गया है। यह एक ऐसा ग्रंथ है जो आज भी अभिनेताओं व रंगकर्मियों के लिए अत्यंत व्यवहारिक है।

इतिहास-पुराण, वेद, उपनिषद, महाकाव्य व अन्य साहित्यों व पुरातात्विक साक्ष्य स्पष्ट रूप से इस ओर इशारा करते हैं कि ईसा से कई शताब्दियों पूर्व रंगमंच कला पूरी तरह विकसित हो चुकी थी। यक्ष, किन्नर, गंधर्व, नट, नर्तक, सूत, मागध, ग्रंथिक, चारण, कुशीलव आदि जातियों ने इस कला को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन जातियों ने गायन, वादन, नर्तन, कथा-वाचन, कथा-प्रदर्शन के नाटकीय प्रदर्शनो को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संजोया। इस नाट्य प्रदर्शन की समृद्धशाली, आकर्षक और सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित कला ने ऋषियों, मुनियों और आचार्यों को इसे शास्त्र रूप प्रदान करने हेतु प्रेरित किया।

वास्तव में नाट्यशास्त्र केवल नाट्यकला ही नही अपितु गायन, वादन, नर्तन सदृश कई कलाओं का विवेचन ग्रंथ है। 'पंचमवेद' की संज्ञा से प्रचलित इस शास्त्र में स्वयं आचार्य भरत इसके महत्व पर कहते हैं-

न तच्छास्त्रं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न तत्कर्म न योगोऽसौ नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

वस्तुत: इसमें एक ऐसी समृद्ध और सम्पन्न रंगमंच परंपरा संकलित की गई जो कालांतर में हजारों वर्षों तक भारतीय रंगमंच में प्रदर्शन का आधार बनी। अभिनय के पूरक तत्वों जैसे- रंगमंडप, अभिनय- आंगिक, वाचिक, आहारिक व सात्विक, वृत्ति, प्रवृत्ति, रस, आतोद्य, ध्रुवागान, सिद्धि, पात्र प्रकृति, गान आदि विषयों पर आचार्य भरत ने विस्तार से प्रकाश डाला है।

किसी भी कला रूप पर चिंतन की प्रक्रिया का आरंभ तभी संभव है जब वह विधा पूर्ण रूपेण विकसित व उसकी परंपरा संपन्न हो। इस सम्पन्नता के पश्चात ही किसी शास्त्र का निर्माण होता है। इस प्रकार दो महत्वपूर्ण धाराएँ- प्रदर्शन परंपरा और उन्हें आधार बनाकर ग्रंथों आदि की रचना प्रचलित हुई। प्रदर्शन की परंपरा तो अबाध रूप से गतिमान थी किंतु नाट्यशास्त्र की रचना ने उन पर हो रहे चिंतन को और भी प्रबल बना दिया। फलत: जहाँ एक ओर संस्कृत नाटकों का लेखन और प्रदर्शन हुआ वहीं दूसरी ओर नाट्यशास्त्र को आधार मानकर तत्कालिक रंग परंपरा पर चिंतन भी होता रहा और अनेकों ग्रंथ, भाष्य और टीकाएँ लिखी जाती रहीं।

13.6 रंगमंच के प्रकार

भारत विविधताओं का देश है। यहाँ कई जाति, धर्म, भाषा व संस्कृति के लोग निवास करते हैं। यही कारण है कि हमें नृत्य, गीत, संगीत आदि कलाओं के विविध रूपों के दर्शन होते हैं। यदि हम भारतीय रंगमंच के प्रकारों की चर्चा करें तो हमें पता चलता है कि भारतीय रंगमंच की अपनी एक महान परंपरा है जो विविधताओं से भरी हुई है। कालक्रम के अनुसार रंगमंच के निम्नलिखित प्रकार दिखाई देते हैं:-

- **संस्कृत रंगमंच**

  जैसा कि हमने पूर्व में नाट्यशास्त्र में वर्णित रंगमंच की चर्चा की है। इस ग्रंथ में हमें रूपक के दस प्रकारों की चर्चा मिलती है- नाटक, प्रकरण, भाण, अंक, प्रहसन, वीथी, ईहामृग, व्यायोग, समवकार और डिम। इन प्रकारों में कथावस्तु, नेता और रस के आधार पर भिन्नता है। इसके साथ ही नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत 18 उपरूपकों की भी चर्चा करते हैं। संस्कृत रंगमंच के इन प्रकारों का प्रचलन नवीं शताब्दी तक मिलता है।

- **लोक रंगमंच**

  संस्कृत रंगमंच के पतन के उपरांत हमें लोकनाटकों का प्रचलन मिलता है। इन लोकरंगमंच को निम्न श्रेणियों में बांटा गया है- (1) मंदिर आश्रित (वह लोकरंगमंच जो मंदिरों के गर्भगृह में किया जाता था। जैसे- कुड़ियट्टम, अंकिया भाओना आदि।) (2) लीला नाट्य (वह लोकनाट्य जो राम व कृष्ण की लीलाओं पर आधारित थें। जैसे- रामलीला, रासलीला।) (3) सामाजिक नाट्य- इस श्रेणी के अंतर्गत वे लोकनाट्य आते हैं जिनकी कथावस्तु सामाजिक होती है। जैसे- स्वांग, नौटंकी, नाचा आदि।

टिप्पणी

- **पारसी रंगमंच**

बंबई से शुरू हुए पारसी रंगमंच ने कलकत्ता और दिल्ली को अपना केन्द्र बनाया था। आरंभ में पारसी रंगमंच साधनविहीन था किंतु धीरे-धीरे उन्होंने आवश्यक संसाधन जुटा लिये। इन नाटक कंपनियों के पास अद्‌भुत विशेष प्रभाव उत्पन्न करने वाले यंत्र हुआ करते थें। इनके द्वारा देवों को हवा में उड़ते हुआ दिखाया जाता था, हीरो को महल की दीवार से नदी में छलांग लगाते हुए दिखाया जाता था, परियों को आकाश से उतरते हुए दिखाया जाता था। प्रभाव उत्पन्न करने के इस तकनीक ने दर्शकों को चमत्कृत कर दिया। इन आकर्षक प्रभावों को देखने लोग टिकट लेकर जाया करते थे। भारतीय दर्शकों के लिये ये विलग अहसास था।

पारसी नाटक कंपनी में निर्देशक, नाटककार, अभिनेता, डिजायनर आदि वैतनिक रूप से रखे जाते थें। स्त्री पात्रों का अभिनय पुरुष अभिनेता ही किया करते थे। बाद में इसके प्रसिद्धि को देखते हुए नर्तकियों और वेश्याओं ने भी भाग लेना आरंभ किया। अपरे आरंभिक काल में इन कंपनियों ने शेक्सपियर के नाटकों को अंग्रेजी, गुजराती भाषा में प्रस्तुत किया। बाद में हिंदी, उर्दू और फारसी मिश्रित हिंदुस्तानी भाषा का प्रयोग होने लगाा। इनके संवादों में शेरो-शायरी, सशक्त कार्यव्यापार के कारण चुस्ती दुरुस्ती हुआ करती थी। नाटकों में हास्य कथा भी नियोजित हुआ करती थी। नाटक अंकों में विभक्त होते थे।

- **आधुनिक रंगमंच**

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से आधुनिक रंगमंच का दौर दिखाई देता है। जिसमें नाटकों के विषय आम आदमी से जुड़े और इसके साथ ही प्रदर्शन की यथार्थवादी, अयथार्थवादी व प्रायोगिक पद्धति का प्रयोग किया जाने लगा।

यदि हम प्रस्तुति शैली के आधार पर देखें तो रंगमंच को कुछ इन प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है:-

- **नृत्य प्रधान रंगमंच**

यह रंगमंच का एक ऐसा प्रकार है जिसमें अभिनेता होने के लिए पहली शर्त है कि वे अच्छे अभिनेता हों। प्राय: इस हम कुड़ियट्टम, तेरुकुत्तु, यक्षगान आदि लोकनाट्यों को देखकर समझ सकते हैं। साथ ही नर्तकों द्वारा किया जाने वाला डांस ड्रामा भी इसी श्रेणी में आता है।

- **संगीत प्रधान रंगमंच**

रंगमंच की इस प्रस्तुति शैली में वह रंगमंच आता है जिसमें अभिनेताओं के द्वारा संवादों की अदायगी प्राय: गेय होती है। इसे म्यूजिकल ड्रामा भी कहा जाता है। उदाहरण के तौर पर नौटंकी को हम देख सकते हैं।

- **नुक्कड़ शैली**

रंगमंच की यह शैली बीसवीं शताब्दी के मध्य में अस्तित्व में आयी। इस शैली में प्राय: नाटकों की प्रस्तुति गली, नुक्कड़, चौराहों में की जाती है। इसका मुख्य उद्देश्य लोगों को जागरुक करना होता है। सफदर हाशमी इस शैली के चर्चित रंगकर्मी हैं।

- **रेडियो नाटक**

यह रंगमंच की एक ऐसी प्रस्तुति शैली है जिसमें शारीरिक अभिनय की अपेक्षा वाचिक अभिनय पर विशेष बल दिया जाता है। इसमें अभिनेता अपने वाचन व पार्श्व संगीत के माध्यम से चरित्रों को श्रोताओं की कल्पना में जीवंत कर देता है। 'अंधायुग' नाटक धर्मवीर भारती द्वारा इसी शैली के लिए लिखा गया था।

- **मूक नाटक**

मूकनाटक अर्थात माइम रंगमंच की एक ऐसी प्रस्तुति शैली है जिसमें अभिनेता वाचन की अपेक्षा शारीरिक क्रियाओं पर विशेष बल देता है। इसमें संवाद नहीं होते केवल ध्वनियों, संगीत और आंगिक अभिनय से कहानी को मंच पर प्रस्तुत किया जाता है।

- **एकल**

इस प्रस्तुति शैली में मंच पर केवल एक अभिनेता प्रस्तुति करता है। वह स्वयं ही विभिन्न चरित्रों की भूमिका अदा करता है।

- **प्रायोगिक रंगमंच**

रंगमंच की इस शैली में किसी एक पद्धति का प्रयोग नहीं होता बल्कि रंगमंच के अवयवों को लेकर प्रयोग किये जाते हैं। कभी मंच को लेकर तो कभी रचना को लेकर। कभी अभिनय को लेकर तो कभी डिजाइन को लेकर। उदाहरण के लिए- इब्राहिम अल्काजी ने मंच को लेकर कई प्रयोग किये। 'कहानी का रंगमंच' में प्रो. देवेन्द्रराज अंकुर द्वारा रंगमंच के अन्य अवयवों को अस्वीकार किया गया तो बंसी कौल द्वारा विदूषकीय शैली में डिजाइन व अभिनय को लेकर प्रयोग किया गया। बादल सरकार द्वारा किया गया प्रयोग 'तीसरा रंगमंच' नुक्कड़ नाटक भी प्रायोगिक रंगमंच में उल्लेखनीय है।

टिप्पणी

पाठगत प्रश्न 13.2

1. नाट्यशास्त्र किस प्रकृति का ग्रंथ है?

   ....

2. किन-किन जातियों ने नाट्यशास्त्र के पूर्व रंगमंच को विकसित किया?

   ....

3. नाट्यशास्त्र में रंगमंच के किन अवयवों की चर्चा है?

   ....

4. नाट्यशास्त्र की कौन-कौन सी धारा प्रचलित हुई?

   ....

5. नृत्य नाटक क्या है?

   ....

6. नौटंकी किस प्रकार का रंगमंच है?

   ....

13.7 आधुनिक रंगमंच

भारत में आधुनिक रंगमंच का वातावरण बीसवीं शताब्दी के आरंभ मे ही तैयार किया जा रहा था। राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत साहित्य लिखा जा रहा था। भारतीय रंगमंच में इस भावना को सशक्त बनाने की दिशा में निरंतर प्रयास किये जा रहे थे। क्षेत्रीय रंगमंच के अध्ययन से भी यह बात पुष्ट होती है। पश्चिम सभ्यता का अंधानुकरण और बाद में पश्चिमी अनुकरण से प्रेरित स्वदेशी भावना के प्रति विशेष प्रेम इस बात की द्योतक हैं।

भारतीय रंगमंच के इतिहास में स्वतंत्रता संग्राम ने विशेष प्रभाव डाला। जब पूरे भारत में 1940-47 के दौरान भारतीय स्वतंत्रता प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर थे, तभी 1943 में भारतीय जन नाट्य संघ की स्थापना हुई। इस संस्था ने रंगमंच के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसी दौर में पारसी रंगमंच और फिल्म के ख्यात अभिनेता पृथ्वीराज कपूर ने पृथ्वी थियेटर्स के नाम से अपनी यायावर मंडली (1944-60) बनाई और यथार्थवादी शैली के

टिप्पणी

सुधारवादी नाटकों में पारसी रंगशैली का अभिनव प्रयोग करते हुए पारसी के अतिनाटकीय तत्व को नियंत्रित किया।

बीसवीं सदी के पाँचवे दशक में केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी (1954) द्वारा आयोजित गोष्ठियों व समारोहों नें रंगमंच का धरातल तैयार किया और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (1959) के प्रदर्शनों ने हिंदी रंगमंच को गति प्रदान की। इस संस्था से प्रशिक्षित रंगकर्मियों ने देश के विभिन्न राज्यों में जाकर अपनी मंडलियाँ बर्नाइं और रंगशिविरों का आयोजन कर रंगमंच को सुदूर क्षेत्रों में सक्रिय किया। थियेटर यूनिट (1954 बंबई), अनामिका (1955, कलकश्रा) नया थियेटर (1959, दिल्ली) जैसी मंडलियाँ आधुनिक रंगदृष्टि से रंगमंच में अभूतपूर्व योगदान दिया।

हबीब तनवीर का 'आगरा बाजार' भी इसी दशक में चर्चित हुआ। इसके प्रदर्शनों ने टोटल थियेटर की अवधारणा को चर्चा का विषय बना दिया और पारंपरिक नाट्य रूपों की प्रासंगिकता को उभारा। इसी दशक में सत्यदेव दुबे ने थियेटर यूनिट के लिए अंधायुग (1962) किया। आषाढ़ का एक दिन (1964), सुनो जन्मेजय (1966), शुतुरमुर्ग (1968), आधे अधूरे (1969), एवम् इंद्रजीत (1970) जैसी कालजयी प्रस्तुतियाँ हुईं। अनामिका के लिए श्यामानंद जालान द्वारा निर्देशित 'लहरों के राजहंस' (1964), शुतुरमुर्ग (1967) और एवम् इंद्रजीत (1968) की प्रस्तुतियाँ चर्चित रहीं।

सातवें दशक में भारतीय रंगमंच अपने स्पष्ट आकार में आ गया था। इस काल में देश-विदेश के श्रेष्ठ मौलिक नाटकों और भारत के विविध भाषायी नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत किया गया। नाट्यलेखन के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। इससे नाट्यलेखन के स्तर, कथ्य और शैली में जो नयापन आया, उसका प्रभाव रंगकर्म के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

80 के दशक में अव्यवसायिक रंगमंच पूरे भारत में सक्रिय हुआ। रंग शैलियों में प्रयोग की धारा भी चल निकली। संस्कृत नाटकों को नवीन शैली में खेले जाने लगा। भारतीय रंगमंच के नाटककारों, निर्देशकों का रूझान पारंपरिक नाट्य रूपों की ओर बढ़ा। मंचन हेतु आलेख की मांग बढ़ी। इस मांग की पूर्ति के लिए साहित्य की अन्य विधाओं की ओर रंगमंच मुड़ा। उपन्यासों के रुपांतरों की ओर निर्देशक आकृष्ट हुए। अन्य भारतीय भाषाओं के नाटक अपनी भाषा की अपेक्षा हिंदी में अधिक खेले गए। इसी दशक में अन्य क्षेत्रों के लोक रंगमंच को सीखने की प्रवृत्ति भी जाग्रत हुई। दूसरी भाषाओं के निर्देशकों ने हिंदी प्रदेशों की मंडलियों के आग्रह पर संस्कृत और हिंदी के नाटक खेले। हिंदी रंगमंच की इन प्रस्तुतियों में उन्होंनें अपनें प्रदेश की रंगशैलियों और तत्वों का बखूबी प्रयोग किया। के.एन. पणिक्कर, रतन थियाम, फ्रिट्ज वेनेविट्ज हिंदी रंगमंच का हिस्सा बन गए। एक ओर धर्मवीर भारती, जगदीशचंद्र माथुर, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, बी. एम. शाह, जैसे नाटककारों के अलावा सुरेन्द्र वर्मा, मुद्राराक्षस, मणि मधुकर, शंकर शेष, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, भीष्म साहनी, असगर वजाहत, राजेश जोशी, मृणाल पांडे, नंद किशोर आचार्य, रामेश्वर प्रेम आदि नए

नाटककारों नें अपनी रंग क्षमता का परिचय दिया, वहीं दूसरी ओर, विजय तेंदुलकर, बादल सरकार, मोहित चटर्जी, मनोज मित्रा, देवाशीष मजूमदार, चंद्रशेखर कंबार, गोविन्द देशपांडे, महेश एलकुंचवार, सतीश आलेकर आदि के नाटक भी चर्चित रहें। आठवें दशक के बाद हिंदी मंडलियां बिखरनें लगीं और रंगकर्मी सिनेमा व दूरदर्शन की ओर पलायन करने लगे।

नब्बे का दशक अन्य प्रदेशों के लोक नाट्य तत्वों को सीखने का था। इस दशक में महत्वपूर्ण यह रहा कि हिंदी रंगकर्मी दूसरे प्रदेशों के रंग तत्वों को सीखने पर बल देनें लगें। इस हेतु के.एन. पणिक्कर (मलयालम), रतम थियाम (मणिपुरी), कन्हाई लाल (मणिपुरी), विजय मेहता (मराठी), रुद्रप्रताप सेन गुप्त (बांग्ला) जैसे चर्चित निर्देशकों को बुलाया जाने लगा। इसी दशक में प्रमुखत: कहानी का रंगमंच, पारम्परिक नाट्य रूपों का प्रयोग चर्चा में रहें। इन प्रयोगों ने रंगमंच को एक नई भाषा प्रदान की। वर्तमान में भारतीय रंगमंच अपने विविध रंग शैलियों के साथ गतिमान है। न केवल व्यवसायिक बल्कि अव्यवसायिक रंगमंच भी निरंतर रंगकर्म को समृद्धि प्रदान कर रहे हैं।

वर्तमान में भारतीय रंगमंच के परिदृश्य में देखें तो नवीन प्रयोगों की परंपरा गतिमान है। देश भर में हो रहे नित नवीन प्रयोगों, विविध राष्ट्रीय नाट्य समारोह में उनके प्रदर्शन, विविध प्रदेशों में स्थापित रंग प्रशिक्षण केन्द्र, प्रशिक्षण उपरांत निरंतर प्रयोग कर रहे प्रशिक्षणार्थी, रंगमंच को प्रोत्साहित करती भारत सरकार की योजनाएँ आदि आज रंगमंच के लिए एक अनुकूल वातावरण तैयार कर रहे हैं।

पाठगत प्रश्न 13.3

1. भारतीय जन नाट्य संघ की स्थापना कब हुई?

....

2. पृथ्वी थियेटर की स्थापना किसने की?

....

3. राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के बारे में बतलाइये?

....

4. नाटक-'आगरा बाजार' के निर्देशक कौन थें?

....

5. थियेटर यूनिट का संबंध किस शहर से है?

....

आपने क्या सीखा

- रंगमंच का सामान्य अर्थ है एक ऐसी जगह जहाँ नाटक की प्रस्तुति की जाती है। यह संज्ञा नाट्य प्रस्तुति व उसकी पूरी प्रक्रिया के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है।
- भारतीय रंगमंच का सबसे प्राचीन ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' है जिसकी रचना 500 शती ईसा पूर्व आचार्य भरत द्वारा की गई थी।
- नाट्यशास्त्र में संस्कृत रंगमंच का पूर्ण विवरण है। न केवल रंगमंच अपितु नृत्य, नृत्त, संगीत आदि कलाओं का भी यह आदि ग्रंथ है।
- आदिकालीन रंगमंच के संबंध में प्राप्त पुरातात्विक वस्तुओं व कला रूपों से जानकारी मिलती है। इसमें रंगमंच की उत्पत्ति के बीज प्रागैतिहासिक सभ्यता से तलाशे गए हैं। आदिम रंगमंच का आरंभ आदिमानव सभ्यता में अभिव्यक्ति और उत्सवधर्मिता के गुणों से हुआ।
- आदिम रंगमंच का दूसरा पड़ाव कृषि सभ्यता के साथ अस्तित्व में आता है। जहाँ नृत्य, गीत, संगीत, कथा आदि का विकास होता है।
- भारतीय रंगमंच के प्रकारों में संस्कृत रंगमंच, लोक रंगमंच, पारसी रंगमंच व आधुनिक रंगमंच में मुख्यत: वर्गीकृत किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुति शैली के आधार पर भी रंगमंच के कई प्रकार हैं।
- आधुनिक रंगमंच का आरंभ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरंभ होता है। विशेषकर आजादी के बाद हमें रंगमंच पर रचनात्मक दृष्टि से कई प्रयोग देखने को मिलते हैं जिनमें न केवल लेखन अपितु प्रदर्शन में भी परंपरागत तरीकों को आधार बनाकर समसामयिक अर्थों की ओर विकास दिखाई देता है।

पाठान्त प्रश्न

1. रंगमंच से आप क्या समझते हैं।
2. भारतीय रंगमंच में नाट्यशास्त्र की क्या भूमिका है?
3. आदिम रंगमंच के बारे में आप क्या जानते हैं?
4. रंगमंच के प्रकार कौन-कौन से हैं?

5. आधुनिक रंगमंच के संदर्भ में बतलाइये?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

13.1

1. रंगमंच से तात्पर्य उस कला से है जिसमें नाटकों को मंच पर प्रस्तुत किया जाता है।

2. 500 शती ईसा पूर्व

3. आचार्य भरत

4. आकार के आधार पर तीन- 1. विकृष्ट, 2. चतुरस्त्र और 3. अवर। पारिमाण के आधार पर इन्हें पुन: तीन में बांटा गया- 1. ज्येष्ठ, 2. मध्यम और 3. अवर।

5. रंगपीठ, रंगशीर्ष, नेपथ्य, मत्तवारिणी, यवनिका इत्यादि।

6. अंधायुग

7. प्रस्तुति के उद्देश्य के अनुरूप प्रस्तुति स्थल का निर्माण, पारंपरिक प्रेक्षागृहों से विलग नवीन रचना।

8. दैवीय और आधुनिक अवधारणा।

9. अरस्तू

10. विद्वानों का अनुमान है कि आदिमानव ने अपने आसपास की प्रकृति, उनमें रहने वाले जानवरों को देखकर उनकी नकल करने का प्रयास किया होगा। स्वयं उत्पत्ति की कथा में भी शिकार की घटना का अभिनय करते हुए भी शिकार की नकल करने का उल्लेख मिलता है।

11. रंगमंच के विकास में धार्मिक भावना का विशेष योगदान रहा है क्योंकि मनुष्य ने अपने भय और सुरक्षित भविष्य की कामना से अनुष्ठान की प्रक्रिया को जन्म दिया और इस अनुष्ठान में नृत्य, संगीत और रंगमंच की मुख्य भूमिका रही है।

12. आदिकालीन रंगमंच का स्वरूप नृत्यमूलक था।

13. प्रागैतिहासिक व लोक

13.2

1. नाट्यशास्त्र एक ऐसा ग्रंथ है जिसकी प्रकृति पूर्णत: प्रयोगात्मक है।
2. यक्ष, किन्नर, गंधर्व, नट, नर्तक, सूत, मागध, ग्रंथिक, चारण, कुशीलव आदि।
3. रंगमंडप, अभिनय- आंगिक, वाचिक, आहारिक व सात्विक, वृत्ति, प्रवृत्ति, रस, आतोद्य, ध्रुवागान, सिद्धि, पात्र प्रकृति, गान आदि विषयों पर आचार्य भरत ने विस्तार से प्रकाश डाला गया है।
4. संस्कृत नाट्यलेखन व भाष्य, टीका ग्रंथों की लेखन परंपरा

14

रंग-संगीत

पूर्व में हमने रंगमंच तकनीक के बारे में जाना। यह तो स्पष्ट है कि रंगमंच में नाटक, निर्देशक और अभिनेता के मध्य तकनीकों की अपनी एक विशिष्ट भूमिका होती है। तकनीक को जानने-समझने के लिए ही नए रंगकर्मी रंगमंच का प्रशिक्षण प्रदान करने वाली संस्थाओं में जाते हैं। आधुनिक युग में तकनीकों की अपनी एक खास उपस्थिति है। हालांकि कुछ ऐसी शौकिया रंगसमूह भी हैं जहाँ इन तकनीकों की कमी होती है किंतु फिर भी वे अभिनय तकनीक का ऐसा प्रयोग करते हैं कि अन्य तकनीकों का अभाव दिखता ही नहीं। जैसे- नुक्कड़ रंगमंच में ही देखिये। क्या वहाँ कोई रंगसज्जा या प्रकाश व्यवस्था होती है क्या? नहीं किंतु फिर भी अभिनेता अपने अभिनय कौशल से गली, नुक्कड़ चौराहों पर खुले आकाश के नीचे दिन की रौशनी में नाटक की प्रस्तुति करते ही हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि रंग तकनीक कुछ प्रस्तुति शैली के लिए अनिवार्य तत्व हो सकता है लेकिन कुछ ऐसी शैलियाँ भी गढ़ी गई हैं जो केवल अभिनय तकनीक पर ही केन्द्रित हैं।

अब इस अध्याय में हम रंगमंच पर प्रयुक्त होने वाले संगीत की चर्चा करेंगे। आप सबने संगीत सुना होगा। लेकिन रंग संगीत की विशेषता से आप शायद ही परिचित हों। रंगमंच पर हर एक तत्व की अपनी एक निश्चित दिशा होती है जिस पर से गुजरकर वह कहानी को और भी दृढ़ करता है। आइए हम इसी संदर्भ में संगीत को देखें।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- रंगसंगीत का सामान्य परिचय जानते हैं;
- रंगसंगीत के प्रकारों को जानते हैं;

- रंगसंगीत का नाट्य मंचन में योगदान को समझते हैं;
- रंगसंगीत और रस को समझते हैं;
- नाट्य के साधारणीकरण में रंगसंगीत की उपादेयता को जानते हैं; और
- आधुनिक रंगसंगीत के विषय में जानते हैं।

14.1 रंगसंगीत

संगीत भारतीय रंगमंच में आदिकाल से प्रमुख रहा है। एक टोटल थियेटर की अवधारणा पूर्व से आज तक विद्यमान है। ग्रीक रंगमंच की उत्पत्ति भी शोकगीत से मानी जाती है। यदि हम रंगमंच की दोनों ही धाराओं को देखें तो संगीत के नाट्य में कई स्वरूप दिखाई देते हैं। वास्तव में रंगसंगीत का संबंध किसी नाट्यप्रस्तुति में दृश्य विशेष के लिए अथवा संपूर्ण नाटक के लिए तैयार की गई संगीतबद्ध रचना से है। सामान्यतया इसका प्रयोग प्रायः ओपेरा, बैले और पेंटोमाइम से लेकर आधुनिक रंगमंच की यात्रा में उत्पन्न अन्य संगीतनाट्यों के लिए करते हैं। अतिरिक्त शैलियों के अंतर्गत आकस्मिक संगीत का भी प्रचलन है। जैसे- रेडियो, फिल्म और टेलीविजन जिनमें इस संगीत का प्रयोग कार्य को और भावुक बनानें तथा दृश्यों को पृथक करनें के लिए किया जाता है।

भारतीय रंगमंच में संगीत

आचार्य भरत मुनि के द्वारा लिखे गये 'नाट्यशास्त्र' में संगीत के संबंध में एक वृहद चर्चा मिलती है। नाट्य में संगीत कैसा हो? इस संबंध में आचार्य भरत ने विस्तार से चर्चा की है। संपूर्ण नाट्यशास्त्र में 6 अध्याय संगीत पर ही केन्द्रित हैं। 28वें अध्याय में वाद्यों के प्रयोग की चर्चा है, 29वें अध्याय में विभिन्न जातियों के रस के अनुकूल प्रयोग और वीणा के प्रकारों की चर्चा है। 30 वें अध्याय में सुषिर वाद्य की चर्चा है। 31 वें अध्याय में कला, लय और विभिन्न तालों की चर्चा है। 33 वें अध्याय में अवनद्ध वाद्यों का पूरा वर्णन है। स्वयं नाट्य की उत्पत्ति में ही सामवेद से 'संगीत' तत्व के ग्रहण किये जाने का उल्लेख मिलता है। पाठ्य, संगीत, अभिनय और रस इन्हीं तत्वों से नाट्य की उत्पत्ति हुई है। यदि इस तथ्य को हम आधार मानें तो संगीत की अनिवार्यता को संस्कृत रंगमंच का महत्वपूर्ण आधार माना जा सकता है।

नाट्यशास्त्र में ध्रुवा गान की चर्चा मिलती है। ध्रुवा गान अर्थात नाटक में गाए जाने वाले गीत। विभिन्न छंदों से इनकी उत्पत्ति होती है। आचार्य भरत ने इनकी संख्या पाँच बतलाई है- प्रावेशिकी, आक्षेपिका, प्रसादिकी, अन्तरा और नैष्क्रमिणी। अब आइये इन्हें थोड़ा विस्तार से जानें।

प्रावेशिकी

नाटक का आरंभ होने पर पात्रों के प्रवेश के समय गाई जाने वाली ध्रुवा 'प्रावेशिकी' कहलाती है। इस गान से पात्र की प्रकृति, उसकी अवस्था और हाव-भाव का बोध दर्शकों को सहज ही हो जाता है। यह गीत रसों और अर्थों से परिपूर्ण होते हैं।

आक्षेपिका

'आक्षेप' का तात्पर्य है- क्रम को परिवर्तित करना। उदाहरण के लिए यदि दृश्य में करुण रस का प्रसंग है तो सहसा वीर रस का आक्षेप करना। इस प्रकार रसों में अंतर ला देने वाला गाान 'आक्षेपिका' कहा गया है। यह द्रुत और बिलंबित दो प्रकार का होता है।

नैष्क्रमिणी

अंक की समाप्ति पर जब पात्र मंच से प्रस्थान करते हैं, उस समय गाई जाने वाली ध्रुवा 'नैष्क्रमिणी' कहलाती है।

प्रासादिकी

किसी हाल ही में घटित घटना के बाद जब उसे तुरन्त गीत के रूप में प्रकट किया जाय तो यह रसों में अंतर ला देता है जिससे दर्शकों का मन प्रफुल्लित हो उठता है, ऐसे गीत को प्रासादिकी कहते हैं। इसमें पात्र के मन में चल रही मन:स्थिति को दर्शकों के सामने गीत के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

अन्तरा

अन्तरा का अर्थ है-बीच में। इस ध्रुवा का गान तब किया जाता है जब पात्र थक जाय, बेहोश हो जाय, संवाद भूल जाय या फिर अपनी वेशभूषा ठीक करने लग जाय ऐसे में 'अन्तरा' ध्रुवा का गान किया जाना चाहिए। भारतीय रंगमंच में संस्कृत रंगमंच प्रथम पड़ाव है और इस रंगमंच में गायन, वादन और नर्तन प्रमुख था। संस्कृत रंगमंच के पश्चात हमें लोकनाट्य रूपों के दर्शन होते हैं। संयोग से इन नाट्यरूपों मे भी संस्कृत रंगमंच की ही भांति गायन, वादन, नर्तन की प्रमुखता रही है। अंतर केवल इतना था कि संस्कृत रंगमंच में शास्त्रीय संगीत का प्रयोग है जबकि लोक नाट्य परंपरा में यह क्षेत्रीय देसी-मार्गी संगीत में बदल गया।

भारतीय रंगमंच के तीसरे पड़ाव में हमें पारसी रंगमंच के दर्शन होते हैं। एक ऐसा रंगमंच जो पूरी तरह से चमत्कृत कर देने वाले दृश्यों से भरा था। हीरो, हीरोइन और विलेन जैसे किरदारों से भरा हुआ। संगीत इस रंगमंच का प्राण था। दु:ख, विरह, क्रोध, प्रेम-प्रणय, एक्शन जैसे दृश्यों को गीतों के माध्यम से और प्रभावी बनाकर पेश किया जाता था।

पश्चिम रंगमंच में संगीत

पश्चिम रंगमंच का आरंभ ग्रीक यूनानी नाटकों से मिलता है। अरस्तू ने त्रासदी और प्रहसन के संबंध में कहा है कि त्रासदी का आरंभ स्त्रोत रचनाओं से हुआ है और प्रहसनों का फूहड़ गीतों से। यह स्त्रोत डायोनिसस देवताओं की उपासना मे गाये जाते थें। डायोनिसस उत्सव में उपासक त्रेगोद (गोट सांग) गाया करते थें। इन्ही गीतो में अभिनय का योग कर नाटकों की रचना हुई। अरस्तू ने भी संगीत को कथारसिस के लिए आधार माना है। रोमन थियेटर में भी ग्रीक रंगमंच की भांति संगीत की भूमिका बनी रही।

पाठगत प्रश्न 14.1

1. रंगसंगीत से क्या तात्पर्य है?

   ....

2. रेडियो, फिल्म और टेलीविजन में संगीत का प्रयोग किसलिए किया जाता है?

   ....

3. ध्रुवागान क्या हैं?

   ....

4. अंतरा ध्रुवा गान क्या है?

   ....

5. पारसी रंगमंच में संगीत की क्या भूमिका थी?

   ....

6. ग्रीक रंगमंच की उत्पत्ति में संगीत की क्या भूमिका थी?

   ....

14.2 रंग-संगीत के प्रकार

संगीत का उद्‌भव नाटक की उत्पत्ति के साथ नहीं हुआ है बल्कि नाटक से पूर्व मानव सभ्यता के आरंभ के साथ-साथ संगीत धीरे-धीरे विकसित हुई है। यह मानव की संवेदनाओं, भावनाओं को अभिव्यक्त करने की एक सशक्त कला है। रंगमंच भी जीवन के विभिन्न रंगों

को मंच पर एकाकार कराता है। ऐसे में संगीत एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

संगीत किसी भी नाट्य प्रस्तुति का आंतरिक भाग होता है, जिसका प्रयोग दृश्य के भाव को उद्दीप्त करने, पार्श्व ध्वनि के माध्यम से दृश्य परिवर्तन करने आदि के लिए किया जाता है। हम जब भी कोई फिल्म या नाटक देखते हैं तो उसमें कभी लाइव या फिर कभी रिकॉर्डेड संगीत का इस्तेमाल किया जाता है।

नाटक में संगीत का प्रयोग निम्नलिखित रूप में किया जाता है–

1. नाटक के थीम को प्रस्तुत करने के लिये (Theme Music) यह संगीत प्राय: नाटक में अलाप के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जिस प्रकार फिल्मों में थीम म्यूजिक का प्रयोग होता है उसी प्रकार नाटकों में भी। इस संगीत के लिए प्राय: नाटक के मुख्य भाव को आधार बनाया जाता है। यदि नाटक का मुख्य उद्देश्य दर्शकों में जोश भरना है तो ऐसे में थीम संगीत भी इसी प्रकृति का होगा।

2. नाटक के दृश्यों को एक दूसरे से जोड़ने के लिए (Linking Music) यह संगीत नाटक के दृश्यों को एकसूत्रता में बाँधने का कार्य करती हैं। इससे दृश्य परिवर्तन में लगने वाले समय को भरा जाता है। नाटक में दृश्यों की श्रृंखला होती है और प्रत्येक दृश्य का एक मूल भाव होता है। ऐसे में एक दृश्य के भाव से दूसरे दृश्य के भाव में अंतरण के लिए इस संगीत का प्रयोग किया जाता है।

3. किसी चरित्र के प्रवेश के लिए (Intro Music) हर चरित्र की अपनी एक विशेषता होती है। इस विशेषता को ही ध्यान में रखकर यह संगीत किया जाता है।

4. नाटक में विशेष प्रभाव के लिए (Effect) नाटक में किसी दृश्य को विशेष रूप से प्रभावी बनाने के लिये इस संगीत का प्रयोग किया जाता है।

5. भाव के साथ गायन (Singing with Expression) इस प्रकार के गीत पात्रों के मनोभाव को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं।

6. अभिनेता के कार्यकलाप के लिए (Movement) युद्ध, प्रेम, दुख आदि की स्थिति में बजने वाला संगीत।

7. चरित्र विशेष के लिए (Character music)

पाठगत प्रश्न 14.2

1. थीम म्यूजिक क्या है?

   ....

2. लिंकिंग म्यूजिक क्या है?

   ....

3. म्यूजिक इफेक्ट क्या हैं?

   ....

4. इंट्रो म्यूजिक क्या है?

   ....

14.3 रंग-संगीत और नाट्यमंचन

संगीत नाटक की रचनाधर्मिता को उत्सवधर्मी रूप प्रदान करता है। मध्ययुग में परम्पराशील नाट्यरूपों के उदय में भी संगीतक की विशेष भूमिका रही। प्रसिद्ध विद्वान जगदीशचंद्र माथुर का मत है कि–'जात्रा, माच, रासलीला, भागवतमेल, तमाशा, कुड़ियट्टम इत्यादि सभी संगीतक के परवर्ती रूप हैं।' संगीतक में नृत्य, गीत, वाद्य, संवाद ये सभी महत्वपूर्ण अवयव थे। परम्पराशील नाट्यरूपों के प्रदर्शन का अवलोकन कर संगीत तत्व के महत्वपूर्ण पक्ष का आकलन किया जा सकता है। क्या नौटंकी को उसकी गायकी से विलग कर देखा जा सकता है? क्या महाराष्ट्र के तमाशा से लावणी गायन आदि का विलोप कर इसकी कल्पना की जा सकती है? संभवतः नहीं। वास्तव में गायकी पद्धतियों ने ही इन कलारूपों को जीवंत बनाए रखने की कोशिश की है।

गीत मानव मन की अंतर्यात्रा है। शब्दों को छंदो में ढालकर गीत का शरीर तैयार किया जाता है। छंदबद्ध रचना, लयात्मकता और संगीतात्मकता से ही गीतों का अस्तित्व होता है। नाटक में गीतों के प्रयोग को महत्वपूर्ण माना जाता है। नाटक में गीतों के प्रकारों को इन रूपों मे देखा जा सकता है–

1. कथानक को आगे बढ़ाने वाले गीत

प्रायः नाटक में कई ऐसी सूचनाएँ होती हैं जिन्हें दृश्य रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता क्योंकि यदि इन्हें दृश्य रूप में प्रस्तुत किया जाय तो नाटक में अवांछित विस्तार हो

सकता है। ऐसे में गीतों की योजना की जाती है ताकि उन सूचनाओं को रोचक तरीके से दर्शकों तक प्रेषित किया जा सके।

2. रस को चरम तक ले जाने वाले गीत

नाटक के दृश्यों में भावों की उपस्थिति होती है। दर्शकों उन भावों को अनुभूत कर रस का आनंद लेता है। गीतों की योजना उस रस के आनंद की प्रक्रिया को और भी तीव्र कर देती है जिससे दर्शक रस की चरम स्थिति का अनुभव करता है।

3. पात्र के अंतर्मन को स्पष्ट करने वाले गीत

नाट्यमंचन में गीतों की कुछ ऐसी योजना भी की जाती है जिससे पात्र के मनोभावों को भी रेखांकित किया जा सके। उदाहरण के लिए यदि नायक नायिका के विरह में है तो इस स्थिति में उसकी विरह वेदना को अभिव्यक्त करने के लिए गीतों की योजना की जाती है।

4. नाटक में स्वाभाविकता लाने वाले गीत

कभी-कभी नाटक में स्वाभविकता लाने के लिए भी गीतों की योजना की जाती है। मंचन के दौरान यह स्वाभाविकता लाने के लिए क्षेत्रीय धुनों का भी प्रयोग किया जाता है।

पाठगत प्रश्न 14.3

1. संगीतक के अवयव क्या है?

....

2. कथानक को गीत कैसे आगे बढ़ाते हैं?

....

3. पात्रों के लिए गीतों की क्या आवश्यकता हैं?

....

14.4 रंगसंगीत और रस

भारतीय कला व साहित्य में रस की संकल्पना एक महत्वपूर्ण विशेषता है। आचार्य भरत ने रसनिष्पत्ति सूत्र में कहा है- 'विभावानुभावसंचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:' अर्थात विभाव, अनुभाव

टिप्पणी

और संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यहाँ विभाव का तात्पर्य स्थायी भाव के कारण से है अर्थात जिन कारणों से स्थायी भाव की उत्पत्ति होती है। इनके दो भेद हैं-आलंबन और उद्दीपन। आलंबन-जिसमें भाव अवलंबित होता है और उद्दीपन- जो भावों को उद्दीप्त अर्थात मात्रा में वृद्धि करता है। कल्पना कीजिए कि नायक नायिका के वियोग में गीत गा रहा है। इस दृश्य में नायक का करूण स्वर प्रधान गीत, संगीत और विलाप की ध्वनियाँ दर्शकों के हृदय में स्थित वियोग रति को और भी उद्दीप्त करेंगी। अभिनव गुप्त ने भी कहा है कि गीतध्वनि से भी रस की अभिव्यक्ति होती है। 'गीताभ्त्रदिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्ति' अर्थात जिस प्रकार वाचक शब्द वाक्यार्थ-बोधन के पश्चात व्यंग्यार्थ-बोध कराते हैं, उसी प्रकार गेय स्वर भी अपने स्वरूप-बोधन के पश्चात भाव या रस का बोध कराते हैं। इस प्रकार प्राचीन आचार्य गीत-ध्वनि को रस का अभिव्यंजक मानते हैं।

रसकौमुदीकार श्रीकण्ड का कहना है कि गीत, काव्य और नाट्य-ये तीनों निरपेक्ष रूप से रस के उद्‌गम स्थान हैं। लेकिन काव्य की अपेक्षा गीत-ध्वनि का क्षेत्र अधिक व्यापक है क्योंकि काव्य को तो केवल सहृदय व्यक्ति ही कर सकता है जो उसे समझे लेकिन गीत के माध्यम से एक बालक भी आनंद ले सकता है। इस प्रकार संगीत किसी नाटक में दृश्य के मनोभावों को और भी प्रभावी ढंग से दर्शकों को अनुभूत कराता है।

14.5 रंग-संगीत और साधारणीकरण

मनोविकारों के शमन की अवधारणा भारतीय रंगदर्शन में भी प्राप्त होती है। आचार्य भट्टनायक ने रस पर विमर्श करते हुए 'साधारणीकरण के सिद्धांत' का प्रतिपादन किया है। भट्टनायक के अनुसार काव्य के तीन तत्व हैं-अभिधा, भावना और रसाचर्वणा अर्थात भोग। वे मानते हैं कि रस ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। वस्तु और अलंकार ध्वनि रस में ही परिवर्तित होते हैं। इस प्रकार भट्टनायक के मतानुसार अभिधा केवल वाच्यार्थ अर्थात कहे जा रहे शब्द का अर्थ ज्ञात होता है, भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकरण करता है और उसके बाद ही भोजकत्व व्यापार के द्वारा रस का आनंद लिया जाता है। भट्टनायक ने भरत के रस सूत्र में निर्दिष्ट 'संयोग' पद का अर्थ भोज्य-भाजक-भाव सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' पद का आर्थ 'भुक्ति' माना है। उनके मतानुसार विभावादि के द्वारा भोज्य-भाजक भाव संबंध से रस की निष्पत्ति होती है अर्थात सामाजिक द्वारा रस का भोग किया जाता है। रस भोग के लिए उन्होंने अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापारों को स्वीकार किया है। इनमें अभिधा के द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है अर्थात अभिधा द्वारा उत्पन्न अर्थ व्यक्ति विशेष से संबद्ध होता है। फिर भावकत्व व्यापार उस अभिजन्य अर्थ को परिष्कृत कर व्यक्ति विशेष से उसका संबंध हटाकर साधारणीकरण कर देता है। भाव यह है कि भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकृत विभावादि व्यक्ति विशेष के संबंध से उन्मुक्त होकर सामाजिक से संबद्ध हो जाते हैं, तब उनमें व्यक्तिगत विशेषताएँ नहीं रह जातीं। इस प्रकार भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि के साधारणीकरण हो जाने पर भोजकत्व व्यापार उस साधारणीकृत रत्यादि स्थायी

टिप्पणी

का रस के रूप में भोग करवाता है। भाव यह है कि भट्टनायक के अनुसार भाव्यमान (साधारणीकृत) रत्यादि स्थायीभाव सामाजिकों के हृदय में स्थित रजस् एवं तमस् अभिभूत करके सत्वगुण का उद्रेक होने से वेद्यान्तरसम्पर्क शून्य भोजकत्व व्यापार से आस्वादित किया जाता है। इस प्रकार साधारणीकरण एक ऐसी अवस्था हो जाती है जिसमें व्यक्तित्व का विलयन तथा असाधारण का साधारणीकरण होता है। इस प्रकार मनोविकारों का सामान्यीकरण हो जाता है।

जब भी दर्शक किसी प्रेक्षागृह में नाटक के प्रदर्शन का आस्वादन करने पहुंचता है तो उस समय उसके हृदय में तरह-तरह के सांसारिक जीवन के मनोविकार उमड़ते रहते हैं। वह दर्शक दीर्घा में अपना स्थान ग्रहण करता है। नाट्य प्रस्तुति आरंभ होती है। थर्ड बेल के साथ ही दर्शक का चित्त अपने सांसारिक जीवन से खिंचकर प्रस्तुति पर केन्द्रित हो जाता है। नाट्यारंभ का पहला संगीत दर्शकों को भावनात्मक रूप से प्रस्तुति से जोड़ देता है। अभिनेता मंच पर अभिनय करते हैं, विविध प्रकार से सुरों के उतार-चढ़ाव के साथ संवाद कहते हैं, गायक दल द्वारा गायन-वादन होता है और उस संगीत पर अभिनय कर्म होता है। ऐसे में दर्शक मंच पर स्थित चरित्रों के साथ अपना 'स्व' स्थापित कर लेता है। चरित्र के हँसने, रोने, दुःखी होने, हर्षोल्लास में नृत्य के साथ दर्शक भी हंसते हैं, रोते हैं, दुःखी होते हैं और नाचते हैं। इस प्रक्रिया में दर्शकों के मनोविकार चरित्र की क्रियाओं के साथ ही तिरोहित हो जाते हैं। तभी तो दुख के दृश्य को देखकर दर्शक की आँखों से आँसू निकलने लगते हैं और उनका मन हल्का हो जाता है। इस पूरे विरेचन प्रक्रिया में संगीत इस भावनात्मक जुड़ाव की प्रक्रिया को बढ़ाकर दर्शकों की भावनाओं को उच्च स्तर पर ले जाता है जहाँ दर्शक के मन के विकार तिरोहित हो जाते हैं और उसे ब्रह्मानंद की अनुभूति होती है। उसका मस्तिष्क नाना प्रकार के तनावों से मुक्त हो जाता है। अरस्तू का 'विरेचन सिद्धांत' और भट्टनायक का 'साधारणीकरण सिद्धांत' इसी प्रक्रिया को स्पष्ट करता है।

पाठगत प्रश्न 14.4

1. रसनिष्पत्ति सूत्र क्या है?

   ....

2. गीत-ध्वनि रस के अभिव्यंजक कैसे हैं?

   ....

3. साधारणीकरण सिद्धांत किसकी देन है?

   ....

14.6 आधुनिक रंगसंगीत

आधुनिक युग में पूर्व और पश्चिम संस्कृति के मेल होने से कलाओं में भारी परिवर्तन हुए। रंगमंच में आए यथार्थवाद ने रंगमंच की संरचना को एक नया आयाम दिया। यथार्थवादी नाटकों को दृष्टिगत रखते हुए संगीत संयोजन किया जाने लगा। यथार्थवाद और प्रयोगवादी अवधारणा ने रंगमंच में प्रयोग किये जाने वाले सोद्देश्य संगीत को रंगसंगीत की संज्ञा दी। वास्तव में रंगसंगीत का तात्पर्य किसी नाट्य प्रस्तुति में दृश्य-विशेष के लिए अथवा संपूर्ण नाटक के लिए तैयार की गई संगीतबद्ध रचना से है जिसमें गायन, वादन के साथ ध्वनि प्रभाव भी सम्मिलित हैं। कभी-कभी पूरा नाटक ही संगीत रचना पर आधारित होता है और कभी-कभी दृश्यों के आवश्यकतानुसार संगीत संयोजन किया जाता है। संगीत पार्श्व ध्वनि के माध्यम से दृश्य परिवर्तन करने आदि के लिए किया जाने लगा। इसका स्वरूप कभी लाइव तो कभी रिकॉर्डेड हुआ।

यह तथ्य विचारणीय है कि आरंभ से लेकर अब तक रंगमंच में संगीत की भूमिका इतनी विशिष्ट क्यों बनी हुई है? वास्तव में रंगमंच अपनी प्रकृति में मूलतः दृश्य-श्रव्य माध्यम है। दृश्य में वे सभी तत्व है जो मंच पर दिखाई देते हैं जिसमें अभिनेता का शरीर और उस पर आरोपित साजो-सामान सभी सम्मिलित हैं और श्रव्य का संबंध ध्वनि से है जो नाट्य में संगीत से ही साध्य है। ऐसे में अभिनेता का स्वर भी संगीत के दायरे में आता है। इसीलिए यथार्थवाद के निर्देशक व सिद्धांतकार स्तानिस्लाव्स्की अभिनेता के संवाद को भी संगीत ही मानते हैं। शब्द श्रोता मस्तिष्क में स्मृतिजन्य काल्पनिक बिंब का निर्माण करता है, ध्वनि प्रकार उस चित्र को आकार प्रदान करती है और संगीत उस चित्र में रंग (भाव) भरती है। ऐसे में वह काल्पनिक बिंब भावपूर्ण हो उठता है। रंगमंच रंगों (भावों) की श्रव्यता को दृश्यत्व प्रदान करता है। इस प्रकार वो भाव मंच और दर्शक हृदय में साकार हो उठते हैं।

आधुनिक भारतीय रंगमंच में ब.व. कारंत, हबीब तनवीर जैसे निर्देशकों ने रंगसंगीत को आधुनिक आयाम दिया। ब.व. कारंत ने ध्वनि विन्यास बल दिया। वे भारतीय रंगमंच में लोक रंगमंच की अनिवार्यता के संबंध में कहते भी हैं- 'भारतीय संगीत और रंगमंच की चर्चा करनी हो तो तमाशा, यक्षगान, भवई वगैरह के अलावा भला हम किस भारतीय रंगमंच की बात कर सकते हैं।'

टिप्पणी

आपने क्या सीखा

- यदि हम रंगमंच की दोनों ही धाराओं को देखें तो संगीत के नाट्य में कई स्वरूप दिखाई देते हैं। वास्तव में रंगसंगीत का संबंध किसी नाट्यप्रस्तुति में दृश्य विशेष के लिए अथवा संपूर्ण नाटक के लिए तैयार की गई संगीतबद्ध रचना से है।

- आचार्य भरत मुनि के द्वारा लिखे गये 'नाट्यशास्त्र' में संगीत के संबंध में एक वृहद चर्चा मिलती है। नाट्य में संगीत कैसा हो? इस संबंध में आचार्य भरत ने विस्तार से चर्चा की है।

- नाट्यशास्त्र में ध्रुवा गान की चर्चा मिलती है। ध्रुवा गान अर्थात नाटक में गाए जाने वाले गीत। विभिन्न छंदों से इनकी उत्पत्ति होती है। आचार्य भरत ने इनकी संख्या पाँच बतलाई है- प्रावेशिकी, आक्षेपिका, प्रसादिकी, अन्तरा और नैष्क्रमिणी।

- नाट्यरूपों मे भी संस्कृत रंगमंच की ही भांति गायन, वादन, नर्तन की प्रमुखता रही है। अंतर केवल इतना था कि संस्कृत रंगमंच में शास्त्रीय संगीत का प्रयोग है जबकि लोक नाट्य परंपरा में यह क्षेत्रीय देसी-मार्गी संगीत में बदल गया।

- त्रासदी का आरंभ स्त्रोत रचनाओं से हुआ है और प्रहसनों का फूहड़ गीतों से। यह स्त्रोत डायोनिसस देवताओं की उपासना मे गाये जाते थें। डायोनिसस उत्सव में उपासक त्रेगोद (गोट सांग) गाया करते थें। इन्ही गीतो में अभिनय का योग कर नाटकों की रचना हुई।

- नाटक में संगीत का प्रयोग निम्नलिखित रूप में किया जाता है- नाटक के थीम को प्रस्तुत करनें के लिये (Theme Music), नाटक के दृश्यों को एक दूसरे से जोड़ने के लिए (Linking Music), किसी चरित्र के प्रवेश के लिए (intro Music), नाटक में विशेष प्रभाव के लिए (Effect), भाव के साथ गायन (Singing with Expression), अभिनेता के कार्यकलाप के लिए (Movement), चरित्र विशेष के लिए (Character music)

- आचार्य भट्टनायक ने रस पर विमर्श करते हुए 'साधारणीकरण के सिद्धांत' का प्रतिपादन किया है।

- संगीत किसी नाटक में दृश्य के मनोभावों को और भी प्रभावी ढंग से दर्शकों को अनुभूत कराता है।

पाठान्त प्रश्न

1. रंगसंगीत से आप क्या समझते हैं।
2. नाट्यशास्त्र में संगीत की क्या चर्चा है?
3. रंगमंच में गीतों की योजना के बारे में आप क्या जानते हैं?
4. संगीत और रस का क्या संबंध हैं?
5. साधारणीकरण क्या है?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

14.1

1. रंगसंगीत का संबंध किसी नाट्यप्रस्तुति में दृश्य विशेष के लिए अथवा संपूर्ण नाटक के लिए तैयार की गई संगीतबद्ध रचना से है।
2. रेडियो, फिल्म और टेलीविजन जिनमें इस संगीत का प्रयोग कार्य को और भावुक बनानें तथा दृश्यों को पृथक करनें के लिए किया जाता है।
3. ध्रुवा गान अर्थात नाटक में गाए जाने वाले गीत। विभिन्न छंदों से इनकी उत्पत्ति होती है।
4. अन्तरा का अर्थ है-बीच में। इस ध्रुवा का गान तब किया जाता है जब पात्र थक जाय, बेहोश जाय, संवाद भूल जाय या फिर अपनी वेशभूषा ठीक करने लग जाय ऐसे में 'अन्तरा' ध्रुवा का गान किया जाना चाहिए।
5. पारसी रंगमंच जो पूरी तरह से चमत्कृत कर देने वाले दृश्यों से भरा था। हीरो, हीरोइन और विलेन जैसे किरदारों से भरा हुआ। संगीत इस रंगमंच का प्राण था। दुख, विरह, क्रोध, प्रेम-प्रणय, एक्शन जैसे दृश्यों को गीतों के माध्यम से और प्रभावी बनाकर पेश किया जाता था।

टिप्पणी

6. अरस्तू ने त्रासदी और प्रहसन के संबंध में कहा है कि त्रासदी का आरंभ स्त्रोत रचनाओं से हुआ है और प्रहसनों का फूहड़ गीतों से। यह स्त्रोत डायोनिसस देवताओं की उपासना मे गाये जाते थें। डायोनिसस उत्सव में उपासक त्रेगोद (गोट सांग) गाया करते थें। इन्ही गीतों में अभिनय का योग कर नाटकों की रचना हुई।

14.2

1. यह संगीत प्राय: नाटक में अलाप के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जिस प्रकार फिल्मों में थीम म्यूजिक का प्रयोग होता है उसी प्रकार नाटकों में भी। इस संगीत के लिए प्राय: नाटक के मुख्य भाव को आधार बनाया जाता है।

2. यह संगीत नाटक के दृश्यों को एकसूत्रता में बाँधने का कार्य करती हैं। इससे दृश्य परिवर्तन में लगनें वाले समय को भरा जाता है।

3. नाटक में किसी दृश्य को विशेष रूप से प्रभावी बनाने के लिये इस संगीत का प्रयोग किया जाता है।

4. हर चरित्र की अपनी एक विशेषता होती है। इस विषेशता को ही ध्यान में रखकर यह संगीत किया जाता है।

14.3

1. संगीतक में नृत्य, गीत, वाद्य, संवाद ये सभी महत्वपूर्ण अवयव है।

2. प्राय: नाटक में कई ऐसी सूचनाएँ होती हैं जिन्हें दृश्य रूप में प्रस्तुत नही किया जाता क्योंकि यदि इन्हें दृश्य रूप में प्रस्तुत किया जाय तो नाटक में अवांछित विस्तार हो सकता है। ऐसे में गीतों की योजना की जाती है ताकि उन सूचनाओं को रोचक तरीके से दर्शकों तक प्रेषित किया जा सके।

3. नाट्यमंचन में गीतों की कुछ ऐसी योजना भी की जाती है जिससे पात्र के मनोभावों को भी रेखांकित किया जा सके। उदाहरण के लिए यदि नायक नायिका के विरह में है तो इस स्थिति में उसकी विरह वेदना को अभिव्यक्त करने के लिए गीतों की योजना की जाती है।

14.4

1. 'विभावानुभावसंचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' अर्थात विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

2. जिस प्रकार वाचक शब्द वाक्यार्थ-बोधन के पश्चात व्यंग्यार्थ-बोध कराते हैं, उसी प्रकार गेय स्वर भी अपने स्वरूप-बोधन के पश्चात भाव या रस का बोध कराते हैं। इस प्रकार प्राचीन आचार्य गीत-ध्वनि को रस का अभिव्यंजक मानते हैं।

3. भट्टनायक

4. साधारणीकरण एक ऐसी अवस्था हो जाती है जिसमें व्यक्तित्व का विलयन तथा असाधारण का साधारणीकरण होता है। इस प्रकार मनोविकारों का सामान्यीकरण हो जाता है।

राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

पाठ्यचर्या (Curriculum)

नाट्यकला (285)

माध्यमिक स्तर

1. औचित्य (Rationale)

भारतीय ज्ञान विज्ञान की एक गौरवशाली परंपरा रही है। भारतवर्ष का इतिहास जीवन के दार्शनिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों में ज्ञान निर्माण में समृद्ध रहा है। भारतीय दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने राजनीति, अर्थव्यवस्था, वाणिज्य, खगोल विज्ञान, जहाज निर्माण से लेकर कला, संगीत, नाटक, नृत्य आदि विषयों तक जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में योगदान दिया है।

भारतीय परंपरा के अनुसार नाट्य के आद्य रचयिता स्वयं प्रजापति माने गए हैं और नाट्यशास्त्र को पञ्चम वेद कहकर नाट्यकला को विशिष्ट सम्मान प्रदान किया गया है। इतिहास पुराण नाट्य शास्त्रीय ग्रंथों एवं अन्य साहित्यिक रचना तथा ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा चुका है कि भारत में ईसा से कई सदियों पूर्व नाट्य कला विकसित हो चुकी थी जिसे नट, नर्तक, चारण आदि लोगों के द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी गायन, वादन, नर्तन इत्यादि नाटकीय प्रस्तुतीकरण के द्वारा हस्तांतरित किया गया।

वर्तमान समय में हमारी प्राचीन ज्ञान परंपरा के उदात्त तत्वों से वर्तमान पीढ़ी का साक्षात्कार करवाना तथा इस ज्ञान की ध ारा का संरक्षण और संवर्धन करना अत्यावश्यक है।

2. अधिकारी (Who is Eligible to Study This Course)

यह पाठ्य विषय संपूर्ण रूप से हिंदी भाषा में लिखा हुआ है। साथ ही संस्कृत भाषा का भी अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है। परीक्षा हिंदी भाषा माध्यम से ही होगी। इसलिए इस पाठ का अधिकारी कौन होगा यह प्रश्न निश्चित रूप से उत्पन्न होता है। यहां पर वह छात्र अधिकारी है जो-

- नाट्यकला को समझने की जिज्ञासा रखता हो;
- नाट्यकला से सामान्य रूप से परिचित हो;
- सरल संस्कृत/हिंदी भाषा के सरल गद्यांश और पद्यांश को पढ़ और समझ सके;
- अपने भावों को संस्कृत/हिंदी भाषा में लिखकर प्रकट कर सके।

3. प्रयोजन/उद्देश्य (Purpose/Objectives)

माध्यमिक स्तर पर नाट्यकला पाठ्यक्रम के निम्न प्रयोजन है-

- शिक्षार्थी में मन में देश और संस्कृति के प्रति गौरव की भावना का विकास करना।
- संस्कृति की रक्षा के लिए उचित प्रयत्न करने वाले श्रद्धावान शिक्षार्थियों को प्रेरित करना।
- प्राचीन भारतीय ज्ञान, संपदा, वैज्ञानिकता, सभी मनुष्यों के प्रति उपकारिकता की भावना का गर्व से जगत में प्रचार-प्रसार कर पाने में सक्षम बनाना।
- हमारे देश की नाट्य परंपरा को सामान्य जन मानस के लिए सर्व-सुलभ बनाना।
- भारतीय नाटककारों तथा उनकी कृतियों के प्रति सम्मान की भावना का विकास करना।
- नाट्य के विविध तत्त्वों (कथावस्तु, पात्र, रस, अभिनय, रंगमंच) से शिक्षार्थियों को परिचित कराना।
- नाट्य निर्माण से संबंधित यथा- नाट्य चयन, नाट्य निर्माण, नाट्य क्रियान्वयन हेतु मंच सज्जा, प्रकाश-ध्वनि-प्रभाव आदि से अवगत कराना।
- यह पाठ्यक्रम शिक्षार्थी को एक उत्तम 'सहृदय' के रूप में परिवर्तित करने में भी सक्षम होगा।

4. स्व-अध्ययन सामग्री एवं विषयवस्तु संबंधी विवरण (Self Learning Material and Course Details)

- मुद्रित पुस्तकें (सैद्धांतिक तथा प्रायोगिक पक्ष)
- एक शिक्षक अंकित -मूल्यांकन प्रपत्र दिया जायेगा। इसके साथ छात्रों के द्वारा एक परियोजना कार्य भी (प्रोजेक्ट) करना है।
- नाट्यकला का शिक्षण प्रायोगिक रूप से भी होगा।
- पाठ निर्माण में, संपर्क कक्षाओं में, अध्यापन काल में, छात्रों के जीवन कौशल का अच्छी प्रकार से विकास हो ऐसा ध्यान होना चाहिए। इससे उनमें अपने आप युक्ति समन्वित चिन्तन शक्ति का विकास होगा।
- राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान में प्रवेश के बाद इस पाठ्यक्रम को विद्यार्थी एक वर्ष से प्रारंभ कर अधिक से अधिक पांच वर्षों में पूर्ण कर सकते हैं।

5. परीक्षा और मूल्यांकन विधि (Examination and Evaluation System)

- प्रश्न पत्र (Theory Paper) सौ (100) अंक का है जिसमें से सैद्धांतिक 60 अंक का तथा प्रायोगिक 40 अंक का होगा। सैद्धांतिक प्रश्न पत्र की परीक्षा का समय 2 घंटे होगा।
- रचनात्मक (Formative) तथा योगात्मक (Summative) दो प्रकार से मूल्यांकन होगा।
- रचनात्मक मूल्याकनः सैद्धांतिक के बीस (20) प्रतिशत का शिक्षक-अंकित-मूल्यांकन पत्र (Tutor Marked Assignment) है। इस पत्र के अंक अंक पत्रिका (Marks Sheet) में अलग से उल्लेखित होंगे।
- योगात्मक मूल्याकन- वर्ष में दो बार (अप्रैल-मई मास में और अक्तूबर-नवंबर मास में) सार्वजनिक परीक्षा (Public Eñam) होगी।
- प्रश्नपत्र में ज्ञान (Knowledge), अवगम (Understanding), अभिव्यक्ति/अनुप्रयोग कौशल (Eñpression/ Application skill) युक्त प्रश्न निर्धारित अनुपात से पूछे जायेंगे।
- परीक्षाओं में बहुविकल्पीय (Multiple Choice Question), अतिलघूत्तरीय (Very Short Answer), लघूत्तरीय (Short Answer) और निबन्धात्मक (Essay Type Question) प्रश्नों का समावेश होगा।
- उत्तीर्णता मापदंड (Passing Criteria)- कुल पूर्णाङ्क का तैतीस प्रतिशत (33%) अंक उत्तीर्णता का मानदंड है।

6. अध्ययन योजना (Scheme of Study)

- निर्देश भाषा (Medium of instruction) - हिंदी ।
- स्वाध्याय काल अवधि (Self-Study Hours) 240 घंटे।
- कम से कम तीस (30) संपर्क कक्षा (Personal Contact Programme - PCP) अध्ययन केंद्र में होगी। प्रायोगिक (Practical) प्रायोगिक पक्ष हेतु 5 वैयक्तिक संपर्क कक्षा (Personal Contact Programme) अलग से आयोजित की जाएंगी।
- भारांश-
    - सैद्धांतिक (Theory)- 60%
    - प्रायोगिक (Practical)- 40%

7. पाठ्य विषय के उद्देश्य तथा अंक विभाजन (Objectives of the Subject Matter and Division of Marks)

क्रम सं. (S.n.)	मॉड्यूल शीर्षक (Title of Mudule)	उपागम (Approach)	अंक भारांश (Welghtage)
1.	नाट्यकला का परिचय	इस मॉड्यूल में भारत की नाट्य परंपरा का परिचय तथा इतिहास के विषय में शिक्षार्थियों को अवगत कराते हुए नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय भी प्रस्तुत किया जाएगा। साथ ही नाट्य का अन्य कलाओं से किस प्रकार से संबंध है, इस विषय को भी रेखांकित किया गया है।	12
2.	नाट्य के प्रमुख अंग	इस मॉड्यूल में नाट्य के प्रमुख तत्त्वों-कथावस्तु, पात्र, रस तथा अभिनय का सामान्य परिचय देकर शिक्षार्थियों में नाट्य विषय के प्रति ज्ञान वृद्धि का प्रयास किया गया है।	12
3.	रस विमर्श	प्रस्तुत मॉड्यूल में रस की अवधारणा, रस-सूत्र का परिचय तथा विभिन्न मत और सहृदय की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है।	8
4.	भारतीय नाटकों का परिचय	इस मॉड्यूल में भारतीय नाटकों से प्रमुख नाटकों का चयन कर पूर्व में दिए गए सैद्धांतिक पक्ष के अनुप्रयोग को शिक्षार्थियों के सामने प्रस्तुत किया गया है।	20
5.	रंगमंच : तकनीक और अभिकल्पना	इस मॉड्यूल में रंगमंच तकनीक तथा अभिकल्पना से शिक्षार्थियों का परिचय करवाया गया है।	8
		महायोग	**60**
	प्रायोगिक पक्ष		
6	अभिनय के प्रकार : प्रायोगिक पक्ष	इस मॉड्यूल में चतुर्विध अभिनय-आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक अभिनय पर विस्तार से चर्चा की गई है। इसके अंतर्गत हम अभिनय के प्रायोगिक पक्ष पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है।	25
7.	नाट्य का प्रायोगिक पक्ष	इस मॉड्यूल में रंगमंच की तकनीकों को बताया गया है, साथ ही प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के प्रायोगिक पक्ष के माध्यम से नाट्य के प्रायोगिक पक्ष को बताया गया है।	15
		महायोग	**40**

8. पाठ्यविषय विवरण (Course Description)

माध्यमिक कक्षा हेतु नाट्यकला के पाठ्यक्रम में निम्न विषयवस्तु सम्मिलित हैं। संपूर्ण पाठ्य विषय को छः भागों (मॉड्यूल) भाग में विभक्त किया गया है। प्रत्येक भाग में कुछ पाठ, पाठों के शिक्षण के अधिगम, स्वाध्याय के लिए कितने घंटे, सैद्धांतिक परीक्षा में कितना भारांश (अंक), प्रायोगिक परीक्षा में कितने अंश आदि विषय यहां दिए गए हैं।

क्र.सं. (S.N.)	मॉड्यूल (Module)	पाठ (Lesson) शीर्षक (Title)	अधिगम के प्रतिफल (Learning out come)	अंक (Marks)	स्व अध्ययन के लिए घंटे (Study Hours)
1.	नाट्यकला का परिचय	पाठ-1: भारत की नाट्य परंपरा परिचय एवं इतिहास	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● भारतीय नाट्यकला का परिचय जानते हैं; ● नाट्यकला की उत्पत्ति सम्बन्धी जानकारी समझते हैं; ● नाट्यकला के विकास को जानते हैं; ● भारतीय नाट्यकला के विभिन्न स्वरूपों के विषय में जानते हुए उसके क्रमिक विकास को समझेंगे; ● भारतीय शास्त्र परम्परा के अन्तर्गत नाट्य के प्रमुख तत्त्वों को जान पायेंगे; और ● संस्कृत के प्रमुख नाटककारों एवं उनकी रचनाओं के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे।	12	36
		पाठ-2: नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● नाट्यशास्त्र का काल निर्धारण जानते हैं; ● नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय जानते हैं; और ● नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रमुख विषयों को जानते हैं।		

		पाठ–3: नाट्यकला तथा अन्य कलाएं	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● प्रमुख भारतीय कलाओं के विषय में जानते हैं; ● भारत की कलाओं के विकास समझते हैं; ● नाट्यकला का अन्य कलाओं से संबंध समझते हैं; और ● नाट्य प्रस्तुति में अन्य कलाओं के योगदान को जानते हैं।		
2.	नाट्य के प्रमुख अंग	पाठ–4: कथावस्तु परिचय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● नाट्य के अंग कथावस्तु की संकल्पना को जानते हैं; ● नाट्य की कथावस्तु के भेदों को जानते हैं; ● कथावस्तु के भेदों के उदाहरणों को जानते हैं; और ● नाट्य में सन्ध्यंगों को जानते हैं।	12	36
		पाठ–5: पात्र योजना	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● नाट्य में पात्र–योजना की संकल्पना को जानते हैं; ● नाट्य में नायक एवं नायिका के भेदों को जानते हैं; ● पात्रों के भेदों को उदाहरण सहित जानते हैं; और ● नाट्य में नायक व नायिका के अन्य सहायक पात्रों का जानते हैं।		
		पाठ–6: अभिनय परिचय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● अभिनय का सामान्य परिचय जानते हैं; ● अभिनय के प्रकारों को जानते है; ● अभिनय के प्रकारों का संक्षिप्त परिचय जानते हैं; और ● आधुनिक नाटकों में अभिनय में आए बदलावों को जानते हैं।		

3.	रस विमर्श	पाठ-7: रस की अवधारणा तथा रस सूत्र विमर्श	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● रस का सामान्य परिचय जानते हैं; ● विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के स्वरूप के विषय में जानते हैं; ● रस के प्रकार और लक्षणों के विषय में जानते हैं; ● रससूत्र विमर्श को समझते हैं; और ● रस के साधारणीकरण को समझते है।	8	24
		पाठ-8: सहृदय की अवधारणा	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● सहृदय का सामान्य परिचय जानते हैं; ● सहृदय की योग्यता को समझते हैं; ● रस और सहृदय का सम्बन्ध स्थापित कर पाते हैं; और ● रसानुभूति में सहृदय और साधारणीकरण की भूमिका को समझते हैं।		
4.	भारतीय नाटकों का परिचय	पाठ-9: प्रतिमानाटक	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● कवि भास के विषय में जानते हैं; ● प्रतिमानाटक नाटक का सामान्य परिचय जानते हैं; ● प्रतिमानाटक नाटक की कथावस्तु को जानते हैं; ● प्रतिमानाटक नाटक के पात्रों का चरित्र चित्रण जानते हैं; और ● प्रतिमानाटक नाटक की रंग संभावनाओं को जानते हैं।	20	48

		पाठ-10: नागानन्द	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● कवि श्रीहर्ष के विषय में जानते हैं; ● नागानन्द नाटक का सामान्य परिचय जानते हैं; ● नागानन्द नाटक की कथावस्तु को जानते हैं; ● नागानन्द नाटक के पात्रों का चरित्र चित्रण जानते हैं; और ● नागानंद नाटक की रंग संभावनाओं को जानते हैं।		
		पाठ-11: कुंदमाला	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● कुंदमाला नाटक के रचनाकार कवि दिङ्नाग का परिचय जानते हैं; ● कुंदमाला नाटक के कथावस्तु को जानते हैं; ● कुंदमाला नाटक के पात्रों का चरिच चित्रण जानते हैं; ● कुंदमाला नाटक में प्रयुक्त नाट्ययुक्तियों को जानते हैं; और ● कुंदमाला नाटक के सैद्धांतिक अनुप्रयोग को जानते हैं।		
		पाठ-12: भारत दुर्दशा	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● भारत दुर्दशा नाटक के रचनाकार श्री भारतेंदु हरिश्चंद्र के विषय में जानते हैं; ● भारत दुर्दशा नाटक के कथानक के विषय में जानते हैं; ● भारत दुर्दशा नाटक के पात्रों के चरित्र चित्रण को जानते हैं; और ● भारत दुर्दशा नाटक की शैली को समझते हैं।		

5.	रंगमंच: तकनीक और अभिकल्पना	पाठ-13: रंगमंच: परिचय तथा प्रकार	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● रंगमंच का सामान्य परिचय जानते हैं; ● रंगमंच के उद्भव और विकास को जानते हैं; ● नाट्यमंडप को जानते हैं; ● आदिकालीन रंगमंच के स्वरूपों को जानते हैं; ● नाट्यशास्त्र में उल्लेखित रंगमंच को जानते हैं; ● रंगमंच के प्रकारों को जानते हैं; और ● समकालीन भारतीय रंगमंच का सामान्य परिचय जानते हैं।	8	24
		पाठ-14: रंगसंगीत	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● रंगसंगीत का सामान्य परिचय जानते हैं; ● रंगसंगीत के प्रकारों को जानते हैं; ● रंगसंगीत का नाट्य मंचन में योगदान को समझते हैं; ● रंगसंगीत और रस को समझते हैं; ● नाट्य के साधारणीकरण में रंगसंगीत की उपादेयता को जानते हैं; और ● आधुनिक रंगसंगीत के विषय में जानते हैं।		
	प्रायोगिक पक्ष				
6	अभिनय के प्रकार : प्रायोगिक पक्ष	पाठ-1: आंगिक अभिनय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● आंगिक अभिनय का सामान्य परिचय जानते हैं; ● मुखजाभिनय को समझते हैं और स्वयं से अभिनय कर पाते हैं; ● शरीराभिनय को समझते हैं और स्वयं से अभिनय कर पाते हैं; ● चेष्टाक्रियाभिनय को समझते हैं और स्वयं से अभिनय कर पाते हैं; ● सामान्याभिनय को जानते हैं और स्वयं से अभिनय कर पाते हैं;	25	48

		● आभ्यंतराभिनय को जानते हैं और स्वयं से अभिनय कर पाते हैं; और ● बाह्याभिनय को समझते हैं और स्वयं से अभिनय कर पाते हैं;		
	पाठ–2: वाचिक अभिनय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● वाचिक अभिनय का सामान्य परिचय जानते हैं; ● स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार तथा अंगों के विषय में जानते हैं तथा तदनुरूप अभिनय कर पाते हैं और ● चित्राभिनय तथा सामान्याभिनय के प्रयोग में वाचिक अभिनय के महत्व को जानते हैं तथा तदनुरूप अभिनय कर पाते हैं;		
	पाठ–3: आहार्य अभिनय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● आहार्य अभिनय के विषय में जानते हैं; ● आहार्य अभिनय की प्रमुख विधियों को जानते हैं; ● पुस्त रचना के विषय में जानते हैं और पुस्त रचना का निर्माण कर पाते हैं; ● अलंकरण की विधियों को जानते हैं तथा उनका निर्माण कर पाते हैं; ● अंग रचना के विषय में जानते हैं तथा संयुक्त वर्णों का प्रयोग कर पाते हैं; ● संजीव के विषय में जानते हैं संजीव का निर्माण कर पाते हैं; और ● नाट्य में आहार्य अभिनय की उपयोगिता समझते हैं।		
	पाठ–4: सात्त्विक अभिनय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● सात्त्विक अभिनय के विषय में जानते हैं; ● रस के विषय में जानते हैं और तदनुरूप सात्त्विक अभिनय कर पाते हैं;		

			● भाव के विषय में जानते हैं; और ● अभिनय में सत्व के महत्व को जानते हैं।		
7.	नाट्य का प्रायोगिक पक्ष	पाठ–5: रंगमंच तकनीक : एक परिचय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● रंगमंच तकनीक का सामान्य परिचय जानते हैं; ● रंगमंच तकनीक की प्राचीन विधाओं को जानते हैं; ● रंगमंच तकनीक की आधुनिक विधाओं को जानते हैं; ● रंगसज्जा का नाट्य प्रस्तुति में महत्व समझते हैं; ● नाट्य मंचन में प्रकाश और ध्वनि का महत्व जानते हैं; और ● प्रकाश-ध्वनि प्रस्तुति के विभिन्न प्रकारों को जानेंगे।	15	24
		पाठ–6: प्रबोधचन्द्रोदय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● प्रबोधचंद्रोदय नाटक के रचनाकार श्रीकृष्ण मिश्र के विषय में जानते हैं; ● प्रबोधचंद्रोदय नाटक के कथानक के विषय में जानते हैं; ● प्रबोधचंद्रोदय नाटक के पात्रों का चरित्र चित्रण जानते हैं; और कथावस्तु के मनुष्य पात्रों का अभिनय कर पाते हैं; और ● प्रबोधचंद्रोदय नाटक में प्रयुक्त नाट्ययुक्तियों के विषय में जानते हैं।		
			महायोग	**100**	**240**

प्रश्नपत्र प्रारूप

(Question Paper Design)

विषय- नाट्यकला (285) — स्तर-माध्यमिक

परीक्षाकालावधि (Time)-2 घंटे — पूर्णाङ्क- 60

लक्ष्यानुसार अंक विभाजन

विषय	अंक	प्रतिशत	योग
ज्ञान (Knowledge)	15	25%	15
अवबोध (Understanding)	30	50%	30
अनुप्रयोग कौशल (Application Skill)	15	25%	15
महायोग	**60**		**60**

प्रश्न प्रकार अनुसार अंक विभाजन

प्रश्न प्रकार	प्रश्न संख्य	अंक	योग
दीर्घोत्तरीय प्रश्न (LA)	2	6	12
लघूत्तरात्मक प्रश्न (SA)	2	3	06
सुलघूत्तरीय प्रश्न (VSA)	6	2	12
बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQ)	30	1	30
महायोग	**40**		**60**

पाठ्य विषय विभाग अनुसार भारांश-सैद्धांतिक

विषय घटक	अंक	स्वाध्यायाय के घंटे
1. नाट्यकला का परिचय	12	36
2. नाट्य के प्रमुख अंग	12	36
3. रस-विमर्श	08	24
4. भारतीय नाटकों का परिचय	20	48
5. रंगमंच : तकनीक और अभिकल्पना	08	24
महायोग	**60**	**168**

प्रश्नपत्र का काठिन्य स्तर

प्रश्न स्तर	अंक
कठिन (Difficult)	25
मध्यम (Medium)	50
सरल (Easy)	25

पाठ्य विषय विभाग अनुसार भारांश-प्रायोगिक (केवल प्रयोगिक प्रश्न पत्र हेतु)

विषय घटक	अंक	स्वाध्यायाय के घंटे
6. अभिनय के प्रकार : प्रायोगिक पक्ष	25	48
7. नाट्य का प्रायोगिक पक्ष	15	24
महायोग	**40**	**72**

नाट्यकला (285)

आदर्श प्रश्न पत्र

स्तर–माध्यमिक

अधिकतम अंक–60 | समय अवधिः 2.00 घंटे

(अ) प्रश्न संख्या 1 से 30 बहुविकल्पीय प्रश्न हैं। **1×30=30**

1. नाट्यशास्त्र में कितने अलंकार उल्लेखित हैं।

   क) दो

   ख) तीन

   ग) चार

   घ) पांच

2. इनमें से कौन–सा अलंकार नाट्यशास्त्र में उल्लेखित नहीं है।

   क) यमक

   ख) दीपक

   ग) रूपक

   घ) श्रृंगार

3. किस ग्रंथ में आचार्य भरत का स्पष्ट उल्लेख मिलता है–

   क) याज्ञवल्क्य स्मृति

   ख) मनुस्मृति

   ग) अग्निपुराण

   घ) गरुड़पुराण

4. अभिनव भारती टीका की प्रस्तावना के अनुसार नाट्यशास्त्र में कितने अध्याय थे–

   क) 34वें

   ख) 35वें

   ग) 36वें

   घ) 37वें

5. नाट्यशासत्र के किस अध्याय में काकू, स्वर तथा इनके प्रकारों की चर्चा की गई है–

    क) 18वें

    ख) 19वें

    ग) 20वें

    घ) 21वें

6. इनमें से कितना तात्पर्य बरामदे से है–

    क) षड्दारुक

    ख) दारूकर्म

    ग) मत्तवारणी

    घ) यवनिका

7. नाटकीय कथावस्तु को मुख्यत: कौन फल्गारस तक ले जाता है–

    क) नायक

    ख) प्रतिनायक

    ग) सहनायक

    घ) नायिका

8. प्रकरण का नायक सामान्यत: किस श्रेणी में आता है।

    क) धीरललीत

    ख) धीर प्रशांत

    ग) धीरोदात्त

    घ) धीरोदत्त

9. नागानंद नाटक का नायक जीमूतवाहन किस श्रेणी का नायक है–

    क) धीरोद्धत्त

    ख) धीरललीत

    ग) धीरप्रशांत

    घ) धीरोदात्त

10. नायक के अलावा नाटक का मुख्य पात्र जो नायक कि तुलना में कुछ गुण हीन होते हैं, कहलाता है–

    क) प्रतिनायक

    ख) सहनायक

    ग) उपनायक

    घ) विदूषक

11. मुख्य नायक के निकट रहने वाले संधि–विग्रह आदि राजकीय कार्यों में सलाह देने वाला पात्र है–

    क) कंचुरी

    ख) प्रतिहारी

    ग) विट

    घ) वेट

12. परकीया नायिका के कितने भेद होते हैं–

    क) दो

    ख) तीन

    ग) चार

    घ) पांच

13. जो काव्य–नाटकादि से आनंद प्राप्त करने की क्षमता रखता है कहलाता है–

    क) लेखक

    ख) दर्शक

    ग) सहृदय

    घ) श्रोता

14. इनमें से क्या सहृदय की विशेषता नहीं है–

    क) चित्त की विशदत

    ख) स्वहृदय संवाद भाजकता

    ग) कार्य करने का अभाव

    घ) वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता

15. उत्पत्तिवाद मत किसका है-

    क) आचार्य शंकुर

    ख) आचार्य भट्लोल्लट

    ग) आचार्य अभिनवगुप्त

    घ) आचार्य भरत

16. किनका मानना है कि सहृदय काव्य-नाट्क का बार-बार मनन कर विभाव-अनुभाव आदि का साधारीकरण करता है-

    क) आचार्य भरत

    ख) आचार्य शंकुर

    ग) आचार्य जगन्नाथ

    घ) आचार्य अभिनवगुप्त

17. निम्न में से किसके बाद में रसानुभाव में अभिनव गुप्त की साधारीकरण की मान्यता का अनुसरण किया-

    क) आचार्य विश्वनाथ

    ख) आचार्य शंकुर

    ग) आचार्य जगन्नाथ

    घ) आचार्य भट्टलोल्लट

18. सर्वप्रथम नाटक देखकर रामादि का विशेषारूप जिस माध्यम से प्रतीत होता है उसे कहते हैं-

    क) अमिधा व्यापार

    ख) लक्षण व्यापार

    ग) व्यंजना व्यापार

    घ) अमिधा लक्षण व्यापार

19. कुंदमाला नाटक के रचनाकार है-

    क) श्रीहर्ष

    ख) दिंगनाग

    ग) कालिदास

    घ) भवमूति

20. कुंदमाला नाटक का प्रकाशन सर्वप्रथम किस वर्ष में हुआ-

    क) 1921 ई.

    ख) 1922 ई.

    ग) 1924 ई.

    घ) 1923 ई.

21. कुंदमाला नाटक का नायक है-

    क) श्रीकृष्ण

    ख) बलराम

    ग) राम

    घ) लक्ष्मण

22. कुंदमाला नाटक का नायक किस श्रेणी का है-

    क) धीरोदात्त

    ख) धीरोद्धत्त

    ग) धीरललित

    घ) धीर प्रशांत

23. श्री दिंगनाग का समय क्या है-

    क) 1000 ई.

    ख) 1200 ई.

    ग) 1300 ई.

    घ) 1400 ई.

24. क्या कुंदमाला नाटक के अंत में कौन पृथ्वी में समा जाता है-

    क) राम

    ख) सीता

    ग) लक्ष्मण

    घ) कोई नहीं

25. भारत दुर्दशा नाटक के रचनाकार हैं–

क) श्री हर्ष

ख) प्रेमचंद

ग) भारतेन्दु हरिश्चंद

घ) मैथिलीशरण गुप्त

26. भारत दुर्दशा नाटक किस वर्ष में लिखा गया था–

क) 1880 ई.

ख) 1825 ई.

ग) 1890 ई.

घ) 1870 ई.

27. भारत दुर्दशा नाटक लिखते समय इसके नाटककार किस आयु के थे–

क) 30 वर्ष

ख) 35 वर्ष

ग) 40 वर्ष

घ) 45 वर्ष

28. इनमें से कौन–सी रचना भारतेन्दु हरिश्चन्द की नहीं है–

क) प्रेमयोगिनी

ख) चंद्रावली

ग) भारत जननी

घ) गौदान

29. भारत दुर्दशा नाटक किस नाटक के समकक्ष है–

क) अभिज्ञानशकुंतला

ख) प्रबोधचन्द्रोदय

ग) प्रतिमानाटक

घ) मृच्छकटिक

30. दुर्दशा नाटक में सभा का दृश्य किस अंश में है-

क) दूसरे

ख) तीसरे

ग) पांचवें

घ) चौथे

(ब) प्रश्न संख्या 31 से 34 का उत्तर लगभग 25 शब्दों में दिया जाना है। **2×4=08**

31. सहृदय किसे कहते हैं?

32. सहृदय के साधारीकरण से आप क्या समझते हैं?

33. तमन्यता क्या है?

34. साधारीकरण की आवश्यकता क्यों पड़ती है?

(स) प्रश्न संख्या 35 से 38 का उत्तर लगभग 40-50 शब्दों में देना है। **3×4 = 12**

35. आचार्य अभिनव गुप्त के मत में साधारीकरण क्या है?

36. आचार्य जगन्नाथ किसका साधारीकरण स्वीकार करते हैं?

37. अभिनव के स्वरूपों को स्पष्ट कीजिए?

38. आंगिक अभिनव पर एक टिप्पणी लिखिए?

(द) प्रश्न संख्या 39 से 40 का उत्तर लगभग 150-200 शब्दों में दिया जाना है। **5×2=10**

39. भारत में कलाओं के विकास पर एक निबंध लिखिए

40. आदिकालीन रंगमंच के स्वरूप पर विस्तार से चर्चा कीजिए।

उत्तरमाला

1.	(ग)	2.	(घ)	3.	(क)	4.	(ग)	5.	(ख)
6.	(ग)	7.	(क)	8.	(ख)	9.	(घ)	10.	(ग)
11.	(ख)	12.	(क)	13.	(ग)	14.	(ग)	15.	(ख)
16.	(ग)	17.	(क)	18.	(क)	19.	(ख)	20.	(ग)
21.	(ग)	22.	(क)	23.	(क)	24.	(घ)	25.	(ग)
26.	(क)	27.	(ख)	28.	(घ)	29.	(ख)	30.	(ग)

31. 'सहृदय वह व्यक्ति है जो काव्य नाटक आदि से आनंद प्राप्त करने की क्षमता रखता है।'

32. सहृदय संसार के राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदि भावों को काव्य-नाटक में वर्णित भावों से विचलित न होकर इसमें रसास्वादन करता है।

33. तन्मयीभाव अथवा तादात्म्य की अवस्था में कवि की मनोदशा का भेद मिट जाता है।

34. रसानुभूति के लिए

35. साधारणीकरण होने पर सहृदय विभावादि देश काल की सीमा से परे हो जाता है।

36. भट्टनायक का।

37. दृश्य काव्य को अभिनेय कहा गया है। अभिनेय का अर्थ है - अभिनययोग्य काव्य। शास्त्रीय-दृष्टि से जब अभिनय तत्त्व पर विचार करते हैं तो हमारा ध्यान सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र के उस कथन में केन्द्रित हो जाता है जहाँ नाट्य नामक पंचमवेद अर्थात् नाट्यवेद के लिए चार अनिवार्य तत्त्वों की चर्चा की गई है। तत्त्वविद् ब्रह्मा ने पाठ्य, गीत, अभिनय और रस - इन चार तत्त्वों का ग्रहण चारों वेदों से किया। उन्होंने पाठ्य का ग्रहण ऋग्वेद से, गीत का सामवेद से, अभिनय का यजुर्वेद से एवं रसों का अथर्ववेद से किया और चारों तत्त्वों के संयोजन से नाट्यवेद की रचना की।

    नाट्य के लिए आवश्यक इन चार तत्त्वों में प्रत्येक की महत्ता है, किन्तु उपर्युक्त चार तत्त्वों में अभिनय नाट्य का अभिनय अंग होने से सर्वप्रधान तत्त्व है। नाट्य तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन होता है- **त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तम्।** यद्यपि कई स्थलों पर अनुकीर्तन अनुकरण के रूप में प्रयुक्त होता है तथापि अनुकीर्तन अनुकरण से भिन्न होता है। अनुकीर्तन का सम्बन्ध विभावादि-विशिष्ट से है और इसके द्वारा साधारणीकृत रूप का ग्रहण होता है जबकि अनुकरण का सम्बन्ध प्रत्यक्ष से है। साधारणीकृतरूप होने पर ही सामाजिक का नट के अनुव्यवसायरूप अनुकीर्तन से सम्बन्ध होता है, जिससे रसानुभूति होती है। नाट्य के अन्तर्गत नटादि या अभिनेतादि लोक के अनुरूप ही अभिनय करता है। लोक का जो सुख-दुःखमय स्वभाव है, वही आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य आदि अभिनयों से युक्त होकर नाट्य कहलाता है। वस्तुतः नाट्य ही अभिनय है और अभिनय ही नाट्य है।

अभिनीयते इति अभिनयः –अर्थात् साक्षात्कारात्मक रूप से नाटकीय कार्यव्यापार को दर्शक तक पहुँचाना अभिनय है। **अभि अभिमुखे नयति इति अभिनयः** अर्थात् नाट्यप्रयोग को सामाजिकों के सम्मुख ले जाना अभिनय है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कहना है कि साक्षात्कारात्मक रूप से अभिनेतव्य अर्थ जिसके द्वारा सामाजिकों के पास पहुँचाया जाता है, वह अभिनय है। नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरत कहते हैं कि अभि उपसर्गपूर्वक णीञ् (नी) प्रापणे धातु से अच् प्रत्यय लगकर अभिनय शब्द सम्पन्न होता है, जिसका अर्थ आभिमुख्यनयन है अर्थात् नाट्यप्रयोग के अर्थों को प्रेक्षकों अथवा सामाजिकों के अभिमुख ले जाना अभिनय है। आचार्य भरत कहते हैं कि शाखा, अंग, उपांगों से युक्त अभिनय प्रयोग के द्वारा नाट्य के नानाविध अर्थों को सामाजिकों के हृदय में रसास्वादन कराये जाने के कारण ही अभिनय कहलाता है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने अवस्था के अनुकरण को अभिनय कहा है- **'भवेदाभिनयोऽवस्थानुकारः'।** यहाँ अभिनेता या नटादि मन, वचन एवं शरीरादि के द्वारा अभिनेय रामयुधिष्ठिरादि की अवस्थाओं का अनुकरण करते हैं। वस्तुतः अभिनय एक यौगिक साधना की तरह होता है जिसमें शरीर, मन, वाणी, हस्त, पादादि सभी की एकाग्रता एवं संयमादि की पूर्ण आवश्यकता है। अभिनयकाल में इन विविध अवयवों पर नियंत्रण रखते हुए उसका भावानुकूल प्रयोग किया जाता है।

38. आङ्गिक अभिनय - अङ्गेन कृतं आङ्गिकं- अर्थात् शरीर के विविध अंगों के द्वारा प्रदर्शित किया जाने वाला अभिनय आङ्गिक अभिनय है। यहाँ नट अपने शरीर के विविध अंगों, उपांगों और प्रत्यंगों के द्वारा रामादि अनुकार्य की विवध चेष्टाओं का सामाजिकों के समक्ष साक्षात् प्रदर्शन करता है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र भी आङ्गिक अभिनय के स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अंगों और उपांगों के द्वारा कार्यों का साक्षात्कार करना आंगिक अभिनय है। आचार्य भरत आंगिक अभिनय के तीन प्रकारों की चर्चा करते हैं - शरीरज, मुखज और चेष्टाकृत (चेष्टाक्रियाभिनय)।

39. 1. **स्थापत्य या वास्तुकला का क्रमिक विकास**

भवन-निर्माण एवं शिल्प-विज्ञान का नाम वास्तुकला है। वास्तुकला का उद्भव एवं विकास मानव-सभ्यता के विकास के साथ सम्बद्ध है। प्राणीमात्र में आत्मरक्षा एवं सुख-प्राप्ति की भावना सहज रूप से होती है। अतः मनुष्य ही नहीं सम्पूर्ण विश्व के प्राणीजगत में गृह-निर्माण की भावना पाई जाती है। इससे वास्तु अथवा स्थापत्य कला के विकास की कल्पना सभ्यता के आरम्भ से की जाती है। ऋग्वेद के अन्तर्गत स्तम्भों से युक्त भवन, पत्थर निर्मित मकान, लोहे और पत्थर से निर्मित नगर आदि कतिपय वास्तुकला सम्बन्धी वर्णन वैदिककाल में विकसित वास्तुकला की ओर संकेत करते हैं।

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की संस्कृति एवं सभ्यता तथा उनका नागरिक जीवन इस बात का प्रतीक है कि भारत में वास्तुकला का इतिहास वैभवपूर्ण रहा है। लगभग 3250 ई.पू. से 2750 ई.पू. की इस सभ्यता की खुदाई में प्राप्त अवशेषों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उस काल में नगर, भवन, सड़क आदि का निर्माण एक निश्चित योजना के आधार पर किया जाता था। वहाँ से उपलब्ध अवशेषों के द्वारा उस काल की वैभवपूर्ण विकसित वास्तकला का परिलक्षण होता है। कालान्तर में 322 ई.पू. से 190 ई.पू. के मध्य में रहे मौर्यकाल की स्थापत्य-कला का विस्तृत वर्णन स्वयं सेल्यूकस के राजदूत मेगस्थनीज ने अपनी कृति 'इंडिका' में पाटलिपुत्र नगर, चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यभवन के अद्भूत उदाहरण के रूप में दिया है। मौर्यकाल में वास्तुकला का विकास अशोक के शासनकाल में बृहद रूप से दृष्टिगोचर होता है, यथा - अशोक के स्तम्भ, स्तूप, कश्मीर में श्रीनगर तथा नेपाल में ललितपाटन नामक नगर-निर्माण इत्यादि शुंगों का युग मौर्यकाल का ही विस्तार माना

गया है। इस काल में अनेक स्तूपों, वेदिकाओं, स्तम्भों तथा दुर्ग स्थापत्य आदि के माध्यम से स्थापत्य कला विकसित होती रही। द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से द्वितीय शताब्दी ईस्वी तक यवन, शक तथा कुषाणों के शासनकाल में गंधारकला से प्रभावित भारतीय स्थापत्य, तक्षशिला, मार्त्तण्ड मन्दिर आदि कुछ अद्‌भुत एवं उज्ज्वल प्रमाण वर्तमान काल में भी देखे जाते हैं। लगभग 275 ई. से 510 ई. तक का गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्ण काल माना जाता है परन्तु इस काल में स्थापत्य की प्रचुरता का अभाव देखा जाता है। नि:सन्देह इस काल की गुफाएँ, स्तम्भ, ईटों के मन्दिर आदि विशिष्ट वास्तु-शिल्प को परिलक्षित करती हैं। इस प्रकार मध्यकालीन भारत में भी स्थापत्य-कला का विधिवत् विकास होता रहा। स्थापत्य के दो विशिष्ट भाग किये गए हैं- धार्मिक और लौकिक। धार्मिक के अन्तर्गत मन्दिर, स्तूप आदि तथा लौकिक स्थापत्य के अन्तर्गत वार्ता, सेतुबन्ध, प्रासाद (महल) आदि। इसी शृंखला में मन्दिरों के तीन प्रकार का विकास हुआ- नागर, वेसर और द्राविड़। कालान्तर में विदेशियों के भारत में आगमन के पश्चात् पारम्परिक वास्तुकला में अनेक परिवर्तन हुए, जैसे- इस्लाम के भारत में आगमन के पश्चात् भारतीय वास्तुकला के विविध रूप प्रकाश में आए। ताजमहल, कुतुबमीनार, जामा मस्जिद इत्यादि भारत ही नहीं वैश्विक स्तर पर वास्तुकला के अनुपम उदाहरण एवं समृद्ध इतिहास के परिचाक हैं।

2. मूर्तिकला का विकास

कला के इतिहास में मूर्तिकला का इतिहास पुरातन है। भारतीय मूर्तिकला निरन्तर विकासशील रही है। अत: युग परिवर्तन के साथ कला-शैली में भी परिवर्तन व परिवर्धन होते रहे हैं। सर्वप्रथम ईसा पूर्व चतुर्थ शतक से पूर्व का युग प्राक् मौर्य का है जिसमें तीन सभ्यताओं की सामग्रियाँ हैं। इस काल में कांसे की नर्तकी, सांचों की उभरी मुहरों पर पशुओं की आकृतियाँ, मिट्टी और पत्थर की मूर्तियाँ इत्यादि प्रमुख रूप से मूर्तिकला के स्वरूप का प्रतिपादन करती हैं। मौर्यकाल में मूर्तिकला का रूपायन, आवयवीय यथार्थता, आकर्षण-सौन्दर्य सभी अभूतपूर्व प्रतीत होते हैं। अशोक के स्तम्भ, सारनाथ के स्तम्भ आदि मूर्तिकला, शानीलता, शान्त मुद्रा, ऐश्वर्य तथा राजत्व की परिचायिका है। वस्तुत: इन्हीं कारणों से भारत सरकार द्वारा उस शीर्ष की आकृति को अपनी मुद्रा में ढाल लिया गया। शुंग युग में मूर्तिकल का विकास राष्ट्रीय कला के रूप में हुआ। भरहुत और सांची के स्तूपों की वेष्टनी (रेलिंग) शुंग काल (150 ई.पू.-73 ई.पू.) में ही बनी। बोधगया, मथुरा, पटना आदि में शुंगकालीन मूर्तियाँ, वेष्टनी, प्रतिमाएँ आदि प्राप्त होती हैं जो उस समय की समृद्ध मूर्तिकला के निरन्तर विकास को प्रतिपादित करती है। कालान्तर में शक-कुषाण वंशों का विस्तार भारत में देखा गया वह ईस्वी पूर्व प्रथम शती में आरम्भ होकर तीसरी शती तक चला। पत्थर और मिट्टी से मूर्तिकला की विकसित स्थिति इस युग में प्रकृष्ट रूप से प्राप्त होती है। कुषाण युग में पत्थर पर उकेरी प्रतिमाओं के अतिरिक्त स्वतन्त्र मूर्तियाँ, बुद्ध की खड़ी-बैठी मूर्तियाँ, बोधिसत्वों के प्रतीक आदि का समृद्ध विकास हुआ। लगभग 275 ई.पू. से 500 ई.पू. तक के गुप्तकाल को स्वर्ण युग तथा नवीन संस्कृति का युग माना गया जिसमें सभी पौरणिक देवताओं की स्वतन्त्र प्रतिमाओं का विकास हुआ। गुप्तकाल की मूर्तिकला न तो शुंगकाल सी चिपटी, न कुषाणकाल सी गोल अपितु गांधार शैली सी अंडाकार प्रकृत हो गयी। इसके अतिरिक्त गुप्तकाल में पर्याप्त मात्रा में तांबे और पीतल की मूर्तिकला का विकास हुआ। इसके आगे पूर्वमध्य युग में अधिकतर मन्दिर-मूर्तियों के विकास की धारा दृष्टिगोचर होती है। अजन्ता एलोरा, दशावतकार गुफा, एलिफैंटा आदि की गुफाओं में प्राप्त प्रतिमाओं द्वारा मूर्तिकला के अद्‌भुत एवं विस्तृत परम्परा का ज्ञान होता है। उत्तर मध्य युग की अधिकांश मूर्तियाँ मन्दिरों के

बाह्य अलंकार के रूप में देखी जा सकती है। प्रागाधुनिक युग में आक्रान्ताओं के आक्रमण के फलस्वरूप भारतीय पारम्परिक मूर्तिकला की क्षति हुई। उत्तरभारत के असंख्य मन्दिर एवं उनमें उपस्थित मूर्तियों को ध्वस्त कर दिया गया परन्तु दक्षिण में मन्दिर-निर्माण का कार्य विशेष निष्ठा से चलता रहा। ग्यारहवीं सदी में चोल राजाओं द्वारा निर्मित मन्दिर एवं मूर्तियाँ, बाहरवीं सदी में चालुक्य एवं होयसल मन्दिरों की मूर्तिकला, सातवीं सदी के पल्लव द्वारा निर्मित रथ मन्दिर, मनुष्य, पशुओं, देव-देवताओं आदि की प्रतिमाओं के द्वारा तत्कालीन युग का मूर्तिकला का स्वरूप परिलक्षित होता है। चौदहवीं से सोलहवीं सदी तक दक्षिण में हिन्दू राजाओं के प्राबल्य के फलस्वरूप नृसिंह, रामायण-कथा सम्बन्धी मूर्तिकला का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है। आधुनिक युग आने पर मूर्तिकला का प्रयोग सजावट के रूप में होने लगा। यूरोपीय मूर्तिकला के नये प्रयोगों का स्पष्ट प्रभाव भारतीय मूर्तिकला पर देखा जा सकता है।

3. चित्रकला का विकास

भारतीय इतिहास में चित्रकला को भी अन्य कलाओं के सदृश अतिप्राचीन रही है। प्राचीन की दृष्टि से मिर्जापुर और मध्यप्रदेश में प्राप्त रेखाचित्र प्रस्तरयुगीन है किन्तु शास्त्रीय चित्रकला की दृष्टि से ईसापूर्व तृतीय शताब्दी से भारतीय चित्रकला के प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। चित्रकला की सम्पदा मूर्तिकला की ही भाँति भारत में परिपूर्ण रही है। वर्तमान समय में चित्रकला की अनेक शैलियाँ प्राप्त होती हैं जिनका विकास कालान्तर में होता रहा होगा। निश्चित रूप से मानव की भाव-चेतनाओं की अभिव्यक्ति हेतु यह कला प्रारम्भ हुई होगी जो निरन्तर परिवर्तित एवं परिवर्धित होकर अपने विकसित रूप को प्राप्त करती रही। भारत में चित्रकला की प्रमुख छः शैलियाँ दर्शनीय हैं- (क) अजंता शैली, (ख) गुजरात शैली, (ग) मुगल शैली, (घ) राजपूत शैली, (ङ) दकनी शैली, (च) वर्तमान शैली। इनमें अजंता शैली का प्रभाव एक समय सम्पूर्ण भारत में किसी न किसी रूप में रहा जिसका उदय हैदराबाद राज्य के सह्याद्रि की गुफाओं में हुआ। गुजरात शैली पश्चिमी भारत, गुजरात सौराष्ट्र आदि की स्थानीय शैली थी। इसे जैन शैली भी कहते हैं। मुगल शैली भी अजंता शैली की भाँति सम्पूर्ण देश में व्याप्त रही। इसका प्रमुख केन्द्र दिल्ली, आगरा आदि के रूप में देखा जाता है। राजपूत शैली राजस्थान, बुंदेलखड, पंजाब, हिमालय के क्षेत्रों में उत्पन्न होकर सम्पूर्ण देश में विकीर्ण हुई। स्थानीय विशेषताओं के आध ार पर इसकी अनेक उपशैलियाँ बन गयीं जिसे कलम कहते हैं, जैसे- पहाड़ी, जम्मू, कांगड़ा, बशोली आदि। दकनी शैली अधिकतर राजस्थानी एवं मुगल शैलियों के समन्वय से उत्पन्न हुई। वर्तमान शैली यूरोपीय प्रभाव से उत्पन्न है जो निरन्तर प्रयोगावस्था में है।

चित्रकला दो प्रकार के माने गये है- भित्तिचित्र और प्रतिकृति। भवन की दीवारों, गुफाओं पर जो चित्र अंकित किये गए उन्हें भितिचित्र कहते है। जैसे- जोगीमारा, अजन्ता, मध्य एशिया आदि में इसी प्रकार के भित्तिचित्रकला का विकास होता रहा है। प्रतिकृति चित्रण एक व्यक्ति अथवा अनेक व्यक्तियों की अनुकृति को कहते है। इसमें एक व्यक्ति बिम्ब या मॉडल का कार्य करता है। भारतीय साहित्य में दोनों प्रकार के चित्रों का उल्लेख मिलता है। कालिदास, भारवि, भवभूमि आदि महाकवियों द्वारा तथा जातक कथाओं, पालि तथा हिन्दी साहित्य आदि में दोनों प्रकार की चित्रकलाओं के विकास का उल्लेख मिलता रहा है।

4. **संगीतकला का विकास**

गायन, नर्तन और वादन को समाहार रूप को संगीत कहते हैं। जो एक शास्त्रीय पद्धति की ओर संकेत करता है। संगीतकला का विकास भारत के प्राचीन इतिहास में सर्वत्र परिलक्षित होता है। ऋग्वेद की ऋचाओं में संगीत को इष्ट के रूप में वर्णित कर विकसित कर दिया गया जो सामवेद के रूप में प्रस्तुत होता है। कालान्तर में गन्धर्व वेद का भी प्रणयन हुआ जिसमें संगीत की प्रथम शास्त्रीय पद्धति के निरूपण का संकेत मिलता है।

वैदिक काल के अनन्तर भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में संगीत का कालान्तर में अनेक काव्यों में संगीत का उल्लेख होता रहा। कालिदास के काल में भारतीय शास्त्रीय संगीत का पर्याप्त विकास हो चुका था। उनके द्वारा संगीत अभिनय के कला सिद्धान्त राग, विभिन्न प्रकार के वाद्य यन्त्रों का उल्लेख उनकी रचनाओं में किया गया है। लोचन कवि की राजतंरगिणी (12वीं शताब्दी) शाङ्र्गदेव का संगीतरत्नाकर (13वीं शताब्दी) रागमाला, रागमंजरी, सोमनाथ का रागविबोध (1610 ई.) दामोदर मिश्र का संगीतदर्पण (1625 ई.) इत्यादि प्रसिद्ध रचनाएँ संगीतशास्त्र का निरन्तर विकसित रूप प्रस्तुत करतीहै।

सत्रहवीं सदी के अन्त में भवभद द्वारा अनुपविलास, अनूपांकुश और अनुपतंत्र का प्रणयन किया गया। अठारहवीं उन्नीसवीं सदी में अवध के नवाबों की संरक्षा में मुहम्मद द्वारा संगीतशास्त्र सम्बद्ध शुद्ध बिलावल की व्याख्या की गयी जो हिन्दुस्तानी संगीत का आधार बनी। इस प्रकार अनेक संगीतकारों एवं संगीतशास्त्रियों द्वारा उर्दू में असाधारण ग्रन्थ रचना कर भारतीय संगीतकला को एक नवीन स्वरूप दिय गया तथा प्राचीन भारतीय संगीत के पुनरूद्धार के क्षेत्र में सफल प्रयास भी किये गये।

इन प्रमुख प्राचीन भारतीय कलाओं के माध्यम से भारत मे कलाओं के क्रमिक विकास को समझने का प्रयास किया गया। इसी श्रृंखला में काव्यकला, नाट्यकला, रंगमंच अभिनय आदि का भी विधिवत विकास दर्शनीय है। वैदिककालीन प्राचीन कलाओं में यथासमय परिवर्तन होते रहे। मध्यकालीन भारत में बाह्य आक्रान्ताओं के प्रभाव यहाँ के साहित्य तथा कलाओं पर भी स्पष्टतः द्रष्टव्य है। परिवर्तित एवं परिवर्धित होती संस्कृति, भाषा, सिद्धान्त आदि के फलस्वरूप भारत की कलाओं के स्वरूप एवं विकास यात्रा विविधता एवं व्यापकता का संचार हुआ जो संसार के किसी अन्य देश में नहीं प्राप्त होता है।

40. जैसा हमने पूर्व में रंगमंच की उत्पत्ति के संबंध में प्रचलित दैवीय उत्पत्ति और आधुनिक अवधारणा में जाना कि किस प्रकार मनुष्य के प्रागैतिहासिक सभ्यता के साथ-साथ कला के उद्‌भव के बीज तलाशे गए हैं। क्या रंगमंच अपने आदिम स्वरूप में ही एक स्वतंत्र कला के रूप में अस्तित्व में आया? संभवतः नहीं। रंगमंच अपने पूर्ण आकार में बहुत बाद में आया। अब प्रश्न यह उठता है कि फिर आदिकालीन रंगमंच का स्वरूप कैसा था? इसे वैज्ञानिक सोच के साथ जाना-समझा जा सकता है। इसे समझने के लिए एकमात्र आधार है- हमारी जनजातीय कलाएँ। जी हाँ, विश्व के विविध जनजातीय सभ्यताओं में प्रचलित नृत्य, संगीत और चित्रकलाओं के माध्यम से हम आदिकालीन रंगमंच की कल्पना कर सकते हैं। यहाँ हम कुछ विशेष बिंदुओं की चर्चा करने जा रहे हैं जिससे आप इस बात को समझ सकेंगे।

शिकार नृत्य

उस समय की कल्पना करिए जब आदि मानव गुफाओं में रहा करता था और अपनी भूख मिटाने के लिए गुफाओं से निकलकर शिकार करता था। शिकार के लिए उसने पत्थरों, लकड़ियों और जानवरों की हड्डियों से हथियार बनाए। इन हथियारों से वह आसानी से शिकार कर सकता था। धीरे-धीरे समय बीतता गया और अब वह गुफाओं से निकलकर समूह में रहने लगा। उसने जंगलों में अपनी झोपड़ी बनाई और परिवार के साथ रहने लगा। समूह का एक विशेष दल जो युवा था वह शिकार के लिए जाता और उसके द्वारा लाए गए शिकार से कबीले के वृद्ध और बच्चे अपनी भूख शांत करते। शिकार पर जाने के पूर्व वे विजय का अनुष्ठान करते। जानवरों की नजर से बचने के लिए वे उनकी 'खाल' व 'मुखौटों' का प्रयोग करते। बच्चों को शिकार में दक्ष बनाने और अपने मनोरंजन के लिए वे शिकार नृत्य करते। हमें भीमबेठका के शैल गुहा में कई ऐसे शैल चित्र मिलते हैं जो इस तथ्य को पुष्ट करते हैं। बस्तर आदि क्षेत्रों में आज भी प्रचलित शिकार नृत्य को देखा जा सकता है। संभव है इसी परिवेश में रंगमंच की अनायास उत्पत्ति हुई होगी जिसका स्वरूप नृत्यमूलक रहा होगा।

कल्पना कीजिए कि एक दिन शिकारी दल ने किसी विशालकाय जानवर का शिकार किया होगा। शिकार करते हुए कई शिकारी हताहत हुए होंगे। यह घटना आश्चर्यचकित कर देने वाली रही होगी। शिकारी दल उस जानवर को लेकर कबीले में आए होंगे। आग में उस जानवर को पकाते हुए जब सभी कबीले के लोग आग की रोशनी के इर्द-गिर्द बैठे रहे होंगे तब कबीले के किसी व्यक्ति ने जिज्ञासावश उस घटना के बारे में जानने की इच्छा व्यक्त की होगी। शिकारी दल के व्यक्ति ने उस घटना का अभिनय कर कबीले के सामने वह पूरी कहानी व्यक्त की होगी। एक व्यक्ति शिकारी बना होगा और दूसरा जानवर। इस तरह अभिनय कला ने जन्म लिया होगा। उत्साह में आकर कुछ व्यक्तियों ने लकड़ी, हड्डी, पत्थर आदि बजाकर ताल दिया होगा। अभिनेता बने शिकारी ने उस ताल पर नृत्य करते हुए अभिनय किया होगा। यह एक ऐसी अप्रत्याशित प्रदर्शन रहा होगा जिसने दर्शकों को रोमांचित कर दिया होगा।

अनुकरण

अरस्तू ने रंगमंच को 'आर्ट ऑफ इमिटेशन' कहा है। अनुकरण करना मानव स्वभाव का एक प्राकृतिक गुण है। जब मनुष्य जन्म लेता है तो वह अपने आसपास के वातावरण को देख-सुनकर सीखता है। आदिमानव ने भी अपने आसपास के वातावरण को देखा होगा, जानवरों का अनुकरण कर उनके जैसी हरकतें की होंगी। उसे इस कार्य में आनंद आया होगा। रंगमंच के आरंभ से जुड़ी हुई जिस 'शिकार' की कहानी का उल्लेख हमने ऊपर किया वह भी इसी अनुकरण की भावना से जन्मी थी।

धार्मिक भावना

जीवन के संघर्षों से जूझते हुए जब कभी मनुष्य आगे प्रगति की कामना करता है तब वह ईश्वर की ओर उन्मुख होता है। इसके साथ ही वह अपनी धार्मिक भावना को नृत्य, संगीत आदि के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। रंगमंच भी अनायास इस अभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम बनता है। आदिमानव ने भी इसी तरह प्राकृतिक शक्तियों के समक्ष अपना सिर नवाया। विजय की कामना, सुरक्षा की भावना, प्रकृति के क्रोध को शांत करने आदि के लिए अनुष्ठान का मार्ग अपनाया। पूजा नृत्य, बलि, जादू-टोना जैसे कर्मकाण्ड आदिम समाज में उपजें और उसे संपन्न कराने वाले पुरोहित अस्तित्व में आयें। अपने देवता को प्रसन्न करने के लिए इन धार्मिक अनुष्ठानों में समूह नृत्य भी किये जाने

लगे। यदि हम आदिवासी नृत्यों को देखें तो उसमें मिलने वाले 'बैगा' चरित्र इसी ओर संकेत करते हैं। कालांतर में यही भावना रंगमंच के लिए भी कथानक का आधार बनी।

कृषि

मानव सभ्यता विकसित हुई और इसी के साथ मनुष्य जंगलों से निकलकर मैदानों में आ गया। उसने कृषि कर फसलों का उत्पादन करना सीखा। जैसे–जैसे कृषि का महत्व उसके जीवन में बढ़ने लगा उसने उससे जुड़े हुए नृत्य, गीत उत्सवों का विकास किया। मौसमों के बदलने पर भी वह उत्सव मनाने लगा। फसलों को बोने व काटने के समय किये जाने नृत्य उत्सवों को आज भी हम लोक में देख सकते हैं। वास्तव में यह दौर लोक के उदय का था। आज भी हम इस उत्सवधर्मिता को देख सकते हैं। छत्तीसगढ़ में 'हरेली' और उड़ीसा में 'नुवाखाई' एक ऐसा ही उत्सव है जो फसलों के बोने व काटने के समय मनाया जाता है।

विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्

राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

(शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार के अंतर्गत एक स्वायत्त संस्थान)
ए-24-25, संस्थागत क्षेत्र, सेक्टर- 62, नोएडा - 201 309 (उत्तर प्रदेश)
वेबसाइट : www.nios.ac.in निर्मूल्य दूरभाष- 18001809393 आईएसओ 9001: 2008 प्रमाणित